योगसार

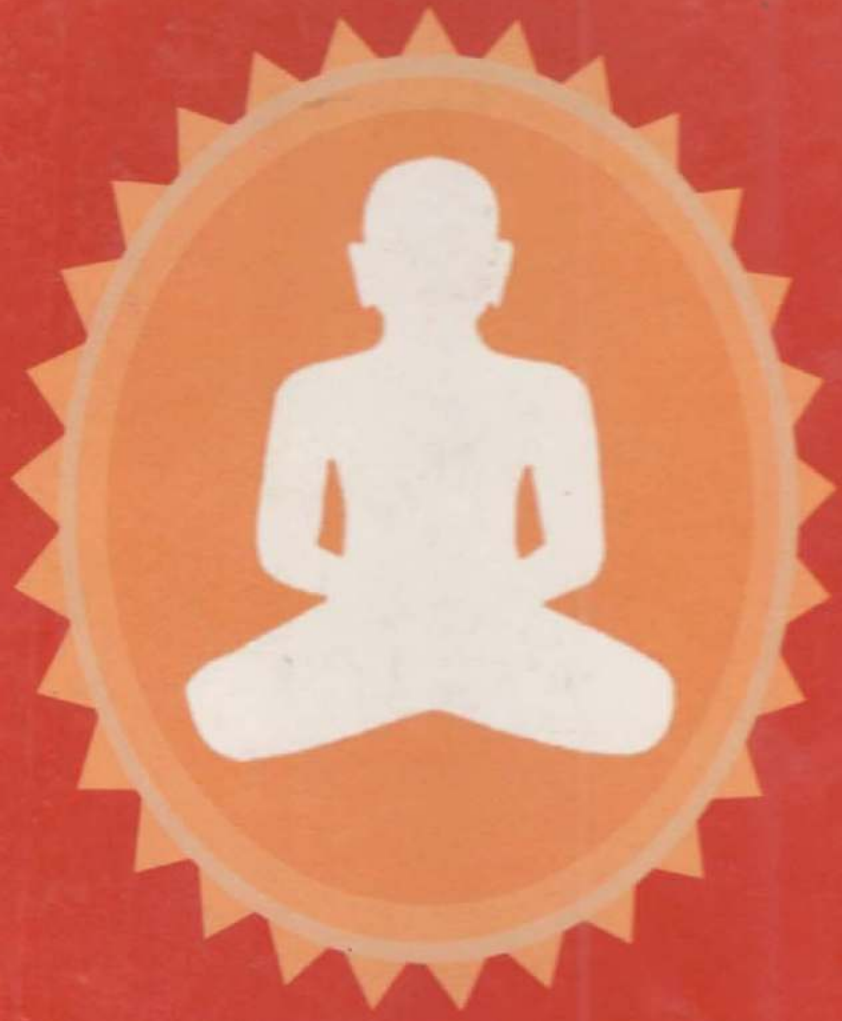

आचार्य योगीन्दुदेव प्रणीत

श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, मुंबई द्वारा प्रकाशित

श्रीमद् आचार्य योगीन्दुदेव विरचित

योगसार टीका

भाषा - टीकाकार
स्व. ब्र. श्री शीतलप्रसाद जी

संपादक
डॉ. उत्तमचन्द जैन, सिवनी

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द कहान दिगंबर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट
173/175 मुम्बादेवी रोड, मुम्बई

प्रथमावृत्ति - 3000 प्रतियाँ
(3 अगस्त 2008, सुमतिनाथ गर्भ कल्याणक दिवस)

मूल्य - 50/- लागत
25/- विक्रय

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्राप्ति स्थान -

1. **श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट**
   173/175 मुम्बादेवी रोड, मुम्बई - 400002
2. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**
   ए-४, बापूनगर जयपुर - 302015 (राज.)
3. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट**
   कहान नगर, लामरोड़, देवलाली - जि. नासिक (महाराष्ट्र)
4. **आत्मसाधना केन्द्र**
   नीलवाला रोड़, घेवरा मोड़, नई दिल्ली - 21

कम्प्यूटर टाईप सेटिंग एवं मुद्रण व्यवस्था -

मंगलम् मीडिया
गोलगंज- छिन्दवाड़ा (म.प्र.) 480001
फोन: 07162-245624, मो. 94243 74855

प्रकाशकीय

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई आरम्भ से अनेक पवित्र एवं महत्वपूर्ण योजनाओं को क्रियान्वित करता आ रहा है। उनमें कुछ प्रमुख योजनाएँ निम्नानुसार हैं -

तीर्थसुरक्षा एवं जीर्णोद्धार - उक्त तीर्थसुरक्षा पवित्र एवं प्राचीन दिगम्बर जैन संस्कृति के प्रतीक तीर्थों की सुरक्षा एवं विकास कार्यों के साथ दिगम्बर जिनमंदिरों के जीर्णोद्धार, नवीन जिनमंदिरों एवं स्वाध्याय भवनों के निर्माण कार्यों में सक्रीय सहयोग करता आ रहा है। ट्रस्ट अभी तक ३५ निर्माण कार्यों में आर्थिक सहयोग दे चुका है। वर्तमान में एक निर्माण कार्य हेतु अधिकतक डेढ़ लाख रूपये तक सहयोग राशि देने का प्रावधान है।

महाविद्यालय का संचालन - ट्रस्ट ने जुलाई १९७७ से श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धांत महाविद्यालय शुभारम्भ जयपुर में किया था, जिसका कुशल निर्देशन डॉ. पं. श्री हुकमचन्द जी भारिल्ल द्वारा होता रहा है। उक्त महाविद्यालय से लगभग ४५० शास्त्री, जैनदर्शन के चारों अनुयोग के अभ्यासी तैयार हो चुके हैं।

सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग - इसके अन्तर्गत ट्रस्ट द्वारा समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका भाग १, २, ३, नाटकसमयसार, पंचास्तिकाय संग्रह, इष्टोपदेश एवं समाधितंत्र, मोक्षमार्ग प्रकाशक का ब्र, श्री पं. हेमचन्दजी कृत अंग्रेजी अनुवाद इत्यादि महत्त्वपूर्ण प्रकाशन किये जा चुके है।

इसी श्रृंखला में परम आध्यात्मिक ग्रन्थ '**योगसार टीका**' जिसके रचियता आचार्य योगीन्दुदेव हैं तथा हिन्दी भाषा टीकाकार स्वर्गीय श्री ब्र. श्री शीतलप्रसादजी हैं, का प्रकाशन आपके हाथ में है। आशा है यह ग्रन्थ अध्यात्म रसिक मुमुक्षु समाज को अध्यात्मरसायन की तरह लाभदायक सिद्ध होगा।

आगामी प्रकाशन - इसके अतिरिक्त आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी प्रणीत '**समयसार**' जी परमागम की विशालकाय कृति प्रथमबार समाज के समक्ष लाने की तैयारी जारी है। इस एक ही कृति मे निम्नानुसार विपुल प्रमेय प्राप्त होगा- (1) प्राकृत गाथाएं (कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत) (2)

संस्कृत छाया (प्राकृत गाथाओं की) (3) हिन्दी पद्यानुवाद (प्राकृत गाथाओं का) (4) अन्वय अर्थ (5) आत्मख्याति कलश टीका (संस्कृत) आचार्य अमृतचन्द कृत (6) टीका का हिन्दी अर्थ (7) भावार्थ पं. जयचन्दजी कृत (8) तात्पर्यवृत्ति (संस्कृत टीका) आचार्य जयसेनकृत तथा (9) तात्पर्यवृत्ति का हिन्दी अनुवाद।

उक्त प्रकाशन विभाग आगे भी जिनवाणी के प्रचार प्रसार एवं प्रकाशन कार्य को करता रहेगा। इस प्रकार ट्रस्ट अपनी सभी योजनाओं के क्रियान्वयन द्वारा समाज सेवा हेतु कृत संकल्प है।

१९ जुलाई २००८, वीर शासन जयंती

भवदीय

समस्त पदाधिकारी एवं ट्रस्टीगण

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई

अध्यक्ष	उपाध्यक्ष	महामंत्री
बाबू युगल किशोर 'युगल'	ब्र. धन्यकुमार बेलोकर	बसंतलाल मूलचंद दोशी
	सुमन भाई रामजी दोशी	

सम्पादकीय

आचार्य योगीन्दुदेव विरचित 'योगसार' एक परम आध्यात्मिक ग्रंथ है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान- चारित्र की एकतारूप शुद्धात्मसाधना या शुद्धात्मयोग का सार भली भाँति प्रकट करने वाला होने से इसका **'योगसार'** नाम सार्थक है। इसमें १०८ प्राकृत (अपभ्रंश) दोहे हैं। आचार्य योगीन्दुदेव स्वयं ही ग्रंथारम्भ में लिखते है कि उन्होंने **संसार से भय रखनेवाले तथा मोक्ष की लालसा वाले मुमुक्षुओं के लिए आत्मस्वरूप समझाने के प्रयोजन से उक्त दोहों की रचना की है।**

ग्रन्थकार पर प्रकाश -

आचार्य योगीन्दुदेव, आचार्य कुन्दकुन्द की अध्यात्मपरम्परा के अत्यन्त विरक्त-चित्त आचार्य थे। वे अध्यात्म के अनुभवी, तलस्पर्शी वेत्ता थे। आचार्य कुन्दकुन्द की भांति आचार्य पूज्यपाद भी उनके प्रेरणास्रोत रहे हैं। उन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत जैसी विद्वद्- ग्राह्य भाषा के स्थान पर 'अपभ्रंश' जैसी लोकग्राह्य एवं जन- प्रचलित भाषा में ग्रंथ की रचना की है। इससे स्पष्ट है कि उनकी भावना जनसामान्य को आत्मबोध कराकर आत्महित में लगाने की थी।

नाम-

आपके योगीन्दुदेव के अतिरिक्त, जोइन्दु, जोगिचन्द, योगेन्द्र तथा योगीन्द्रचन्द्र नामों का उल्लेख मिलता है। अपभ्रंश के जोइन्दु का समानार्थी संस्कृत का योगीन्दु है। इन्हीं का पर्यायवाची जोगिचन्द्र है, किन्तु 'योगीन्द्रचन्द्र' तथा 'योगेन्द्र' दोनों ही नाम न तो पर्यायवाची है और न ही सही प्रतीत होते हैं।

रचनाएं -

आचार्य योगीन्दु की प्रसिद्ध कृतियाँ - परमात्मप्रकाश, योगसार एवं नौकार श्रावकाचार अपभ्रंश भाषा में तथा अध्यात्मसंदोह, सुभाषिततंत्र, एवं तत्त्वार्थटीका संस्कृत में प्राप्त है। इनके अतिरिक्त दोहापाहुड़ (अपभ्रंश), अमृताशीति (संस्कृत) तथा निजात्माष्टक (प्राकृत) - ये तीनों कृतियाँ भी आचार्य योगीन्दु के नाम पर प्रकाश में आई हैं, परन्तु इन तीनों के रचयिता उक्त

योगीन्दु ही हैं या कोई अन्य है - यह अभी तक सुनिर्णीत नहीं है।

योगसार का प्रतिपाद्य -

योगसार का प्रतिपाद्य-विषय परमात्मप्रकाश के समान ही है। प्रारंभ में सिद्धों तथा अर्हन्तों को नमस्कार करके, ग्रंथ रचना का उद्देश्य संसार से भयभीत मुमुक्षुओं को आत्मस्वरूप का बोध कराना बताया है, क्योंकि अनादिकाल से जीव मुख्यतः मिथ्यादर्शन के कारण दुखी होता रहा है, अतः यदि अब चतुर्गति के दुःखों से डर लगा हो तो समस्त परभावों को छोड़कर एकमात्र निजशुद्धात्मा का चिंतवन करना ही सच्चे मोक्षसुख का उपाय है। आत्मा की अवस्थाएं बहिरात्मा अंतरात्मा तथा परमात्मा हैं। बहिरात्मा देहादि पर को अपने रूप मानता हुआ संसार परिभ्रमण करता है तथा अन्तरात्मा स्व-पर के भेदज्ञान द्वारा उन्हें भिन्न मानकर मोक्षमार्ग में आरूढ़ होकर परमात्मा बन जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड़ में परमात्मा के जो नाम बताये हैं, लगभग उसीप्रकार नाम जोइन्दु ने भी योगसार में बताये हैं। इसी प्रकार निश्चय की मुख्यता से वर्णन करते हुए गाथा ४३ में वे लिखते हैं - **''देवालयों (मंदिरों) तथा तीर्थों में देव नहीं है, वास्तव में शरीररूप देवालय में निजचैतन्य देव विराजमान हैं।''**

एक स्थल पर आचार्य जोइन्दु लिखते हैं कि **तत्त्व को जाननेवाले विरले हैं, तत्त्व की बात को सुननेवाले भी विरले हैं, तत्त्व के यथार्थ ध्यानी भी विरले हैं तथा तत्त्व को धारण करनेवाले तो अति विरल हैं।** अन्यत्र उन्होंने पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत ध्यानों का भी उल्लेख किया है। आगे संयम के भेदों में सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि तथा सूक्ष्मसाम्पराय का स्वरूप दर्शाया है। पश्चात् अंत में लिखा है कि **''अनंतकाल में जितने सिद्ध हो चुके हैं, वर्तमान में जो सिद्ध हो रहे है तथा भविष्य में जितने सिद्ध होंगे, वे सभी आत्मदर्शन से ही हुए है, हो रहे है और होंगे।''** इस प्रकार योगसार ग्रन्थ का मूल प्रतिपाद्य विषय आत्मदर्शन है, अतः योगसार को समयसार का सार कहें तो अत्युक्ति एवं अनुचित नहीं है।

योगसार के हिन्दी टीकाकार -

स्वर्गीय ब्र. श्री शीतलप्रसाद जी **'योगसार'** के सफलतम हिन्दी टीकाकार हुए हैं। उनकी यह टीका विस्तृत, सरल, हृदयग्राही, रुचिकर, विद्वतापूर्ण, आगमानुकूल एवं अलौकिक है।

यह कृति अध्यात्मरस से सराबोर तो है ही, साथ ही तर्कपूर्ण, न्यायपूर्ण, आगमप्रमाणबहुल तथा सर्वजनोपयागी भी है। ब्रह्मचारी जी अनेक आगत तथा अध्यात्म ग्रन्थों के सफल टीकाकार एवं संपादक थे। समयसार के तो वे प्रमुख रसिक, तथा आपादकण्ठ जिनवाणी व समाजसेवा में संलग्न रहनेवाले, जिनागम रहस्यों के मर्मज्ञ, तत्त्ववेत्ता, शांतस्वभावी, करूणामूर्ति एवं बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होने सहजसुखसाधन, विद्यार्थी जैनधर्म शिक्षण आदि अनेक मौलिक रचनाएँ भी की थीं। उनकी प्रस्तुत **' योगसार टीका'** उनके व्यक्तित्व का अमर स्मारक रहेगी. जो युगों तक आत्मकल्याण के अभिलाषियों को सदा आकर्षित करती रहेगी।

योगसार की प्रकृत हिन्दी टीका :-

स्व, ब्र. श्री शीतलप्रसादजी कृत प्रस्तुत टीका में प्रत्येक दोहे का अन्वयार्थ तथा भावार्थ दिया है। भावार्थ में विषय का स्पष्टीकरण अत्यन्त विशद एवं सप्रमाण किया है, जिससे टीका में स्पष्टता एवं गंभीरता दोनों ही व्यक्त हुए हैं। ग्रन्थान्तरों की संख्या एवं प्रमाणों की प्रचुरता देखकर टीकाकार के बहुश्रुतज्ञपने की स्पष्ट झलक मिलती है। उन्होने जिन ग्रन्थों को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया है, उनके नाम इस प्रकार है :-

समयसार, समाधिशतक, सर्वार्थसिद्धि, स्वयंभूस्त्रोत्र, समवशरणस्तोत्र, समयसारकलश, सारसमुच्चय, सागारधर्मामृत, प्रवचनसार, परमात्मप्रकाश, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्मनन्दि पंचविंशतिका, तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थसार, तत्त्वानुशासन, तत्त्वसार, आत्मानुशासन, आत्मस्वरूप, अमृताशीति, दंसणपाहुड़, द्रव्यसंग्रह, मोक्षपाहुड़, महापुराण, भावपाहुड़, गोम्मटसार जीवकाण्ड, रत्नकरण्डश्रावकाचार, वृहत् सामायिक पाठ, धम्मरसायण तथा इष्टोपदेश।

उपरोक्त ग्रंथों के प्रमाण लगभग १८० स्थलों पर दिये गये हैं, जिन्हें ग्रन्थ के अंत में दी गई सूची में देखा जा सकता है। ये प्रमाण चारों अनुयोगों का प्रतिनिधित्व करनेवाले है। इस 'योगसार' ग्रन्थ की प्रकृत टीका चतुरनुयोग समन्वित एवं परम आध्यात्मिक है। इसमें अध्यात्म के रसायन का परिपाक प्रगट हुआ है।

प्रकाशन - प्रस्तुत ग्रन्थ की स्पष्ट, सरल, सुगम एवं विस्तृत टीका स्व. ब्र. शीतलप्रसाद जी ने ५०वर्ष पूर्व सन् १९३९ ई. में बनाई थी। तबसे इस टीका के प्रकाशन में काफी लम्बा अन्तराल

रहा। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन जैन मित्र कार्यालय, सूरत से हुआ था। तत्पश्चात् लगभग ४५ वर्ष बाद ब्र. बृजधरलाल गिरधरलाल शाह, वढवाण (गुजरात) निवासी ने इस टीका ग्रन्थ का गुजराती में अनुवाद करके स्व. सेठ श्री जीवणलाल दास के स्मरणार्थ अहमदाबाद में गोरधन सन् १९८४ में ५०० प्रतियाँ छपाई थी। उसके बाद टीका का मूल हिन्दी रूप में एक और प्रकाशन सन् १९८७ में 'मुसद्दीलाल जैन चैरीटेबल ट्रस्ट, दरियागंज, दिल्ली से ११०० प्रतियाँ निःशुल्क वितरणार्थ प्रकाशित किया गया। आज से लगभग १९ वर्ष पूर्व १९८९ ई. में श्री दि. जैन मुमुक्षुमण्डल स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सिवनी द्वारा ३००० प्रतियों में प्रकाशन किया गया था।

प्रस्तुत प्रकाशन उपरोक्त प्रकाशनों को ध्यान में रखकर ही किया जा रहा है। प्रथम तो इसमें गाथाओं का संशोधन श्रीमद् राजचन्द्र ग्रंथमाला अगास से प्रकाशित 'परमात्मप्रकाश एवं योगसार' के आधार पर किया है। दूसरे लंबे पैराग्राफों को ऊब से बचाने हेतु छोटा कर दिया गया है। तीसरे पूर्व प्रचलित क्लिष्ट शब्दों को वर्तमान प्रचलित शब्दों में रूपान्तर किया है, जैसे मटकन्ना की जगह मटका लिखा गया है। चौथे पूर्व प्रकाशनों में संदर्भित ग्रंथ एवं ग्रंथकारों के उल्लेखों में त्रुटियों थीं, उन्हें भी सुधारा गया है - जैसे देवसेन के नाम 'तत्त्वार्थसार ग्रन्थ' का उल्लेख हुआ था उसकी जगत 'तत्त्वसार' सुधार किया है। पाँचवे महत्त्वपूर्ण भावों को उभारने के लिए मोटे टाईप का प्रयोग किया गया है। इस सबके बाद भी त्रुटियाँ सम्भव हैं, पाठकगण उनसे अवश्य परिचित कराये। प्राप्त सुझावों का उपयोग आगामी संस्करणों में यथासंभव अवश्य किया जावेगा।

अंत में आचार्य योगीन्दुदेव के इन शब्दों का स्मरण करते हुए आशा करता हूँ कि यदि भव भय भीरू थोड़े भी मुमुक्षु आत्मा मिथ्याश्रद्धान एवं परभावों का त्यागकर आत्मचिंतन रूप मोक्षमार्ग के उपाय में लगेंगे तो इस ग्रन्थ का प्रकाशन सार्थक होगा। आचार्य श्री के मार्मिक शब्द इसप्रकार हैं -

जीव, काल, संसार ये, कहे अनादि- अनन्त
गहि मिथ्या श्रद्धान जिय, भ्रमे न सुक्ख लहन्त
जो चहुँगति दुख से डरे, तो तज सब परभाव
कर शुद्धातम चिंतवन, शिवसुख यही उपाव

नेहरू वार्ड, सिवनी (म. प्र.)
दिनांक : 31 जुलाई, 2008

डॉ. उत्तमचन्द जैन
प्राचार्य

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ
दोहा 1	सिद्धों को नमस्कार	१५
दोहा 2	अरहंत भगवान को नमस्कार	१७
दोहा 3	ग्रन्थ को कहने का निमित्त व प्रयोजन	२२
दोहा 4	संसार का कारण : मिथ्यादर्शन	२६
दोहा 5	मोक्ष का कारण : आत्मध्यान	३१
दोहा 6	आत्मा के तीन प्रकार	३५
दोहा 7	बहिरात्मा का स्वरूप	३९
दोहा 8	अन्तरात्मा का स्वरूप	४३
दोहा 9	परमात्मा का स्वरूप	४७
दोहा 10	बहिरात्मा पर को आप मानता है	५०
दोहा 11	ज्ञानी पर को आत्मा नहीं मानता है	५४
दोहा 12	आत्मज्ञानी ही निर्वाण पाता है	५७
दोहा 13	इच्छारहित तप ही निर्वाण का कारण है	६१
दोहा 14	परिणामों से ही बंध व मोक्ष होता है	६४
दोहा 15	पुण्यकर्म मोक्षसुख नहीं दे सकता	६८
दोहा 16	आत्मदर्शन ही मोक्ष का कारण है	७२
दोहा 17	मार्गणा व गुणस्थान आत्मा नहीं हैं	७५
दोहा 18	गृहस्थ भी मोक्षमार्ग पर चल सकता है	८६
दोहा 19	जिनेन्द्र का स्मरण परमपद का कारण है	९१

दोहा 20	अपनी-आत्मा में व जिनेन्द्र में भेद नहीं	९४
दोहा 21	आत्मा ही जिन है, यही सिद्धान्त का सार है	९८
दोहा 22	मैं ही परमात्मा हूँ	१००
दोहा 23	आत्मा असंख्यात प्रदेशी लोकप्रमाण है	१०२
दोहा 24	व्यवहार से आत्मा शरीरप्रमाण है	१०५
दोहा 25	सम्यक्त्व बिना ८४ लाख योनियों में भ्रमण	१०७
दोहा 26	शुद्ध आत्मा का मनन ही मोक्षमार्ग है	११०
दोहा 27	निर्मल आत्मा की भावना करके ही मोक्ष होगा	११२
दोहा 28	त्रिलोक पूज्य जिन आत्मा ही है	११४
दोहा 29	मिथ्यादृष्टि के व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं	११६
दोहा 30	व्रती को निर्मल आत्मा का अनुभव करना योग्य है	११७
दोहा 31	अकेला व्यवहार चारित्र वृथा है	१२०
दोहा 32	पुण्य- पाप दोनों संसार है	१२१
दोहा 33	निश्चय- चारित्र ही मोक्ष का कारण है	१२३
दोहा 34	आपसे आपको ध्याओ	१२५
दोहा 35	व्यवहार में नौ पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है	१२७
दोहा 36	सब पदार्थों में चेतनेवाला एक जीव ही है	१३०
दोहा 37	व्यवहार का मोह त्यागना जरूरी है	१३२
दोहा 38	जीव- अजीव का भेद जानो	१३४
दोहा 39	आत्मा केवलज्ञान स्वभावधारी है	१३६
दोहा 40	ज्ञानी को हर जगत आत्मा ही दिखता है	१३८
दोहा 41	अनात्मज्ञानी कुतीर्थों में भ्रमता है	१४०
दोहा 42	निजशरीर ही निश्चय से तीर्थ व मंदिर है	१४२
दोहा 43	देवालय में साक्षात् देव नहीं है	१४५
दोहा 44	समभाव से अपने देह में जिनदेव को देख	१४७
दोहा 45	ज्ञानी ही शरीर मंदिर में परमात्मा को देखता है	१४९

दोहा 46	धर्म रसायन को पीने से अमर होता है	१५१
दोहा 47	बाह्य क्रिया में धर्म नहीं है	१५४
दोहा 48	राग- द्वेष त्यागकर आत्मस्थ होना धर्म है	१५६
दोहा 49	आशा- तृष्णा ही संसार भ्रमण का कारण है	१५८
दोहा 50	आत्मप्रेमी ही निर्वाण का पात्र है	१६०
दोहा 51	शरीर को नरक घर जानो	१६२
दोहा 52	जगत प्रपंचों में उलझा प्राणी आत्मा को नहीं पहिचानता	१६४
दोहा 53	आत्मज्ञान बिना शास्त्रपाठ निष्फल है	१६६
दोहा 54	इन्द्रिय व मन के निरोध से सहज ही आत्मानुभव	१६९
दोहा 55	पुद्गल व जगत के व्यवहार से आत्मा को भिन्न जानो	१७०
दोहा 56	आत्मानुभवी ही संसार से मुक्त होता है	१७३
दोहा 57	आत्मा के ज्ञान के लिए नौ दृष्टान्त है	१७५
दोहा 58	देहादिरूप में नहीं हूँ - यही ज्ञान मोक्ष का बीज है	१७८
दोहा 59	आकाश के समान होकर भी मैं सचेतन हूँ	१८०
दोहा 60	अपने भीतर ही मोक्षमार्ग है	१८२
दोहा 61	निर्मोही होकर अपने अमूर्तिक आत्मा को देखे	१८४
दोहा 62	आत्मानुभव का फल केवलज्ञान व अविनाशी सुख है	१८६
दोहा 63	परभाव का त्याग संसार त्याग का कारण है	१८८
दोहा 64	त्यागी आत्मध्यानी महात्मा ही धन्य है	१९०
दोहा 65	गृहस्थ या मुनि दोनों के आत्मरमणता सिद्ध सुख का उपाय है	१९२
दोहा 66	तत्त्वज्ञानी विरले होते है	१९४
दोहा 67	कुटुम्ब मोह त्यागने योग्य है	१९७
दोहा 68	संसार में कोई अपना नहीं है	१९८
दोहा 69	जीव सदा अकेला है	२००
दोहा 70	निर्मोही हो आत्मा का ध्यान कर	२०२
दोहा 71	पुण्य को पाप जाने वही ज्ञानी है	२०४

दोहा 72	पुण्यकर्म सोने की बेड़ी है	२०६
दोहा 73	भाव- निर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्गी है	२०८
दोहा 74	देह में भगवान होता है	२१०
दोहा 75	आप ही जिन है- यह अनुभव मोक्ष का उपाय है	२१२
दोहा 76	आत्मा के गुणों की भावना करे	२१४
दोहा 77	दो को छोड़कर दो गुण विचारे	२१६
दोहा 78	तीन को छोड़कर तीन गुण विचारे	२१८
दोहा 79	चार को छोड़कर चार गुण विचारे	२२०
दोहा 80	पाँच के जोड़ों से रहित व दश गुण सहित आत्मा को ध्यावे	२२२
दोहा 81	आत्मरमण में तप त्यागादि सब कुछ है	२२४
दोहा 82	परभावों का त्याग सन्यास है	२२६
दोहा 83	रत्नत्रय धर्म ही उत्तम तीर्थ है	२२८
दोहा 84	रत्नत्रय का स्वरूप	२३०
दोहा 85	आत्मानुभव में सब गुण हैं	२३२
दोहा 86	एक आत्मा का ही मनन कर	२३४
दोहा 87	सहज स्वरूप में रमण कर	२३६
दोहा 88	सम्यग्दृष्टि सुगति पाता है	२३८
दोहा 89	सम्यग्दृष्टि का श्रेष्ठ कर्तव्य	२४०
दोहा 90	सम्यक्त्वी ही पंडित व प्रधान है	२४२
दोहा 91	आत्मा में स्थिरता संवर व निर्जरा का कारण है	२४४
दोहा 92	आत्मरसिक जीव कर्मों से नहीं बंधता	२४६
दोहा 93	समसुख भोगी निर्वाण का पात्र है	२४८
दोहा 94	आत्मा को पुरुषाकार ध्यावे	२५०
दोहा 95	आत्मज्ञानी ही सब शास्त्रों का ज्ञाता है	२५२
दोहा 96	परभाव का त्याग कार्यकारी है	२५४
दोहा 97	परम समाधि शिवसुख का कारण है	२५६

दोहा 98	आत्मध्यान के चार प्रकार	२५८
दोहा 99	सामायिक चारित्र	२६०
दोहा 100	राग- द्वेष का त्याग सामायिक है	२६२
दोहा 101	छेदोपस्थापना चारित्र	२६४
दोहा 102	परिहारविशुद्धि चारित्र	२६६
दोहा 103	यथाख्यात चारित्र	२६८
दोहा 104	आत्मा ही पंचपरमेष्ठी है	२७०
दोहा 105	आत्मा ही ब्रह्मा-विष्णु-महेश है	२७२
दोहा 106	परमात्मदेव अपने देह में भी है	२७४
दोहा 107	आत्मा का दर्शन ही सिद्ध होने का उपाय है	२७६
दोहा 108	ग्रन्थकर्त्ता की अन्तिम भावना	२७८
अन्तिम	टीकाकार की प्रशस्ति	२८१

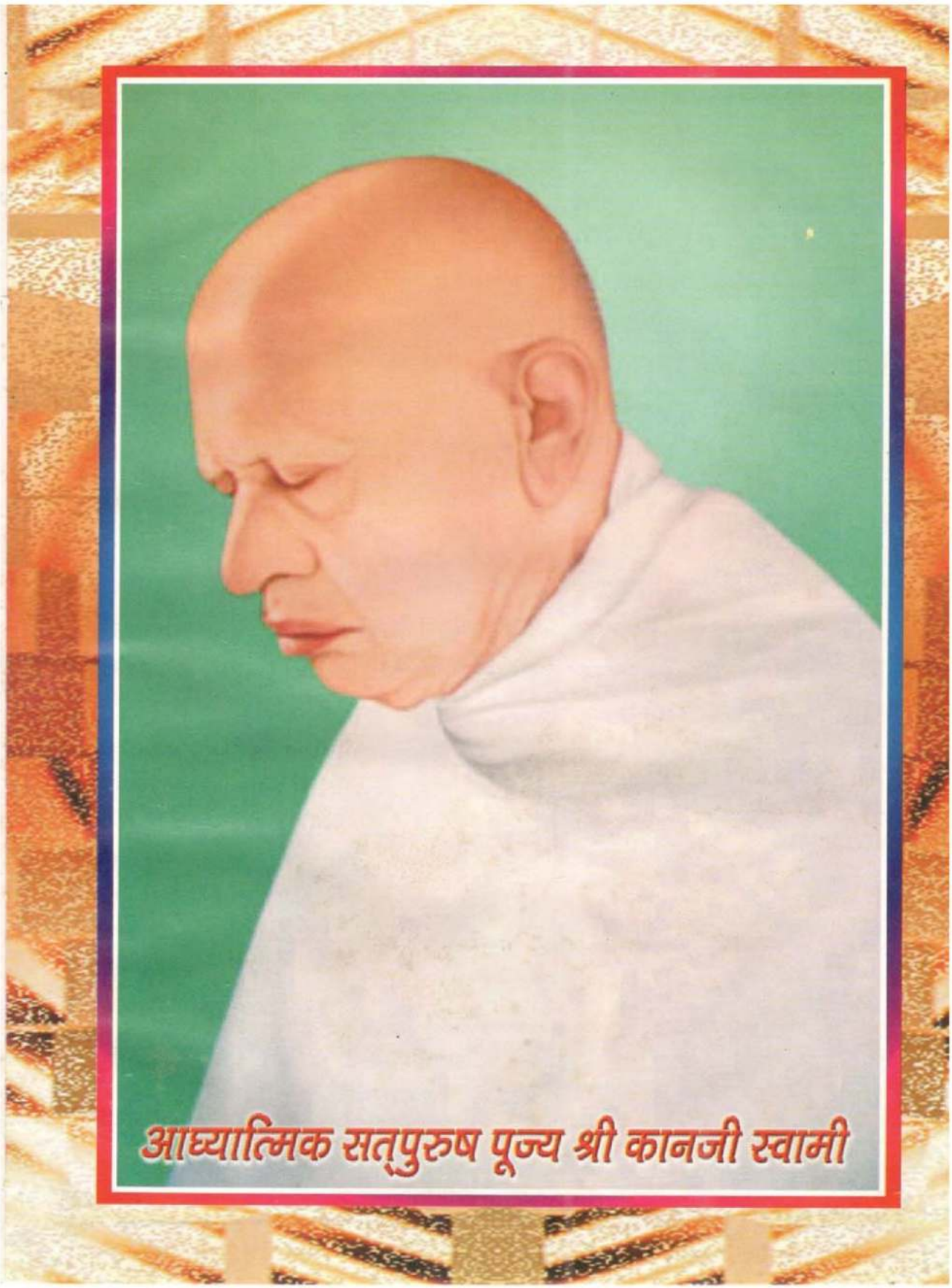

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी

॥ श्री सर्वज्ञ वीतरागाय नमः ॥

शास्त्र स्वाध्याय का प्रारंभिक मंगलाचरण

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥
अविरलशब्द-घनौघ-प्रक्षालित-सकलभूतलकलंकाः ।
मुनिभिरूपासित तीर्थाः सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥
अज्ञान-तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जन-शलाकया ।
चक्षुरून्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥
॥ श्री परमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री योगसार नामधेयं, अस्य मूल ग्रन्थकर्त्तारः श्री सर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्त्तारः श्री गणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्य श्री योगीन्दुदेवविरचितः। श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ॥

मंगलं भगवानवीरो, मंगल गौतमोगणी ।
मगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं, सर्वकल्याणकारकं ।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतुशासनम् ॥

श्रीमद् आचार्य योगीन्दुदेव विरचित

योगसार टीका

।। दोहा ।।

ज्ञान दर्श सुख वीर्यमय, परमातम सशरीर ।
अर्हत् वक्ता आप्त नमि, पहुचूँ भवदधितीर ।।१।।
सिद्ध शुद्ध अशरीर प्रभु, वीतराग विज्ञान ।
नित्य मगन निज रूप में, वंदहुँ सुख की खान ।।२।।
आचारज मुनिराजवर, दीक्षा शिक्षा देत ।
शिवमगनेता शांतिमय, वंदहुँ भाव समेत ।।३।।
श्रुतधर गुणधर धर्मधर, उपाध्याय हत भार ।
ज्ञान दान कर्तार मुनि, नमहुँ समामृतधार ।।४।।
साधत निज आतम सदा, लीन ध्यान में धीर ।
साधु अमंगल दूर कर, हरहु सकल भव पीर ।।५।।
जिनवाणी सुखदायनी, सारतत्त्व की खान ।
पढ़त धारणा करत ही, होय पाप की हान ।।६।।
योगिचन्द्र मुनिराज कृत, योगसार सत् ग्रन्थ ।
भाषा मैं टीका लिखूँ, चलूँ स्वानुभव पन्थ ।।७।।

(ब्र. सीतलप्रसाद जैन, दिनांक १३-२-३९)

दोहा १

सिद्धों को नमस्कार

णिम्मलझाणपरिट्ठिया कम्मकलंक डहेवि ।
अप्पा लद्धउ जेण परू ते परमप्प णवेवि ।।

अन्वयार्थ - (जेण) जिन्होंने **(णिम्मलझाणपरिट्ठिया)** शुद्ध ध्यान में स्थित होते हुए **(कम्मकलंक डहेवि)** कर्मों के मल को जला डाला है **(परूअप्पा लद्धउ)** तथा उत्कृष्ट परमात्म पद को पा लिया है **(ते परमप्प णवेवि)** उन सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ- यहाँ ग्रन्थकर्ता ने मंगलाचरण करते हुए सर्व सिद्धों को नमस्कार किया है। सिद्धपद शुद्ध आत्मा का पद है। वहाँ आत्मा अपने ही निज स्वभाव में सदा मगन रहता है। आत्मा शुद्ध आकाश के समान निर्मल रहता है। आत्मद्रव्य गुणों का अभेद समूह है। सर्व ही गुण वहाँ पूर्ण प्रकाशित रहते हैं। सिद्ध भगवान पूर्ण ज्ञानी हैं, परम वीतराग हैं, अतीन्द्रिय सुख के सागर हैं, अनन्त वीर्यधारी हैं, जड़संग रहित अमूर्तीक हैं, सर्व कर्म मल रहित निर्मल है। अपनी ही स्वाभाविक परिणति के कर्ता हैं, परमानन्द के भोक्ता हैं, परम कृतकृत्य हैं। सर्व इच्छाओं से शून्य हैं, किञ्चित् न्यून पुरुषाकार हैं, जिस शरीर से सिद्ध हुये हैं उस शरीर में जैसा आत्मा का आकार था वैसा ही आकार बिना संकोच-विस्तार के सिद्ध पद में रहता है। प्रदेशों के माप से असंख्यात प्रदेशी हैं। सिद्ध को ही परमेश्वर, शिव, परमात्मा, परमदेव कहते हैं। वे एकाकी आत्मरूप हैं, जैसा मूल में आत्मद्रव्य हैं, वैसा ही सिद्ध स्वरूप है। सिद्ध परमात्मा अनेक हैं।

जो संसारी आत्मा शुद्ध आत्मा का अनुभवपूर्वक ध्यान करता है, मुनिपद में अन्तर बाहर निर्ग्रन्थ होकर पहले धर्मध्यान फिर शुक्ल-ध्यान को ध्याता है। वह शुक्लध्यान के प्रताप से पहले अरहंत होता है, फिर सर्व कर्ममल जलाकर सिद्ध होता है। ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्र में जाकर सिद्ध आत्मा ठहरता है। धर्मद्रव्य के बिना आलोकाकाश में गमन नहीं होता है। सर्व ही उस सिद्धक्षेत्र में अपनी- अपनी सत्ता को भिन्न- भिन्न रखते हैं। सर्व ही अपने - अपने आनन्द में मगन हैं। वे पूर्ण वीतराग हैं। इससे वे फिर कभी कर्मबंध से बँधते नहीं। इसलिए वे फिर

संसार अवस्था में कभी आते नहीं। वे सर्व संसार के क्लेशों से मुक्त रहते हैं। वे ही निर्वाण प्राप्त हैं। **सिद्धों के समान जो कोई मुमुक्षु अपने आत्मा को निश्चय से शुद्ध आत्मद्रव्य मानकर व राग द्वेष त्यागकर, उसी निजस्वरूप में मगन हो जाता है, वही एक दिन शुद्ध (सिद्ध) हो जाता है।**

ग्रन्थकर्ता ने सिद्धों को सबसे पहले इसीलिए नमस्कार किया है कि भावों में सिद्धसमान आत्मबल आ जावे। परिणाम शुद्ध व वीतराग हो जावें। शुद्धोपयोग मिश्रित शुभभाव हो जावे, जिससे विघ्नकारक कर्मों का नाश हो व सहायकारी पुण्य का बन्ध हो। मङ्गल उसे ही कहते हैं जिससे पाप गले व पुण्य का लाभ हो। मङ्गलाचरण करने से शुद्ध आत्मा की विनय होती है। उद्धतता व मान का त्याग होता है। परिणाम कोमल होते हैं। शांति व सुख का झलकाव होता है। **यह आध्यात्मिक ग्रन्थ है** - आत्मा को साक्षात् सामने दिखानेवाला है। शरीर के भीतर बैठे हुए परमात्मदेव का दर्शन करानेवाला है। इसलिए ग्रन्थकर्ता ने सिद्धों को ही पहले स्मरण किया है। इससे झलकाया है कि सिद्ध पद को पाने का ही उद्देश्य है। ग्रन्थ लिखने से और किसी फल की वांछा नहीं है। सिद्धपद का लक्ष्य ही सिद्धपद पर पहुँचा देता है।

परम योगीश्वर **श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव** ने भी **समयसार** ग्रन्थ के आदि में सिद्धों को ही नमस्कार किया है। वे कहते हैं:-

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयापाहुडमिणमो सुदकेवली भणिदं॥१॥

भावार्थ- नित्य, (अचल), शुद्ध, अनुपम, सिद्धगति को प्राप्त, सर्व सिद्धों को नमन करके मैं श्रुतकेवली कथित समयप्राभृत को कहूँगा।

श्री योगीन्द्रचन्द्राचार्य ने परमात्मप्रकाश ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए इसी तरह पहले सिद्धों को ही नमन किया है:-

जे जाया झाणग्गियए कम्मकलंक डहेवि।
णिच्च णिरंजण णाणमय ते परमप्प णवेवि॥१॥

भावार्थ- जो ध्यान की आग्नि से कर्म- कलंक को जलाकर नित्य, निरञ्जन तथा ज्ञानमय हो गये हैं, उन सिद्ध परमात्माओं को मैं नमन करता हूँ।

श्री पूज्यपादस्वामी ने भी **समाधिशतक** प्रारम्भ करते हुए पहले सिद्ध महाराज (भगवान)

को ही नमन किया है:-

येनात्मा बुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ।।१।।

भावार्थ- जिसने अपने आत्मा को आत्मारूप व परपदार्थ को पररूप जाना है तथा इस भेदविज्ञान से अक्षय व अनन्त केवलज्ञान का लाभ किया है। उन सिद्ध परमात्मा को नमस्कार हो।

श्री देवसेनाचार्य ने भी **तत्त्वसार** को प्रारंभ करते हुए सिद्धों को ही नमस्कार किया है:-

झाणग्गिदड्ढकम्मे णिम्मलविसुद्धलसब्भावे ।
णमिऊण परमसिद्धे सु तच्चसारं पवोच्छामि ।।१।।

भावार्थ- ध्यान की अग्नि से कर्मों को जलानेवाले व निर्मल शुद्ध निज स्वभाव को प्राप्त करने वाले सिद्ध परमात्माओं को नमन करके तत्त्वसार को कहूँगा।

श्री पूज्यपादस्वामी ने **इष्टोपदेश** की आदि में ऐसा ही किया है:-

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः ।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ।।१।।

भावार्थ- सर्व कर्मों को क्षय करके जिसने स्वयं अपने स्वभाव का प्रकाश किया है, उस सम्यग्ज्ञान स्वरूप सिद्ध परमात्मा को नमन हो। नमस्कार के दो भेद हैं- भाव नमस्कार, द्रव्य नमस्कार। जिसको नमस्कार किया जावे, उसके गुणों को भावों में प्रेम से धारण करना भाव नमस्कार है। वचनों से व काय से उस भीतरी भाव का प्रकाश करना द्रव्य नमस्कार है। भावसहित द्रव्य नमस्कार कार्यकारी है।

दोहा २

अरहंत भगवान को नमस्कार

घाइचउक्कहँ किउ विलउ णंतचउक्कपदिट्ठु ।
तहिं जिणइंदहँ पय णविवि अक्खमि कव्वु सुइट्ठु ।।

अन्वायार्थ- **(घाइचउक्कहं विलउ किउ)** जिसने चार घातिया कर्मों का क्षय किया है **(णंतचउक्कपदिट्ठु)** तथा अनन्तचतुष्टय का लाभ किया है **(तहिं जिणइंदहं पय)** उस जिनेन्द्र के पदों को **(णविवि)** नमस्कार करके **(सुइट्ठुकव्वु)** सुन्दर प्रिय काव्य को **(अक्खमि)**

कहता हूँ।

भावार्थ- अरहंत पदधारी तेरहवें गुणस्थान में सयोग व चौदहवें में अयोग केवली जिनेन्द्र होते हैं।

जब यह अज्ञानी जीव तत्त्वज्ञान का मनन करके मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति तीनों दर्शनमोहनीय कर्मों तथा चार अनन्तानुबन्धी कषायों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय कर देता है। तब चौथे सम्यक्त्व गुणस्थान को प्राप्त हो जिन कहलाता है, क्योंकि उसने संसारभ्रमण के कारण मिथ्यात्व को, मिथ्यात्व सहित राग-द्वेष विकार को जीत लिया है, उसका उद्देश्य पलट गया है। वह संसार से वैराग्यवान व मोक्ष का परमप्रेमी हो गया है। उसके भीतर निर्वाणपद लाभ की तीव्र रूचि पैदा हो गई है।

क्षायिक सम्यक्त्वी जीव श्रावक या एकदम मुनि होकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक धर्मध्यान का अभ्यास पूर्ण करता है। फिर क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर दसवें सूक्ष्ममोह गुणस्थान के अन्त में चारित्र मोहनीय का सर्व प्रकार का क्षय करके बारहवें गुणस्थान में **क्षीणमोह** जिन हो जाता है।

चौथे से बारहवें गुणस्थान तक जिन संज्ञा है, फिर बारहवें के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय तीन शेष घातिया कर्मों का क्षय करके अरहंत सयोग केवली हो, तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त होते हैं, तब वे जिनेन्द्र कहलाते हैं। यहाँ चारों घातिया कर्मों का अभाव है। उनके अभाव से अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्तभोग, अनन्तउपभोग, अनन्तवीर्य, क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक चारित्र - ये नौ केवल लब्धियाँ तथा अनन्तसुख प्राप्त हो जाते हैं। इन दश को चार अनन्त चतुष्टय में गर्भित करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य व अनन्तसुख को यहाँ प्राप्त करना कहा है। सम्यक्त्व व चारित्र को सुख में गर्भित किया है, क्योंकि उनके बिना सुख नहीं होता है तथा अनन्तदानादि पांच को अनन्तवीर्य में गर्भित किया है, क्योंकि वे उसी की परिणतियां (पर्यायें) हैं।

इस तरह अनन्त चतुष्टय में दशों गुण गर्भित हैं। सयोग केवली अवस्था में अरहंत धर्मोपदेश करते हैं। उनकी दिव्यवाणी का अद्भुत प्रकाश होता है, जिसका भाव सर्व ही उपस्थित देव, मानव व पशु समझ लेते हैं। सबका भाव निर्मल, आनन्दमय व संतोषी हो जाता है।

उसी वाणी को धारणा में लेकर चार ज्ञानधारी गणधर मुनि आचारांग आदि द्वादश अंगों में

गूँथते हैं। उन द्वादशांग वाणी को परम्परा सेअन्य आचार्य समझते हैं। अपनी बुद्धि के अनुसार धारणा में रखकर दिव्यवाणी के अनुसार अन्य ग्रन्थों की रचना करते हैं। उन ग्रन्थों से ही सत्य का जगत में प्रचार होता है।

सिद्धों के स्वरूप का ज्ञान व धर्म के सर्व भेदों का ज्ञान जिनवाणी से ही होता है। जिसके मूल वक्ता तीर्थंकर अरहंत हैं। अतएव परमोपकारी समझकर अनादि मूल मंत्र णमोकार मंत्र में पहले अरहंतों को नमस्कार किया है, फिर सिद्धों को नमन किया है। अरहंत पदधारी तीर्थंकर व सामान्य केवली दोनों ही होते हैं। तीर्थंकर नामकर्म एक विशेष पुण्यप्रकृति है। जो महात्मा दर्शनविशुद्धि आदि षोडशकारण भावनाओं को उत्तम प्रकार से ध्यायकर तीर्थंकर नामकर्म बाँधते हैं, वे ही तीर्थंकर केवली होते हैं। ऐसे तीर्थंकर परिमित ही होते हैं। भरत व ऐरावत क्षेत्रों में हर एक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी काल में चौबीस चौबीस होते हैं। विदेहों में सदा ही होते रहते हैं। **वहाँ कम से कम बीस व अधिक से अधिक एक सौ साठ होते हैं।** भरत व ऐरावत के तीर्थंकर के तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण पाँचों कल्याणक उत्सव इन्द्रादि देव करते हैं, क्योंकि वे पहले ही तीर्थंकर कर्म बाँधते हैं पश्चात् गर्भ में आते हैं। **विदेहों में कोई-कोई महात्मा श्रावक पद में, कोई कोई साधु पद में तीर्थंकर कर्म बांधते हैं। इसलिए वहाँ किन्हीं के तप, ज्ञान, निर्वाण तीन व किन्हीं के ज्ञान, निर्वाण दो ही कल्याणक होते हैं।**

तीर्थंकरों के विशेष पुण्यकर्म का विपाक होता है। इससे समवसरण की विशाल रचना होती है। श्री मण्डप में भगवान की गंधकुटी के चारों तरफ बारह सभाएं भिन्न-भिन्न लगती हैं। उनमें कम से कम बारह प्रकार के प्राणी नियम से बैठते हैं।

समवसरण स्तोत्र में विष्णुसेन मुनि कहते हैं:-

ऋषिकल्पजवनितार्याज्योतिर्वनभवनयुवतिभावनजाः।
ज्योतिष्ककल्पदेवा नरतिर्यंचो वसंति तेष्वनुपूर्वम् ॥१९॥

भावार्थ- उन बारह सभाओं में क्रम से १. ऋषिगण, २. स्वर्गवासी देवी, ३. आर्यिका साध्वी, ४. ज्योतिषियों की देवी, ५. व्यंतरदेवियां, ६. भवनवासी देवियाँ, ७. भवनवासी देव, ८. व्यंतर देव, ९. ज्योतिषी देव, १०. स्वर्गवासी देव, ११. मनुष्य, १२. तिर्यंच बैठते हैं। इससे सिद्ध है कि आर्यिकाओं की सभा अन्य श्राविकाओं से भिन्न होती है। उनकी मुद्रा श्वेत वस्त्र व पीछी कमण्डलु सहित निराली होती है। शेष सर्व श्राविकाएँ व अन्य स्त्रियाँ ग्यारहवें मनुष्य के

कोठे में बैठती हैं। साधारण सर्व स्त्री पुरुष मनुष्य कोठे में व सर्व तिर्यंचनी व तिर्यंच पशुओं में बैठते हैं।

सामान्य केवलियों के केवल गंधकुटी होती है। सर्व ही अरहंतों के अठारह दोष नहीं होते हैं, व शरीर परमौदारिक, सात धातु रहित, स्फटिक के समान निर्मल हो जाता है जिसकी पुष्टि योग बल से स्वयं आकर्षित विशेष आहारक वर्गणाओं से होती है। भिक्षा से ग्रास रूपी भोजन करने की आवश्यकता नहीं होती है। जैसे वृक्षों की पुष्टि लेपाहार से होती है जैसे मिट्टी पानी को आकर्षित करती है, वैसे योगबल से पुष्टिकारक स्कन्ध अरहंत के शरीर में प्रवेश करते हैं। उनके शरीर की छाया नहीं पड़ती है, नख व केश नहीं बढ़ते हैं।

आप्तस्वरूप में कहा है:-

नष्टं छद्मस्थविज्ञानं नष्टं केशादिवर्धनम् ।
नष्टं देहमलं कृत्स्नं नष्टे घातिचतुष्टये ॥८॥
नष्टं मर्यादविज्ञानं नष्टं मानसगोचरम् ।
नष्टं कर्ममलं दुष्टं नष्टो वर्णात्मको ध्वनिः ॥९॥
नष्टं क्षुत्तृड्भयस्वेदा नष्टं प्रत्येकबोधनम् ।
नष्टं भूमिगतस्पर्शं नष्टं चेन्द्रियजं सुखम् ॥१०॥
नष्टा सदेहजा छाया नष्टा चेन्द्रियजा प्रभा ।
नष्टा सूर्यप्रभा तत्र सूतेऽनन्तचतुष्टये ॥११॥
तदा स्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः ।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम् ॥१२॥
क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् ।
जरा रूजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रतिः ॥१५॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः ।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥१६॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ।
विद्यन्ते येषु ते नित्यं तेऽत्रसंसारिणः स्मृताः ॥१७॥

भावार्थ- ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्मों के क्षय हो जाने पर अल्पज्ञानी का सा ज्ञान नहीं

रहता। केश नखादि नहीं बढ़ते। शरीर का सर्व मल दूर हो जाता है। ज्ञान मर्यादा रूप नहीं होकर अमर्यादारूप अनन्त हो जाता है। मन का संकल्प- विकल्प नहीं होता है। दुष्ट कर्ममल नाश हो जाता है। अक्षरमय वाणी नहीं होती है, मेघ की गर्जना के समान निरक्षरी ध्वनि निकलती है। भूख, प्यास, भय, पसीना, नहीं होता है। हर एक प्राणी को समझाने की क्रिया नहीं होती है। साधारण ध्वनि निकलती है। भूमि का स्पर्श नहीं होता है, इन्द्रिय जनित सुख भी नहीं रहता है, अतीन्द्रिय स्वाधीन सुख होता है। शरीर की छाया नहीं पड़ती है। वहां अनन्तचतुष्टय प्रकट होते हैं, तब स्फटिक के समान तेजस्वी शरीर की मूर्ति हो जाती है। सात धातुएं नहीं रहती हैं। दोषों का क्षय हो जाता है। १. भूख, २. प्यास, ३. भय, ४. राग,५. द्वेष, ६. मोह, ७. चिन्ता, ८. जरा, ९. रोग, १०. मरण, ११. पसीना, १२. खेद, १३. मद, १४. रति, १५. आश्चर्य, १६. जन्म, १७. निद्रा एवं १८. विषाद- ये अठारह दोष तीन जगत के प्राणियों में साधारण पाए जाते हैं। जिनमें ये दोष होते हैं, उनको संसारी प्राणी कहते हैं। जो इन दोषों से रहित हैं, वही निरञ्जन आप्त अरहंत होता है।

समवसरण स्तोत्र में 'उक्तं च' गाथा है:-

पुव्वह्णे मज्झह्णे अवह्णे मज्झिमाय रत्तीए।
छहछहघड़ियाणिग्गयदिवज्झुण्णी कहइ सुत्तथे ॥१॥

भावार्थ- समवशरण में श्री तीर्थंकर भगवान की दिव्य वाणी सबेरे, दोपहर, सांझ, मध्य रात्रि इस तरह चार बार छह छह घड़ी तक सूत्रार्थ को प्रगट करती हुई निकलती है।

तेरहवें गुणस्थान को सर्वांग इसलिए कहते हैं कि वहां योगशक्ति का परिणमन होता है, जिसमें कर्म नोकर्मवर्गणाओं का ग्रहण होता है, आत्मा के प्रदेश चंचल होते हैं। इस चंचलता के निमित्त सात प्रकार के योग होते हैं:- १. सत्य मनोयोग, २. अनुभय मनोयोग, ३. सत्य वचनयोग, ४. अनुभव वचनयोग, ५. औदारिक काययोग, ६. केवली समुद्घात में ही होने वाले औदारिक मिश्र काययोग और ७. कार्मणयोग। भाव मन का काम नहीं होता है, क्योंकि श्रुतज्ञान, चिन्ता व तर्क का कोई काम नहीं रहता है। मनोवर्गणा का ग्रहण होने पर द्रव्य मन में परिणमन होता है। इसी अपेक्षा मनोयोग कहा है। वाणी खिरती है, विहार होता है। केवलीसमुद्घात में लोकाकाश प्रमाण आत्मप्रदेश फैलते हैं। यह तेरहवां गुणस्थान आयुपर्यंत रहता है। जब इतना काल आयु में शेष रहता है, जितना काल अ, इ, उ, ऋ, ऌ - इन पाँच लघु अक्षरों के बोलने में लगता है, तब

अयोग केवली जिन हो जाते हैं। अन्त के दो समय में चार अघातीय कर्मों की ८५ प्रकृतियों का क्षय करके सिद्ध व अशरीरी होकर सिद्ध क्षेत्र में जाकर विराजते हैं। तेरहवें गुणस्थान में १४८ कर्मप्रकृतियों में से ६३ कर्मप्रकृतियों का नाश हो चुकता हैं। वे ६३ हैं उनमें ४७ घातीया तथा १६ अघातियां कर्म की प्रकृतियां होती है। ४७ घातिया में ५ ज्ञानावरणी, ९ दर्शनावरणी, २८ मोहनीय तथा ५ अन्तराय तथा १६ अघातिया में - नरक तिर्यंच देवायु ३, नरकगति, नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एक, दो, तीन, चार इन्द्रियजाति ४, उद्योत, आतप, साधारण, सूक्ष्म तथा स्थावर शामिल है।

इस प्रकार ग्रन्थकर्ता ने अपने शास्त्रज्ञान के मूल स्त्रोत रूप अरहंत भगवान् को परोपकारी जानकर नमस्कार किया है। अब ग्रन्थ को कहने की प्रतिज्ञा की है -

दोहा ३

ग्रन्थ को कहने का निमित्त व प्रयोजन

संसारहँ भयभीयाहं मोक्खहँ लालसियाहँ ।
अप्पासंबोहणकयइ कय दोहा एक्कमणाहं ।।

अन्वयार्थ- **(संसारहँ भयभीयाहं)** संसार का भय रखनेवालों के लिये व **(मोक्खहँ लालसियाहँ)** मोक्ष की लालसा धारण करनेवालों के लिए **(अप्पासंबोहणकयइ)** आत्मा का स्वरूप समझाने के प्रयोजन से **(एक्कमणाहं)** एकाग्र मन से **(दोहा कय)** दोहों की रचना की है।

भावार्थ- जिसमें अनादि काल से चार गतियों में संसरण या भ्रमण जीवों का हो रहा हो, उसको संसार कहते हैं। चारों गतियों में क्लेश व चिन्ताएँ रहती हैं, शारीरिक व मानसिक दुःख जीव को कर्मों के उदय से भोगने पड़ते हैं। जन्म व मरण का महान क्लेश तो चारों गतियों में है।

नरकगति में आगम के प्रमाण से तीव्र शारीरिक व मानसिक दुःख जीव को बहुत काल सहने पड़ते हैं। वहाँ दिन रात मारकाट रहती है। नारकी, परस्पर नाना प्रकार शरीर की अपृथक् विक्रिया से पशु रूप व शस्त्रादि बनाकर दुःख देते हैं व सहते हैं। तीसरे नरक तक संक्लेश परिणामों के धारी असुरकुमार देव भी उनको लड़ाकर क्लेश पहुँचाते हैं। वैक्रियक शरीर होता है, पारे के समान गलकर फिर बन जाता है। तीव्र भूख- प्यास की वेदना सहनी पड़ती है। नारकी

नरक के भीतर रत नहीं होते हैं, इसलिए वे स्थान नरत व नरक कहलाते हैं।

तिर्यंचगति में एकेन्द्रिय स्थावर - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि प्राणियों को पराधीनपने व निर्बलता से घोर कष्ट सहने पड़ते हैं। मानव पशुगण सर्व ही उनका व्यवहार करते हैं। वे बार बार जन्मते मरते हैं। द्वीन्द्रिय लट आदि, ते - इन्द्रिय चींटी खटमल आदि, चौ इन्द्रिय मक्खी पतंगे आदि- ये तीन प्रकार विकलत्रय महान कष्ट में जीवन बिताते हैं। मानवों व पशुओं के वर्तन (कार्यों) से उनका बहुधा मरण होता रहता है। पंचेन्द्रिय पशु- थलचर गाय, भैंसादि, जलचर मच्छ, कछुवादि, नभचर कबूतर, मोर, काकादि व सर्पादि पशु कितने कष्ट से जीवन बिताते हैं सो प्रत्यक्ष प्रकट है। मानवों के अत्याचारों से अनेक पशु मारे जाते हैं। भार वहन, गर्मी, भूख, प्यास, परस्पर वैर-विरोध के घोर कष्ट सहते हैं।

मनुष्यगति में इष्ट वियोग, अनिष्ट, संयोग, रोग, दारिद्र, अपमानादि के घोर शारीरिक व मानसिक कष्ट सहने पड़ते हैं, सो सबको प्रत्यक्ष ही है।

देवगति में मानसिक कष्ट अपार हैं। छोटे देव बड़ों की विभूति देखकर कुढ़ते हैं। देवियों की आयु थोड़ी होती है। देवों की बड़ी आयु होती है, इसलिए देवियों के वियोग का बड़ा कष्ट होता है। मरण निकट आने पर अज्ञानी देवों को भारी दुःख होता है।

इसतरह चारोंगतियों में दुःख ही दुःख विशेष है। संसार में सबसे बड़ा दुःख तृष्णा का है। इन्द्रियों के भोगों की लालसा, भोगों के मिलने पर भी बढ़ती ही जाती है। इस चाह की दाह से सर्व ही अज्ञानी संसारी प्राणी दिन- रात जलते रहते हैं। जब शरीर जराग्रस्त व असमर्थ हो जाता है, तब भोगों को भोगने की शक्ति नहीं रहती है, किन्तु तृष्णा बढ़ी हुई होती है, इच्छित भोगों के न मिलने से घोर कष्ट होता है। इष्ट पदार्थों के छूटने पर महती वेदना होती है।

मिथ्यादृष्टि संसारासक्त प्राणियों को संसार-भ्रमण में दुःख ही दुःख होता है। जब कभी कोई इच्छा पुण्य के उदय से तृप्त हो जाती है, तब कुछ देर सुख सा झलकता है, फिर तृष्णा का दुःख अधिक हो जाता है। संसार- भ्रमण से उदासीन मोक्ष प्रेमी सम्यग्दृष्टि जीवों को संसार में क्लेश कम होता है, क्योंकि वे तृष्णा को जीत लेते हैं। तृष्णा के तीव्र रोग से पीड़ित सर्व ही अज्ञानी प्राणियों को घोर कष्ट होता है। **इसलिए विचारवानों को अपने आत्मा पर करूणाभाव लाना चाहिए तथा यह भय करना चाहिए की हमारा आत्मा संसार क्लेशों को न सहन करे। यह आत्मा भववन में न भ्रमे, भवसागर में न डूबे, जन्म- जरा- मरण के घोर क्लेश**

न सहन करे।

श्री पद्मनन्दि मुनि धम्मरसायण ग्रन्थ में कहते हैं:-

उप्पण्णसमयपहुदी आमरणंतं सहंति दुक्खाइं ।
अच्छिणिमीलयमेत्तं सोक्खं ण लहंति णेरइया ।।७२।।

भावार्थ- नरक गति में नारकी प्राणी उत्पत्ति के समय से लेकर मरण पर्यंत दुःखों को सहन करते रहते हैं। वे विचारे आंख के टिमकार मात्र समय तक भी सुख नहीं पाते हैं।

एइंदिएसु पंचसु अणेयजोणीसु वीरियविहूणो ।
भुंजंतो पावफलं चिरकालं हिंडए जीवो ।।७८ ।।

भावार्थ- तिर्यंच गति में एकन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक की अनेक योनियों में जन्म लेकर शक्तिहीन होते हुए प्राणी पाप का फल दुःख भोगते हुए चिरकाल भ्रमण करते रहते हैं। अनन्तकाल वनस्पति निगोद में जाता है।

बहुवेयणाउलाए तिरियगईए भमित्तु चिरकालं ।
माणुसहबे वि पावइ पावस्स फलाइं दुक्खाइं ।।८०।।
धणुबंधविप्पहीणो भिक्खं भमिऊण भुंजए णिच्च ।
पुव्वकयपावकम्मो सुयणो वि ण यच्छए सोक्खं ।।८५।।

भावार्थ- चिरकाल तक तिर्यंचगति में महान वेदनाओं से आकुलित हो भ्रमण करके मनुष्यगति में जन्म लेकर पाप के फल से यह प्राणी दुःखों को पाता है। अनेक मानव पूर्वकृत पाप के उदय से धनरहित, कुटुम्बरहित होकर सदा भिक्षा से पेट भरते घूमते हैं। उनका कोई सम्बन्धी भी उनको सुख की सामग्री नहीं देता है।

छम्मासाउगसेसे विलाइ माला विणस्सए छाए ।
कंपंति कम्मरूक्खा होइ विरागो य भोयाणं ।।९०।।

भावार्थ- देवगति में छः मास आयु के शेष रहने पर माला मुरझा जाती है, शरीर की कांति मिट जाती है, कल्पवृक्ष काँपने लगते हैं, भोगों में उदासीनता छा जाती है।

एवं अणाइकाले जीओ संसारसायरे घोरे ।
परिहिंडए अलहंतो धम्मं सव्वण्हुपण्णत्तं ।।९४।।

भावार्थ- इस तरह अनादि काल से यह जीव सर्वज्ञ भगवान के कहे हुए धर्म को न पाकर

भयानक संसार - सागर में गोते लगाया करता है।

श्री अमितगति आचार्य बृहत् सामायिक पाठ में कहते हैं:-

श्वभ्राणामविसह्यमंतरहितं दुर्जल्पमन्येन्यजं ।
दाहच्छेदविभेदनादिजनितं दुःखं तिरश्चां परं ।।
नृणां रोगवियोगजन्ममरणं स्वर्गाकसां मानसं ।
विश्वं वीक्ष्य सदेति कष्टकलितं कार्या मतिर्मुक्तये ।।७९।।

भावार्थ- नारकियों को असहनीय, परस्परकृत, अनन्त दुःख ऐसा होता है जिसका कहना कठिन है। तिर्यंचों को जलने का, छिदने का, भेदन का आदि महान दुःख होता है। मानवों को रोग, वियोग, जन्म, मरण का घार कष्ट होता है। देवों को मानसिक क्लेश रहता है। इस तरह सारे जगत के प्राणियों को सदा ही कष्ट से पीड़ित देखकर बुद्धिमान को उचित है कि इस संसार से मुक्ति पाने के लिये बुद्धि स्थिर करे।

संसार में तृष्णा का महान रोग है। बड़े-बड़े सम्राट भी इच्छित भोगों को भोगते हैं, परन्तु तृष्णा को मिटाने की अपेक्षा उसे अधिकाधिक बढ़ाते जाते हैं। शरीर के छूटने के समय तक तृष्णा अत्यन्त बड़ी हुई होती है। यह तृष्णा दुर्गति में जन्म करा देती है।

इसलिये स्वामी समन्तभद्राचार्य ने स्वयंभूस्तोत्र में ठीक कहा है:-

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा ।
तृषोऽनुषंगान्न च तापशांतिरितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्वः ।।३१।।

भावार्थ- हे सुपार्श्वनाथ भगवान ! आपने यही उपदेश दिया है कि **प्राणियों का उत्तम हित अपने आत्मा का भोग है।** जो अनन्तकाल तक बना रहता है। इन्द्रियों का भोग सच्चा हित नहीं है। क्योंकि वे भोग क्षणभंगुर नाशवन्त हैं, तथा तृष्णा के रोग को बढ़ानेवाले हैं। इनको कितना भी भोगो, चाह की दाह शांत नहीं होती है।

इसलिए बुद्धिमान को इस दुःख मय संसार से उदास होकर मोक्ष पद पाने की लालसा या उत्कण्ठा या भावना करनी चाहिए। मोक्षपद में सर्व सांसारिक कष्टों का अभाव है, राग- द्वेष-मोहादि विकारों का अभाव है, सर्व पाप पुण्य कर्मों का अभाव है, इसीलिए उसको निर्वाण कहते हैं। वहाँ सर्व पर की शून्यता है परन्तु अपने आत्मा के द्रव्य गुण पर्यायों की शून्यता नहीं है। मोक्ष में यह आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव में सदाकाल प्रकाश करता है, अपनी सत्ता बनाए रखता है।

संसार दशा में शरीर सहित मोक्षपद में शरीरों से रहित हो जाता है। निरन्तर स्वात्मीक आनन्द का पान करता है। जन्म मरण से रहित हो जाता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरूषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में कहते हैं:-

नित्यमपि निरूपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरूपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशद्तमः ॥२२३॥
कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥२२४॥

भावार्थ- परमपुरूष मोक्ष के परमपद में सदा ही कर्म के लेपरहित व बाधारहित, अपने स्वरूप में स्थिर, आकाश के समान परम निर्मल प्रकाशमान रहते हैं। वे परमात्मा अपने परमपद में कृतकृत्य व सर्व जानने योग्य विषयों के ज्ञाता व परमानन्द में मगन सदा ही आनन्द का भोग करते रहते हैं।

श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहते हैं:-

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशंकम्।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥४०॥

भावार्थ- सम्यग्दृष्टी महात्मा परम आनन्द व परम ज्ञान के विभूति से पूर्ण शिवपद को पाते हैं, जहाँ जरा, नहीं, रोग नहीं, क्षय नहीं, बाधा नहीं, शोक नहीं, भय नहीं, शंका नहीं है।

अब श्री योगीन्द्राचार्य संसार से वैरागी व मोक्षपद के उत्सुक प्राणियों के लिए आत्मा का स्वभाव समझायेंगे, क्योंकि आत्मा के ज्ञान से ही आत्मानुभव होता है, यही मोक्ष का उपाय है।

दोहा ४

संसार का कारण : मिथ्यादर्शन

कालु अणाइ अणाइ जीउ भवसायरु जि अणंतु।
मिच्छादंसणमोहियउ ण वि सुह दुक्ख जि पत्तु ॥

अन्वयार्थ- (कालु अणाइ) काल अनादि है (जिउ अणाइ) संसारी जीव अनादि है, (भव सायरु जि अणंतु) संसारसागर भी अनादि अनंत है, (मिच्छादंसणमोहियउ) मिथ्यादर्शन कर्म के कारण मोही होता हुआ जीव (सुह ण वि दुक्ख जि पत्तु) सुख नहीं पाता है, दुःख ही

पाता है।

भावार्थ- काल का चक्र अनादि से चला आ रहा है। हर समय भूत भावी वर्तमान तीनों काल पाए जाते हैं, कभी ऐसा सम्भव नहीं है कि काल नहीं था। जब काल अनादि है तब काल के भीतर काम करनेवाले संसारी जीव भी अनादि हैं। जीव कभी नवीन पैदा नहीं हुए। प्रवाहरूप से चले ही आ रहे हैं। वास्तव में यह जगत जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल इन छह सत् द्रव्यों का समुदाय है। ये द्रव्य अनादि हैं तब यह जगत भी अनादि है। जगत में प्रत्यक्ष प्रकट है कि कोई अवस्था उत्पन्न होती है और कोई नष्ट होती है, परन्तु जिसमें अवस्था होती है वह बना रहता है। सुवर्ण की डली को गला कर कड़ा बनाया गया, तब डली की अवस्था मिटी, कड़े की अवस्था पैदा हुई; परन्तु सुवर्ण बना रहा। कभी कोई सुवर्ण का लोप नहीं कर सकता है। सुवर्ण पुद्गल के परमाणुओं का समूह है, परमाणु सब अनादि हैं।

संसारी जीव अनादि से संसार में पाप-पुण्य को भोगता हुआ भ्रमण कर रहा है। कभी यह जीव शुद्ध था, फिर अशुद्ध हुआ, ऐसा नहीं है। कार्माण और तेजस शरीरों का संयोग अनादि से है, यद्यपि उनमें नए स्कंध मिलते हैं, पुराने स्कंध छूटते हैं। इसलिए संसारी जीवों का भ्रमण रूप संसार भी अनादि है तथा यदि इसी तरह जीव कर्मबंध करता हुआ भ्रमण करता रहा तो यह संसार इस मोही अज्ञानी जीव कर्मबंध करता हुआ भ्रमण करता रहा तो यह संसार इस मोही अज्ञानी जीव के लिए अनन्तकाल तक रहेगा। मिथ्यादर्शन नामक कर्म के उदय से यह संसारी जीव अपने आत्मा के सच्चे स्वरूप को भूल रहा है। इसलिए कभी सच्चे सुख को नहीं पहचाना, केवल इन्द्रियों के द्वारा वर्तता हुआ कभी सुख, कभी दुख उठाता रहा। **इन्द्रिय सुख भी आकुलता का कारण है व तृष्णावर्द्धक है, इसलिए दुःखरूप ही है।**

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं- **दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय**। दर्शनमोहनीय का एक भेद मिथ्यात्वकर्म है। चारित्रमोहनीय के भेदों में चार अनन्तानुबन्धी कषाय हैं। इन पांच प्रकृतियों के उदय या फल के कारण यह संसारी जीव मोही, मूढ़, बहिरात्मा, अज्ञानी, संसारासक्त, पर्यायरत उन्मत्त व मिथ्यादृष्टि हो रहा है। इसके भीतर मिथ्यात्व भाव अन्धेरा किये हुए हैं, जिससे सम्यग्दर्शन/श्रद्धा गुण का प्रकाश रूक रहा है। मिथ्यात्व वह है जो प्रमाद से विभावरूप से चला आ रहा है। जिसके कारण यह जीव जिस शरीर को पाता है उसमें ही आपनापन मान लेता है। शरीर के जन्म को अपना जन्म, शरीर के मरण को अपना मरण, शरीर की स्थिति को

अपनी स्थिति मान रहा है। शरीर से भिन्न मैं चेतन प्रभु हूँ, यह खबर इसे बिल्कुल नहीं है। कर्मों के उदय से जो भावों में क्रोध, मान, माया, लोभ या राग द्वेष मोह होते हैं जैसे उन भावों को अपना मानता है, मैं क्रोधी, मैं मानी, मैं मायावी, मैं लोभी, मैं रागी, मैं द्वेषी, मैं मोही हूँ; इस तरह पाप-पुण्य के उदय से शरीर की अच्छी या बुरी अवस्था होती है, उसे अपनी ही अच्छी या बुरी अवस्था मान लेता है। जो धन, कुटुम्भ, मकान, आभूषण, वस्त्र आदि परद्रव्य हैं उनको अपना मान लेता है। इसतरह नाशवंत कर्मोदय की भीतरी व बाहरी अवस्थाओं का अहंकार तथा ममकार करता रहता है।

अपने स्वभाव में अहंबुद्धि व अपने गुणों में ममता भाव बिलकुल नहीं होता है। जैसे कोई मदिरा पीकर बावला हो जावे व अपना नाम व अपना घर ही भूल जावे, वैसे यह मोही प्राणी अपने सच्चे स्वभाव को भूले हुए है। चारों गतियों में जहां भी जन्मता है वहां ही अपने को नारकी, तिर्यंच, मनुष्य या देव मान लेता है। जो पर्याय छूटने वाली है उसको स्थिर मान लेता है। यह अगृहीत या निसर्ग मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व के कारण तत्त्व का श्रद्धान नहीं होता है।

श्री पूज्यपादस्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है :-

'' मिथ्यादर्शनं द्विविधं नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशात् आविर्भवति तत्वार्थाश्रद्धानलक्षणं नैसर्गिकं।''

भावार्थ - मिथ्यादर्शन दो प्रकार है- एक नैसर्गिक या अगृहीत, दूसरा अधिगमज या परोपदेशपूर्वक (गृहीत)। जो पर के उपदेश के बिना ही मिथ्यात्व कर्म के उदय के वश से जीव, अजीव आदि तत्वों का अश्रद्धान प्रकट होता है वह **नैसर्गिक** है। यह साधारणता से सर्व ही एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों में पाया जाता है। जब तक मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं मिटेगा तब तक यह मिथ्यात्व भाव होता ही रहेगा। दूसरा परोपदेशपूर्वक मिथ्यादर्शन पांच प्रकार है- **एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञान** ये पांच प्रकार का मिथ्यादर्शन सैनी जीवों को पर के उपदेश से होता है, तब संस्कार वश असैनी के भी बना रहता है। इनका स्वरूप वही कहा है:-

''तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकांतः पुरुष एवेदं सर्वमिति वा नित्यमेवेति।''

भावार्थ- धर्मी जो द्रव्य व धर्म जो उसके स्वभाव, उनको ठीक न समझकर यह हठ करना कि वस्तु यही है व ऐसी ही है। वस्तु अनेक स्वभावरूप अनेकान्त होते हुए भी उसे एक धर्मरूप या

एकान्तरूप मानना एकान्त मिथ्यात्व है। **जैसे जगत छह द्रव्य का समुदाय है। ऐसा न मानकर यह जगत एक ब्रह्म स्वरूप ही है, ऐसा मानना या वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है व पर्याय की अपेक्षा अनित्य है- ऐसा न मानकर सर्वथा नित्य ही मानना या सर्वथा अनित्य ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है।**

''संग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिद्धचतीत्येवमादिः विपर्ययः।''

भावार्थ- जो बात संभव न हो, विपरीत हो, उसको ठीक मानना विपरीत मिथ्यात्व है। **जैसे परिग्रहधारी साधु को निर्ग्रन्थ मानना, केवली अरहंत भगवान को ग्रास लेकर भोजन करना मानना, स्त्री के शरीर से सिद्धगति मानना, हिंसा से धर्म मानना इत्यादि विपरीत मिथ्यात्व है।**

वस्त्रादि बाहरी व क्रोधादि अन्तरंग परिग्रह रहित ही निर्ग्रन्थ साधु हो सकता है, केवली के अनन्तबली, परमौदारिक, सात धातुरहित शरीर होता है, मोहकर्म का क्षय हो चुका है। उनको भूख की बाधा होना, भोजन की इच्छा होना व भिक्षार्थ भ्रमण करना व भोजन का खाना सम्भव नहीं है। वे परमात्मपद में निरन्तर आत्मानन्दामृत का स्वाद लेते हैं। इन्द्रियों के द्वारा स्वाद नहीं लेते। उनके मतिज्ञान व श्रुतज्ञान नहीं है।

कर्मभूमि की स्त्री का शरीर **वज्रवृषभनाराच** संहनन बिना हीन संहनन का होता है इसी से वह न तो भारी पाप कर सकती है न मोक्ष के लायक ऊंचा ध्यान ही कर सकती है। इसलिए वह मरकर १६ स्वर्ग के ऊपर ऊर्ध्व लोक में व छठे नरक से नीचे अधोलोक में नहीं जाती है। हिंसा या परपीड़ा से पापबन्ध होगा, कभी पुण्यबन्ध नहीं हो सकता। इसप्रकार उल्टी प्रतीति को ही विपरीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्यतर- पक्षापेक्षा-परिग्रहः संशयः''

भावार्थ- सम्यग्दर्शन- ज्ञान- चारित्र रत्नत्रय धर्म मोक्षमार्ग है कि नहीं है - ऐसा विकल्प करके किसी एक पक्ष को नहीं ग्रहण करना संशय मिथ्यादर्शन है।

''सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्''

भावार्थ- सर्व ही देवताओं को व सर्व ही दर्शनों की या आगमों की (बिना स्वरूप विचार किये) एक समान श्रद्धा करना वैनयिक मिथ्यादर्शन है।

''हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वं''

भावार्थ- हित अहित की परीक्षा नहीं करना, देखा- देखी धर्म का मान लेना अज्ञान, मिथ्यादर्शन है।

सम्यग्दर्शन वास्तव में अपने शुद्धात्मा के स्वरूप की प्रतीति है। उसका न होना ही मिथ्यादर्शन है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष - इन सात तत्त्वों में श्रद्धान न होना तथा वीतराग सर्वज्ञदेव, सत्यार्थ आगम व सत्य गुरु में श्रद्धान का न होना व्यवहार मिथ्यादर्शन है। यह सब गृहीत या अधिगमज या परोपदेशपूर्वक मिथ्यादर्शन है।

अपने को (और का और) शरीर रूप मानना अगृहीत या नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शन के कारण इस जीव को सच्चे आत्मीक सुख तथा सच्चे शुद्ध आत्मा के स्वभाव की प्रतीति नहीं होती है। इसकी बुद्धि मोह से अच्छादित है। यह विषय भोग के सुख को ही समझकर प्रतिदिन उसके उद्योग में लगा रहता है। परपीड़ा पहुंचा कर भी स्वार्थ साधन करता है, पापों को बांधता है, भव भव में दुःख उठाता फिरता है। **मिथ्यादर्शन के समान जीव का कोई बैरी नहीं है। मिथ्यादर्शन से बढ़कर कोई पाप नहीं है। देह को अपना मानना ही देह धारण करने का बीज है।**

समाधितंत्र में श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है :-

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमंकरमात्मनः ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ।।५५।।

भावार्थ- इन्द्रियों के भोगों के भीतर आत्मा का हित नहीं है तो भी मिथ्यादृष्टि अज्ञान की भावना से उन्हीं में रमण करता रहता है।

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु ।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ।।५६।।

भावार्थ- अनादिकाल से मूढ़ आत्माएं अपने स्वरूप में सोई हुई है, खोटी योनियों में भ्रमण करती हुई स्त्री- पुत्रादि परपदार्थों को व अपने शरीर व रागादि विभावों को अपना मानकर इसी विभाव में जाग रही हैं।

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेह निष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ।।७४।।

भावार्थ- इस शरीर में आपा मानना ही पुनः पुनः देह ग्रहण का बीज है। जबकि अपने आत्मा में

ही आपा मानना देह से छूट जाने का बीज है।

श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चय में कहते हैं:-

मिथ्यात्वं परमं बीजं संसारस्य दुरात्मनः ।
तस्मात्तदेव मोक्तव्यं मोक्षसौख्यं जिघृक्षुणा ॥५२॥

भावार्थ- इस दुष्ट संसार का परम बीज एक मिथ्यादर्शन है इसलिए मोक्ष के सुख की प्राप्ति चाहने वालों को मिथ्यादर्शन का त्याग करना उचित है।

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः ।
मिथ्योदृश्योऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा ॥४१॥

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि जीव के अवश्य निर्वाण का लाभ होगा, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव का सदा ही संसार में भ्रमण रहेगा।

अनादिकालीन संसार में यह संसारी जीव अनादि से ही मिथ्यादर्शन से अन्धा होकर भटक रहा है, इसीलिए इस मिथ्यात्व का त्याग जरूरी है।

दोहा ५

मोक्षसुख का कारण : आत्मध्यान

जइ वीहउ चउगइगमणु तउ परभाव चएवि ।
अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिवसुक्ख लहेवि ॥

अन्वयार्थ- **(जई)** यदि **(चउगइगमणु वीहउ)** चारों गतियों के भ्रमण से भयभीत है **(तउ)** तो **(परभाव चएवि)** परभावों को छोड़ दे **(णिम्मलउ अप्पा झायहि)** निर्मल आत्मा का ध्यान कर **(जिम)** जिससे **(सिवसुक्ख लहेवि)** मोक्ष के सुख को तू पा सके।

भावार्थ- जैसा पहले दिखाया जा चुका है कि चारों गतियों में शारीरिक व मानसिक दुःख है। सरकारी व स्वाभाविक गति एक मोक्ष गति है, जहां आत्मा निश्चल रहकर परमानन्द का भोग निरन्तर करता रहता है, जहां आत्मा बिलकुल शुद्ध निराला शोभता रहता है। मन सहित प्राणी को अपना हित व अहित ही विचारना चाहिए। यदि आत्मा के ऊपर दयाभाव है तो इसे दुःखों के बीच नहीं डालना चाहिए। इसे भव- भ्रमण के रक्षित करना चाहिए और इसे जितना शीघ्र हो सके, मोक्ष के निराकुल भाव में पहुंच जाना चाहिए। तब इसका उपाय श्री गुरु ने बताया है कि

अपने ही शुद्ध आत्मा का ध्यान करो।

भेदविज्ञान की शक्ति से अपने आत्मा के साथ जिन- जिन का संयोग है उन- उन को आत्मा से नित्य विचार करके उनका मोह छोड़ देना चाहिए। **मोक्ष अपने ही आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। तब उसका उपाय भी केवल एक अपने ही शुद्ध आत्मा का ध्यान है।** जैसा ध्यावे वैसा हो जावे। यदि हम एक मानव की आत्मा का भेदविज्ञान करें तो यह पता चलेगा कि यह तीन प्रकार के शरीरों के साथ है। वे तीनों शरीर पुद्गलद्रव्य के बने हुए है, आत्मा के स्वभाव से बिलकुल विपरीत हैं।

स्थूल दिखने वाला औदारिक शरीर है, जो माता- पिता के रज- वीर्य से बना है। अनादिकाल से प्रवाहरूप से चले आनेवाले तैजस और कार्मण दो शरीर हैं। आठ कर्ममय कार्मण शरीर के विपाक से जो जो फल, अवस्थाएं व विकार आत्मा की परिणति में होते हैं वे सभी आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं। ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्मों के कारण अज्ञान व मोह, राग द्वेष आदि भावकर्म होते हैं व अघातिया कर्मों के कारण शरीर व चेतन अचेतन पदार्थों का संबंध होता है, वे सब ही भिन्न हैं। **जीवों की उन्नति की चौदह सीढ़ियां हैं, जिनको गुणस्थान कहते हैं, वे सब शुद्ध आत्मा से भिन्न हैं।**

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व, आहार - ये चौदह मार्गणाएं हैं, वे भी शुद्ध जीव का स्वभाव नहीं है। शुद्ध जीव अखण्ड व अभेद है। सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज वीर्य व सहज सुख का अमिट व अभेद समूह है। सर्व सांसारिक अवस्थाएं शुद्ध आत्मा से भिन्न हैं। **इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, तीर्थंकरपद ये सब कर्मकृत उपाधियां हैं। आत्मा इन सबसे भिन्न निरञ्जन प्रभु देव है।**

तत्त्वार्थसूत्र सूत्र में जीवों के पांचभाव न उनके भेद त्रेपन (भाव) बताए हैं, उनमें से शुद्ध आत्मा के केवल क्षायिक भाव और पारमाणिक भाव हैं- औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तीन भाव नहीं है। त्रेपन में से नौ क्षायिक भाव अर्थात् नौ लब्धियां व जीवत्व पारिमाणिक भाव इस तरह दस भाव जीव के हैं, शेष तेतालीस नहीं हैं।

सिद्ध के समान आत्मा का ध्यान करना चाहिए। भेदविज्ञान के प्रताप से ध्यान करनेवाला आप ही अपने को परमात्मा रूप देखता है। जैसे दूध- पानी मिले हों तो भी दूध पानी से अलग दिखता है व गर्म पानी में जल व अग्नि का स्वभाव अलग दिखता है। व्यंजन में लवण व तरकारी

का स्वाद अलग दिखता है। लाल पानी में पानी व लाल रंग का स्वभाव अलग दिखता है। तिलों में भूसी व तेल अलग दिखता है। धान्य में तुष और चावल अलग दिखता है। दाल में छिलका व दाल का दाना अलग दिखता है। **वैसे ही ज्ञानी को अपनी आत्मा रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व शरीरादि नोकर्म से भिन्न दिखता है। जैसे ज्ञानी को अपना आत्मा सर्व परभावों से भिन्न दिखता है। वैसे ही अन्य संसारी प्रत्येक आत्मा सर्व परभावों से भिन्न दिखता है।**

सर्व ही सिद्ध व संसारी आत्माएँ एक- समान परम निर्मल, वीतराग, ज्ञानानन्दमय दिखती हैं - **इस दृष्टि को सम्यक्त्व- यथार्थ- निर्मल व निश्चय दृष्टी कहते हैं। इस दृष्टि से देखने का अभ्यास करनेवाले के भावों में समभाव का साम्राज्य हो जाता है। राग द्वेष मोह का विकार मिट जाता है। इसी समभाव में एकाग्र होना ही ध्यान है। यही ध्यान आग है जिससे कर्म के बन्धन जल जाते हैं और यह आत्मा शीघ्र ही मुक्त हो जाता है, तब परम सुख का भोगी बन जाता है।**

श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयपाहुड में कहते हैं:-

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ।।५५।।
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णो कम्मं चावि से णत्थि ।।५६।।
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणाा णेव कड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा ण वयअणुभायठाणाणि ।।५७।।
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेवयउदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ।।५८।।
णो थिदि बन्धट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेश ठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संगमलद्धिठाणा वा ।।५९।।
णेवय जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ।।६०।।

भावार्थ- निश्चयनय से इस जीव में न कोई वर्ण है, न कोई गंध है, न रस हैं, न स्पर्श है, न कोई

दिखने वालारूप है, न ही कोई शरीर है, न छह संस्थानों में से कोई संस्थान है, न छह संहननों में से कोई संहनन है।

न जीव के राग है, न द्वेष है, न मोह है, न सत्तावन (५ मिथ्यात्व+१२ अविरति+२५ कषाय+१५ योग) आस्रव हैं। न आठ कर्म हैं, न अहारक तैजस, भाषा, मनोवर्गणा आदि नोकर्म हैं।

न जीव के कोई अविभाग प्रतिच्छेद शक्ति का समूहरूप वर्ग हैं, न वर्ग समूहरूप वर्गणा हैं, न वर्गणासमूहरूप स्पर्द्धक हैं, न शुभाशुभ विकल्परूप अध्यात्मस्थान हैं , न सुख- दुःख फल स्वरूप अनुभाग स्थान हैं।

न जीव के कोई आत्मप्रदेशों के हलन चलन रूप व योग शक्ति के अशुद्ध परिणमन रूप योगस्थान हैं, न प्रकृति आदि चार बन्ध के स्थान हैं, न कर्मों के उदय के स्थान हैं, न गति आदि चौदह मार्गणाओं के स्थान हैं।

न कर्मों की स्थिति बन्ध के स्थान हैं, न अशुभ भाव रूप संक्लेश स्थान है, न शुभभावरूप विशुद्धि के स्थान हैं, न संयम की वृद्धिरूप संयम के स्थान हैं।

न एकेन्द्रियादि चौदह जीवसमास हैं, न मिथ्यादर्शनादि चौदह गुणस्थान हैं; क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्य के संयोग व निमित्त से होनेवाले परिणाम हैं।

श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसारकलश में कहते हैं:-

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था,
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः,
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ।।६०।।

भावार्थ- भेदविज्ञान के बल से ज्ञानी को गर्म पानी में अग्नि की उष्णता व पानी की शीतता भिन्न भिन्न दिखती है। भेदविज्ञान से ही बनी हुई तरकारी (सब्जी) में लवण व तरकारी का स्वाद अलग- अलग अनुभव में आता है। भेदविज्ञान से दिखता है कि यह आत्मा आत्मीक रस से भरा हुआ, नित्य चैतन्य धातु की मूर्ति, वीतराग है तथा यह क्रोधादि विकारों का कर्ता नहीं है। क्रोधादि अलग हैं और आत्मा अलग है।

समयसारकलश में और भी कहा है:-

दर्शनज्ञानचरित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥२३९॥
एको मोक्षपथो य एव नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक -
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विरहति द्रव्यान्तराप्यस्पृशन्,
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥२४०॥

भावार्थ- सम्यग्दर्शन - ज्ञान- चारित्रमयी आत्मतत्त्व है वही एक मोक्षमार्ग है। मोक्ष के अर्थी को उचित है कि इसी का सेवन करे।

दर्शन- ज्ञान- चारित्रमय आत्मा ही निश्चय से एक मोक्ष का मार्ग है। जो कोई इस अपने आत्मा में अपनी स्थिति करता है, रात- दिन उसी को ध्याता है, उसी का अनुभव करता है, उसी में ही निरन्तर विहार करता है, अपने आत्मा के सिवाय अन्य आत्माओं को, सर्व पुद्गलों को, धर्माधर्माकाशकाल चार अमूर्तीक द्रव्यों को व सर्व ही परभावों को स्पर्श तक नहीं करता है, वह ही अवश्य नित्य, उदयरूप समयसार परमात्मा का अनुभव करता है। वास्तव में यह आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है, योगी को यही निरन्तर करना चाहिए।

दोहा ६

आत्मा के तीन प्रकार

तिपयारो अप्पा मुणहि परू अंतरू बहिरप्पु ।
पर झायहि अंतरसहिउ बाहिरू चयहि णिभंतु ॥

अन्वयार्थ- **(अप्पा तिपयारो मुणहि)** आत्मा के तीन प्रकार जानो, **(परू)** परमात्मा **(अंतरू)** अन्तरात्मा **(बहिरप्पु)** बहिरात्मा **(णिभंतु)** भ्रांति या शंका रहित होकर **(बाहिरू चयहि)** बहिरात्मापना छोड़ दे **(अंतरसहिउ)** अन्तरात्मा होकर **(परिझायहि)** परमात्मा का ध्यान कर।

भावार्थ- द्रव्यदृष्टि या शुद्ध निश्चयनय से सर्व ही आत्माएं एक समान, शुद्धबुद्ध, परमात्मा एवं ज्ञानानन्दमय है, कोई भेद नहीं है। द्रव्य का स्वभाव सत् है, सदा रहनेवाला है व सत् उत्पाद-

व्यय- ध्रौव्यरूप है। हर एक द्रव्य अपने सर्व सामान्य तथा विशेष गुणों को अपने भीतर सदा बनाए रहता है, उनमें एक भी गुण कम व अधिक नहीं होता इसलिए द्रव्य ध्रौव्य होता है। हर एक गुण परिणमनशील है, कूटस्थ नित्य नहीं है। यदि कूटस्थ नित्य हो तो कार्य न कर सके। गुणों के परिणमन से जो समय समय हर एक गुण की अवस्था होती है, वह उस गुण की पर्याय है।

एक गुण में समय- समय होने वाली ऐसी अनन्त पर्यायें होती हैं। पर्यायें सब नाशवंत है। जब एक पर्याय होती है तब पूर्व पर्याय को नाश करके होती है। पर्यायों की अपेक्षा हर समय द्रव्य उत्पाद व्यय स्वरूप है अर्थात् पुरानी पर्याय को बिगाड़ कर नवीन पर्याय को उत्पन्न करता हुआ द्रव्य अपने सर्व गुणों को लिये हुए बना रहता है। इसलिए द्रव्य का लक्षण '**गुणपर्ययवत् द्रव्यं**' अर्थात् गुण - पर्यायवान द्रव्य होता है - ऐसा किया है।

हर एक द्रव्य में जितनी पर्यायें सम्भव हो सकती हैं उन सबकी शक्ति रहती है, प्रगटता एक समय में एक की होती है। जैसे मिट्टी की डली में जितने प्रकार के बर्तन, खिलौने, मकान आदि बनने की शक्ति है, वे सब पर्यायें शक्ति (रूप) से हैं, प्रगट एक समय में एक पर्याय ही होगी। जैसे मिट्टी से **प्याला** बनाया, **प्याला** तोड़कर **मटकन्ना** (मटका) बनाया, **मटका** तोड़ कर एक पुरुष बनाया, **पुरुष** तोड़ कर **स्त्री** बनाई आदि। इन सब पर्यायों में मिट्टी वही है व मिट्टी के सब गुण भी वे ही हैं। स्पर्शन, रस, गन्ध, वर्णमय मिट्टी सदा मिलेगी।

जगत में छह द्रव्य हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और कालाणु इन चारों द्रव्यों में एक समान सदृश स्वभाव पर्यायें ही होती रहती हैं। उनमें पर के निमित्त से विभाव पर्यायें नहीं हो सकती हैं। वे सदा उदासीन पड़े रहते हैं।

सिद्धात्माओं में भी स्वभाव सदृश पर्यायें होती हैं क्योंकि उनके ऊपर किसी परद्रव्य का प्रभाव नहीं पड़ सकता है। वे पूर्ण मुक्त हैं, परन्तु संसारी आत्माओं में कर्मों का संयोग व उदय होने के कारण विभाव पर्यायें व अशुद्ध पर्यायें होती हैं। परमाणु जो जघन्य अंश स्निग्ध व रूक्ष गुण को रखता है, किसी से बंधता नहीं है, उस परमाणु में भी स्वभाव पर्यायें होती हैं जब यही स्निग्ध व रूक्ष गुणों के बढ़ने से दूसरे परमाणु के साथ बन्धयोग हो जाता है तब उसमें विभाव पर्यायें होती हैं।

पर्यायें दो प्रकार की हैं - अर्थ पर्याय व व्यंजन पर्याय। प्रदेशगुण या आकार के पलटने को व्यंजन पर्याय व अन्य सर्व गुणों के परिणमन को अर्थ पर्याय कहते हैं। शुद्ध द्रव्यों में व्यंजन व

अर्थ पर्याय समानरूप से शुद्ध ही होती है। अशुद्ध द्रव्यों में अशुद्ध अर्थ पर्याय व आकार की पलटन रूप अशुद्ध या विभाव व्यंजन पर्याय होती है। संसारी आत्माएं अशुद्ध हैं तो भी हर एक आत्मा में अपने सर्व गुणों की शुद्ध या अशुद्ध परिणमन की शक्तियां हैं। जब तक वे अशुद्ध हैं तब तक अशुद्ध पर्यायें प्रगट होती हैं।

शुद्ध आत्माओं में भी शुद्ध व अशुद्ध पर्यायों के होने की शक्ति है परन्तु शुद्ध पर्यायें ही प्रगट होती है, क्योंकि अशुद्ध पर्यायें होने के लिए पुद्गल का कोई निमित्त नहीं है। जैसे एक परमाणु में सर्व संभवित पर्यायों के होने की शक्ति है, वैसे ही एक आत्मा में निगोद से लेकर सिद्ध पर्याय तक सर्व पर्यायों के होने की शक्ति है, यह वस्तुस्वभाव है।

सिद्ध भगवानों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा तीनों पर्यायों के होने की शक्ति है। उनमें से परमात्मापने की शक्ति व्यक्त या प्रगट है, शेष दो शक्तियां अप्रगट हैं। इसीतरह संसारी आत्माओं में जो बहिरात्मा हैं उनमें बहिरात्मा की पर्यायें तो प्रगट हैं, परन्तु उसी समय अन्तरात्मा व परमात्मा की पर्यायें शक्तिरूप से अप्रगट हैं। यद्यपि तीनों की शक्तियों एक ही साथ हैं।

अन्तरात्मा में अन्तरात्मा की पर्यायें तो प्रगट हैं उसी समय बहिरात्मा व परमात्मा की पर्यायें शक्तिरूप से अप्रगट हैं। वास्तव में द्रव्य को शक्तिरूप से अप्रगट हैं। वास्तव में द्रव्य को शक्ति की अपेक्षा देखा जावे तो हर एक आत्मा में बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा तीनों ही शक्तियां हैं। उनमें से किसी एक की प्रगटता रहेगी तब दो की अप्रगटता रहेगी। जैसे पानी में गर्म होने की, लाल हरे पीले व निर्मल होने की व ठंडा रहने आदि की शक्तियां हैं। जब पर का निमित्त न होगा तब वह पानी निर्मल ठंडा ही प्रगट होगा। उसी पानी को अग्नि का निमित्त मिले तब गर्म हो जायेगा तब गर्मपने की दशा प्रगट होगी, शीतपने की अप्रगट रहेगी। मल का निमित्त मिलने पर मैला, लाल रंग का निमित्त मिलने पर लाल, हरे रंग का निमित्त मिलने पर हरा हो जायेगा; तब निर्मलपना शक्तिरूप से रहेगा।

यदि पानी को पर का निमित्त न मिले तो वह सदा ही निर्मल व ठंडा ही झलकेगा; परन्तु गर्म, मलीन या रंगीन होने की शक्तियों का उस पानी में से अभाव नहीं हो जायेगा। सिद्ध परमात्माओं में कर्मोदय का निमित्त न होने पर वे कभी भी अन्तरात्मा व बहिरात्मा न होंगे, परन्तु इनकी शक्तियों का उनमें अभाव नहीं होगा। अभव्य जीव कभी भी अन्तरात्मा व परमात्मा न होंगे, बहिरात्मा ही बने रहेंगे तो भी उनमें अन्तरात्मा व परमात्मा की शक्तियों का अभाव नहीं

होगा।

इसलिए श्री पूज्यपादस्वामी ने समाधिशतक में कहा है :-

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥४॥

भावार्थ- सर्व ही प्राणियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा तीन प्रकारपना है, उनमें से बहिरात्मापना छोड़ें, अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मापने को सिद्ध करें।

यही योगीन्द्राचार्य परमात्मप्रकाश में कहते हैं :-

अप्पा तिविहु मुणेवि वहु मूढउ मेल्लहि भाउ।
मुणि सण्णाणे णाणमउ जो परमप्प सहाउ ॥१२॥

भावार्थ- आत्मा को तीन प्रकार का जानकर बहिरात्मा स्वरूप भाव को शीघ्र ही छोड़े और जो परमात्मा का स्वभाव है उसे स्वसंवेदन ज्ञान से अन्तरात्मा होता हुआ जान। वह स्वभाव केवलज्ञान से परिपूर्ण है।

मिथ्यादर्शन आदि चौदह गुणस्थान होते हैं, इनकी शक्ति सर्व ही आत्माओं में है। प्रगटता एक समय में एक गुणस्थान की संसारी आत्माओं में रहेगी। यद्यपि ये सर्व चौदह गुणस्थान संसारी आत्माओं में होते हैं, सिद्धों में कोई गुणस्थान नहीं है तो भी संसारी जीवों का बहिरात्मा, अन्तरात्मा परमात्मा तीन अवस्थाओं में विभाग हो सकता है। **जो अपने आत्मा को यथार्थ न जाने, न श्रद्धान करे, न अनुभवे यह बहिरात्मा है।** मिथ्यात्व, सासादन व मिश्र गुणस्थान वाले सब बहिरात्मा हैं। **जो अपने आत्मा को सच्चा जैसे का तैसा श्रद्धान करे, जाने व अनुभव करे वह अन्तरात्मा है।** जहाँ तक केवलज्ञान नहीं वहाँ तक चौथे अविरत सम्यक्त्व से लेकर ५ वें देशविरत, ६ वें प्रमत्तविरत, ७ वें अप्रमत्तविरत, ८ वें अपूर्वकरण, ९ वें अनिवृत्तिकरण, १० वें सूक्ष्मलोभ, ११ वें उपशांतमोह, १२ वें क्षीणमोह पर्यंत नौ गुणस्थानवाली सब आत्माएं अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि हैं। सयोग- केवली जिन तेरहवें व अयोगकेवली जिन चौदहवें गुणस्थान वाले अरहंत परमात्मा हैं।

इन दोनों गुणस्थान वालों को संसारी इसलिए कहा है कि उनके आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय चार अघातीय कर्मों का उदय है, क्षय नहीं हुआ है। यथार्थ में सिद्ध ही शरीर रहित परमात्मा हैं। अरहंत शरीर सहित परमात्मा हैं। इतना ही अन्तर है। प्रयोजन कहने का यह है कि बहिरात्मापना

त्यागने योग्य है क्योंकि इस दशा में अपने आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण नहीं होता है। उपयोग संसारासक्त मलीन होता है तथा आत्मज्ञानी होकर अन्तरात्मा दशा में परमात्मा का ध्यान करके अर्थात् अपने ही आत्मा को परमात्मा रूप अनुभव करके कर्मों का क्षय करके परमात्मा हो जाना योग्य है। धर्म के साधन में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

सारसमुच्चय में कुलभद्राचार्य कहते हैं :-

धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातंकविनाशनम् ।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा ॥३३॥

भावार्थ- दुःख रूपी रोग के विनाशक धर्म रूपी अमृत को सदा पीना चाहिये, जिसके पीने से जीवों को सदा ही परमानन्द प्राप्त होगा।

दोहा ७

बहिरात्मा का स्वरूप

मिच्छादंसणमोहियउ परू अप्पा ण मुणेइ ।
सो बहिराप्पा जिणभणिउ पुण संसारू भमेइ ॥

अन्वयार्थ- (**मिच्छादंसणमोहियउ**) मिथ्यादर्शन से मोही जीव (**परू अप्पा ण मुणेइ**) परमात्मा को नहीं जानता है (**सो बहिरप्पा**) यही बहिरात्मा है (**पुण संसार भमेइ**) वह बारम्बार संसार में भ्रमण करता है। (**जिण भणिउ**) ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है।

भावार्थ- जैसे मदिरा पीकर कोई उन्मत्त हो जावे तो वह बेसुध होकर अपने को भी भूल जाता है, अपना घर भी भूल जाता है; वैसे यह (बहिरात्मा जीव) मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से मोही होकर अपने आत्मा के स्वरूप को भूला हुआ है। आपको शरीर रूप ही मान लेता है व कर्मों के उदय से जो जो अवस्थाएँ होती हैं उनको अपना स्वभाव मान लेता है।

आत्मा का यथार्थ सिद्ध परमात्मा के समान परम शुद्ध, निर्विकार, निरञ्जन, कृतकृत्य, इच्छारहित, शरीररहित, वचनरहित, मन के संकल्प - विकल्परहित, अमूर्तिक, अविनाशी है। इस बात को जो नहीं समझता है और जो कुछ भी आत्मा का निज स्वभाव नहीं है उसको अपना स्वभाव मान लेता है, वह आत्मा से बाहर की वस्तुओं को आत्मा की मानता है। इसलिए उसको **बहिरात्मा** कहते हैं। अपने आत्मा की सत्ता सर्व आत्माओं से जुदी है, सर्व पुद्गलों से जुदी है,

धर्म, अधर्म, आकाश, काल से जुदी है, इस बात को बहिरात्मा नहीं समझता। वह इन्द्रिय सुख को ही सच्चा सुख मानता है। **उसके जीवन का ध्येय विषयभोग व मानपुष्टि रहता है।** वह धर्म भी इसी हेतु से पालन करता है। यदि कुछ शुभ काम करता है तो मैं दान का, पूजा का, परोपकार का, श्रावक के व्रतों का, मुनि के व्रतों का कर्ता हूँ। यदि कुछ अशुभ काम करता है तो मैं हिंसा कर्ता, असत्य बोलने की चतुराई का कर्ता, ठगी कर्ता, व्यभिचारकर्ता व हानिकर्ता प्रवीण पुरुष हूँ, इस तरह के अहंकार से मूर्छित रहता है। **आत्मा का स्वभाव तो न शुभ काम करने का है, न अशुभ काम करने का है। आत्मा स्वभाव से पर का कर्ता नहीं है। यह बहिरात्मा अपने को पर का कर्ता मान लेता है।**

उसी तरह पुण्य के उदय से सुख मिलने पर मैं सुख का व पाप के उदय से दुःख होने पर मैं दुःख का भोगनेवाला हूँ। मैंने संपदा भोगी, राज्य भोगा, पंचेन्द्रिय के भोग भोगे, **इस तरह पर का भोक्ता मान बैठता है। आत्मा स्वभाव से अपने ज्ञानानन्द का भोक्ता है, पर का भोक्ता नहीं है, इस बात को बहिरात्मा नहीं समझता है।**

मन, वचन, काय, पुद्गलकृत विकार व कर्मों के उदय से उनकी क्रियाएँ होती हैं। यह बहिरात्मा इन तीनों को व इनकी क्रियाओं को अपनी क्रिया मान लेता है। अनेक शास्त्रों को पढ़कर मैं पंडित, इस अभिमान में चूर होकर पर का तिरस्कार करके प्रसन्न होनेवाला बहिरात्मा होता है। वह यह घमंड करता है कि मैं अमुक वंश का हूँ, मैं ऊंचा हूँ, मैं रूपवान हूँ, मैं बड़ा बलवान हूँ, मैं बड़ा विद्वान हूँ, मैं बड़ा तपस्वी हूँ, मै बड़ा अधिकार रखता हूँ, मैं चाहे जिसका बिगाड़ कर सकता हूँ, मेरी कृपा से सैकड़ों आदमी पलते हैं, इस अहंकार में बहिरात्मा चूर रहता है।

बहिरात्मा की दृष्टि अंधी होती है। जो जिनेन्द्र की मूर्ति में स्वानुभव रूप जिनेन्द्र आत्मा को नहीं पहचानती है। वह छत्रचमरादि विभूति सहित शरीर की रचना को ही अरहंत मान लेता है। गुरू की पूजा भक्ति होती है, गुरु बड़े चतुर वक्ता हैं, गुरु का शरीर प्रभावशाली है, गुरु बड़े विद्वान हैं, अनेक शास्त्रों के ज्ञाता हैं, इसी गुरु महिमा की तरफ ध्यान देता है। गुरु आत्मज्ञानी हैं या नहीं इस भीतरी तत्त्व पर बहिरात्मा ध्यान नहीं देता है।

शास्त्र में रचना अच्छी है, कथन मनोहर है, न्याय की युक्ति से अकाट्य है, अनेक रसों से पूर्ण है, ऐसा समझता है, **वह शास्त्र के कथन में अध्यात्मरस को नहीं खोजता है न उसका पान करता है।** बहिरात्मा का जीवन विषय तथा कषाय को पोषने में व्यतीत होता है। वह मरकर

भी विषय सुख की सामग्री को ही चाहता है। इसी भावना को लिये हुए भारी तपस्या साधता है।

मैं शुद्ध होकर सदा आत्मीक सुख भोग सकूँ, इस भावना से शून्य होता है। बहिरात्मा को मिथ्यात्व कर्म के उदयवश सच्चा तत्त्व नहीं दिखता है। वह भिन्न भिन्न दर्शनों के शास्त्रों को समझकर यथार्थ जिन भाषित तत्त्वों पर श्रद्धा नहीं लाता है। लोक में छह द्रव्यों की सत्ता होते हुए भी केवल एक ब्रह्ममय जगत है। एक परमात्मा ईश्वर के सिवाय कुछ नहीं है, यह सब उसी की रचना है। उसी का रूपान्तर है, उसी की माया है, वह ईश्वर ही जगत का कर्ता है व जीवों को सुख दुःख का फल का देता है, ऐसा माननेवाला है।

द्रव्य का स्वभाव ध्रुव होकर परिणमनशील है। यदि ऐसा न हो तो कोई जगत में काम ही न हो - ऐसा न मानकर या तो वस्तु को सर्वथा नित्य या अपरिणमनशील मानता है या सर्वथा अनित्य या परिणमनशील मान लेता हैं। कभी बहिरात्मा हिंसा के कार्यों में धर्म मानकर पशुबलि करके व रात्री भोजन करके व नदियों में स्नान करके धर्म मान लेता है। वीतरागता की पूजा न करके श्रृंगारसहित देवताओं की व शस्त्रादि सहित देवताओं की व संसारासक्त देवताओं की पूजा करने से पुण्यबन्ध मान लेता है व मोक्ष होना मान लेता है। किन्हीं बहिरात्माओं को आत्मा की पृथक् सत्ता पर ही विश्वास नहीं होता है। वह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से ही आत्मा की उत्पति मान लेता है।

कोई बहिरात्मा आत्मा को सदा ही रागी, द्वेषी या अल्पज्ञ रहना ही मान लेता है। वह कभी वीतराग सर्वज्ञ हो सकेगा ऐसा नहीं मानता है। यह बहिरात्मा मूढ़ होता हुआ मिथ्याश्रद्धान, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र से मिथ्यामार्गी होता हुआ संसार में अनादिकाल से भटकता आ रहा है व भटकता रहेगा। जिस मानव को सागर पार करनेवाली नौका न मिले वह सागर में ही गोते खाते डूबने वाला है। बहिरात्मा के समान कोई अज्ञानी व पापी नहीं है। जिसको सीधा मार्ग न मिले, उल्टे रास्ते पर चले, वह सच्चे ध्येय पर किस तरह पहुँच सकता है ?

श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहते हैं -

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदसंणो होदि ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥१७॥
मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥१८॥

भावार्थ- मिथ्यात्व कर्म के फल को भोगनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानी होता है। उसे उसी तरह धर्म नहीं रूचता है, जिस तरह ज्वर से पीड़ित मानव को मिष्ट रस नहीं सुहाता। ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव जिनेन्द्रकथित तत्त्वों की श्रद्धा नहीं लाता है। अयथार्थ तत्त्वों की श्रद्धा पर के उपदेश से या बिना उपदेश से करता रहता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य दंसणपाहुड में कहते हैं:-

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्टा दसंणभट्टा ण सिज्झंति ॥३॥
सम्मत्तरयणभट्टा जाणंता बहुविहाइ सत्थाइं ।
आराहणा विरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥४॥
सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्स कोडीहिं ॥५॥

भावार्थ- जिनका श्रद्धान भ्रष्ट है वे ही भ्रष्ट हैं क्योंकि दर्शनभ्रष्ट बहिरात्मा को कभी निर्वाण का लाभ नहीं हो सकेगा। यदि कोई चारित्रभ्रष्ट हैं परन्तु बहिरात्मा नहीं है तो वे सिद्ध हो सकेंगे। जिनको सम्यग्दर्शनरूपी रत्न की प्राप्ति नहीं है, वे नाना प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं, तो भी रत्नत्रय की आराधना के बिना बारबार संसार में भ्रमण ही करेंगे। जो कोई सम्यग्दर्शन से शून्य बहिरात्मा हैं वे करोड़ों वर्ष तक भयानक कठिन तप का आचरण करते हुए भी रत्नत्रय के लाभ या आत्मानुभव को नहीं पा सकते।

श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासन में कहते हैं:-

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेसु कर्मजनितेषु ।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥१४॥
ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्ना : ।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः ॥१५॥
तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्यन् मुहच्यति द्वेष्टि रज्यते ।
ततो बंधो भ्रमत्येवं मोहव्यूहगतः पुमान् ॥१६॥

भावार्थ- बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव ममकार व अहंकार के दोषों से लिप्त रहता है। शरीर, धन, परिवार, देश ग्रामादि पदार्थ जो सदा ही अपने आत्मा से जुदे हैं व जिनका संयोग कर्म के उदय

से हुआ है उनको अपना मानना ममकार है, जैसे यह शरीर मेरा है। जो कर्म के उदय से होनेवाले रागादि भाव निश्चय से आत्मा से भिन्न हैं, उन रूप ही अपने को रागी, द्वेषी आदि मानना अहंकार है। जैसे मैं राजा हूँ, यह प्राणी इन्द्रियों से पदार्थों को जानकर उसमें मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है, तब कर्मों को बांध लेता है, इस तरह यह बहिरात्मा मोह की सेना में प्राप्त हो, संसार में भ्रमण करता रहता है।

दोहा ८

अन्तरात्मा का स्वरूप

जो परियाणइ अप्प परू जो परभाव चएइ ।
सो पंडिउ अप्पा मुणहिं सो संसार मुएइ ।।

अन्वयार्थ - (जो अप्प परू परियाणइ) जो कोई आत्मा और पर को अर्थात् आप से भिन्न पदार्थों को भले प्रकार पहचानता है **(जो परभाव चएइ)** तथा जो अपने आत्मा के स्वभाव को छोड़कर अन्य सब भावों को त्याग देता है। **(सो पंडिउ)** वही पंडित भेदविज्ञानी अन्तरात्मा है वह **(अप्पा मुणहिं)** अपने आप का अनुभव करता है **(सो संसार मुएइ)** वही संसार से छूट जाता है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि को अन्तरात्मा कहते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पहले गुणस्थान से चढ़कर जब चौथे या एकदम पांचवें या सातवें गुणस्थान पर आता है तब सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हो जाता है। मिथ्यात्व की भूमि को लाघंकर सम्यक्त्व की भूमि पर आने का उपाय यह है कि सैनी पंचेन्द्रिय जीव पांच लब्धियों की प्राप्ति करे।

1. **क्षयोपशमलब्धि** - इसमें ऐसी योग्यता पावे जो बुद्धि तत्त्वों के समझने योग्य हो व जो अपने पापकर्म के उदय को समय समय अनन्तगुणा कम करता जावे अर्थात् जो दुःखों की सन्तान को घटा रहा हो, साता को पा रहा हो, क्योंकि आकुलित चित्तधारी जीवतत्त्व की तरफ उपयोग नहीं लगा सकता है।

2. **विशुद्धिलब्धि** - सुशिक्षा व सत् संगति के प्रताप से भावों में ऐसी कषाय की मंदता हो कि जिससे शुभ व नीतिमय कार्यों की तरफ चलने का प्रेम व उत्साह हो व अशुभ व अनीति से परिणाम अलग रख सकता हो। इस योग्यता की प्राप्ति को विशुद्धिलब्धि कहते हैं।

3. **देशनालब्धि** - अपने हित की खोज में प्रेमी होकर श्री गुरु से व शास्त्रों से धर्मोपदेश ग्रहण करे, मनन करे, धारणा में रखे। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सातों तत्त्वों का स्वरूप व्यवहारनय से और निश्चयनय से ठीक- ठीक जाने। व्यवहारनय से जाने कि अजीव, आस्रव, बन्ध तो त्यागने योग्य हैं व जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये चार तत्त्व ग्रहण करने योग्य हैं। निश्चयनय से जाने की इन सात तत्त्वों में दो ही द्रव्य हैं जीव व कर्म पुद्गल। कर्मपुद्गल त्यागने योग्य है व अपना ही शुद्ध जीवद्रव्य ग्रहण करने योग्य है। तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का लक्षण जानकर उन पर विश्वास लावे। इसतरह आत्मा को व परपदार्थों को ठीक- ठीक समझे। **शुद्ध निश्चयनय से यह भले प्रकार जान ले कि मैं आत्मा द्रव्य हूँ, सिद्ध के समान हूँ, व अपने ही स्वभाव में परिणमन करनेवाला हूँ। रागादि भावों का कर्ता नहीं हूँ व सांसारिक सुख व दुःख का भोगनेवाला नहीं हूँ। मैं केवल अपने ही शुद्ध भाव का कर्ता व शुद्ध आत्मीक आनन्द का भोक्ता हूँ, मैं आठ कर्मों में शरीरादि से व अन्य सर्व आत्मीक द्रव्यों से निराला हूँ। तथा अपने गुणों से अभेद हूँ।** वह अपने आत्मा को ऐसा समझे जैसा श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने **समयसार** में कहा है :-

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुठ्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ।।

भावार्थ- जो कोई अपने आत्मा को पांच तरह से एक अखंड शुद्ध द्रव्य समझे। उसे शुद्धनय जानो।

(1) यह आत्मा **अबद्धस्पृष्ट** है - न तो यह कर्मों से बंधा है और न स्पर्शित है।

(2) यह **अनन्य** है - जैसे कमल जल से निर्लेप है, वह सदा एक आत्मा ही है, कभी नारक देव तिर्यंच नहीं है। जैसे मिट्टी अपने बने बर्तनों में मिट्टी ही रहती है।

(3) यह **नियत** या निश्चल है - जैसे पवन के झकोरे के बिना समुद्र निश्चल रहता है। वैसे यह आत्मा कर्म के उदय के बिना निश्चल है।

(4) यह **अविशेष** या सामान्य है- जैसे सुवर्ण अपने पीत, भारी, चिकने आदि गुणों से अभेद व सामान्य है वैसे यह आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अपने ही गुणों से अभेद या सामान्य है, एकरूप है।

(5) यह **असंयुक्त** है - जैसे पानी स्वभाव से गर्म नहीं है, ठंडा है; वैसे यह आत्मा स्वभाव से परम वीतराग है; रागी, द्वेषी, मोही नहीं है।

शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि पर से भिन्न आत्मा को देखने की होती है। जैसे वास्तव में मैले पानी के भीतर पानी मैल से जुदा है, पानी निर्मल है वैसे ही यह अपना आत्मा शरीर से, आठ, कर्मों से व रागादि से, सर्व परभावों से जुदा है। इस तरह आत्मा का प्रेमी हो जावे व सर्व इन्द्र, चक्रवर्ती नारायण आदि लौकिक पदों से व संसार देह भोगों से उदास होकर उनका मोह छोड़ और अपने आत्मा का मनन करे। आत्मा के मनन के लिये नित्य चार काम करे - (1) अरहंत सिद्ध परमात्मा की भक्ति पूजा करे (2) आचार्य उपाध्याय साधु तीन प्रकार के गुरुओं की सेवा करके तत्त्वज्ञान को ग्रहण करे (3) तत्त्व प्रदर्शक ग्रन्थों का अभ्यास करे (4) एकांत में बैठकर सबेरे सांझ कुछ देर सामायिक करे व भेद विज्ञान से अपने व पर की आत्माओं को एक समान शुद्ध विचारे व राग- द्वेष की विषमता मिटावे।

(4) **प्रायोग्यलब्धि** - इस तरह मनन करते हुए कर्मों की स्थिति घटते घटते अंतः कोड़ा कोड़ी सागर मात्र रह जाती है, तब चौथी प्रायोग्यलब्धि अन्तर्मुहुर्त के लिये होती है तब चौंतीस बन्धापसरण होते हैं। हरएक बन्धापसरण में सात सौ आठ सौ सागर कर्मों की स्थिति घटती है।

(5) **करणलब्धि** - फिर जब सम्यक्त्व के लाभ में एक अन्तर्मुहूर्त बाकी रहता है तब करणलब्धि को पाता है तब परिणाम समय समय अनन्तगुणे अधिक शुद्ध होते जाते हैं। जिन परिणामों के प्रताप से सम्यग्दर्शन को रोकनेवाली अनन्तानुबन्धी चार कषायें व मिथ्यात्व कर्म का अवश्य उपशम हो जावे उन परिणामों की प्राप्ति को करणलब्धि कहते हैं। एक अन्तर्मुहूर्त में यह बहिरात्मा चौथे गुणस्थान में आकर सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हो जाता है।

अन्तरात्मा पंडित को कहते हैं, क्योंकि उसको भेदविज्ञान की पंडा या बुद्धि प्राप्त हो जाती है। उसको यह शक्ति हो जाती है कि जब चाहे तब अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव को ध्यान में लेकर उसका अनुभव कर सके। वह निःशंक होकर तत्त्वज्ञान का मनन करता रहता है। चरित्रमोहनीय के उदय से गृहस्थ योग्य कार्यों को भले प्रकार करता है तो भी उनमें लिप्त नहीं होता। उन सबको नाटक जान के करता है। भीतर से ज्ञाता दृष्टा रहता है। भावना यह कहती है कि कब कर्म का उदय हटे कि मैं केवल एक वीतराग भाव में ही रमण करता रहूँ। ऐसा अन्तरात्मा चार लक्षणो से युक्त होता है।

(1) **प्रशम** - शांतभाव, वह विचार शील होकर हर एक बात पर कारण कार्य का मनन करता है, यकायक क्रोधी नहीं हो जाता।

(2) **संवेग** - वह धर्म का प्रेमी होता है व संसार, शरीर व भोगों से वैरागी होता है।

(3) **अनुकम्पा** - वह प्राणी मात्र पर कृपालु पर दयावान होता है।

(4) **आस्तिक्य** - उसे इस लोक व पर लोक में श्रद्धा होती है।

श्री योगीन्द्रदेव ने परमात्मप्रकाश में कहा है :-

देह विभिण्णउ णाणमउ, जो परमप्पु णिएइ।
परमसमाहि परिट्ठियउ, पंडिउ सो जि हवेइ ॥१४॥

भावार्थ- जो कोई अपने देह से भिन्न अक्पने आत्मा को ज्ञानमई परमात्मारूप में देखता है व परम समाधि में स्थिर होकर ध्यान करता है, वही पंडित अन्तरात्मा है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने दंसणपाहुड में कहा है :-

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेय दव्वं ॥१९॥
जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

भावार्थ- जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल ये द्रव्य हैं। काल को छोड़कर पांच अस्तिकाय हैं। जीवादि सात तत्त्व हैं। पुण्य पाप मिलाकर नौ पदार्थ हैं। उन सबका जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि जानना योग्य है। जिनेन्द्र ने कहा है कि जीवादि का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है व अपने ही आत्मा का यथार्थ श्रद्धान निश्चय सम्यक्त्व है।

समयसारकलश में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं:-

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

भावार्थ- वर्णादि व रागादि सर्व भाव इस आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं। इसलिए जो कोई निश्चय तत्त्व की दृष्टि से अपने भीतर देखता है उसे ये सब रागादि भाव नहीं दिखते हैं, केवल एक परमात्मा ही दिखता है।

सारसमुच्चय में कहा है :-

पण्डितोऽसौ विनीतोऽसौ धर्मज्ञः प्रियदर्शनः।
यः सदाचारसम्पन्नः सम्यक्त्वदृढमानसः ॥४२॥

भावार्थ- जो कोई सम्यग्दर्शन में मजबूत है व सदाचारी है, वही पंडित है, वही विनयवान है, वही धर्मात्मा है, उसी का दर्शन प्रिय है।

दोहा ९

परमात्मा का स्वरूप

णिम्मलु णिक्कलु सुद्ध जिणु विण्हु बुद्धु सिव संतु।
सो परमप्पा जिणभणिउ एहउ जाणि णिभंतु ।।

अन्वयार्थ- **(णिम्मलु)** जो कर्ममल व रागादि मल रहित है **(णिक्कलु)** जो निष्कल अर्थात् शरीर होता है **(सुद्ध)** जो शुद्ध व अभेद एक है **(जिणु)** जिसने आत्मा के सर्व शत्रुओं को जीत लिया है **(विण्हु)** जो विष्णु है अर्थात् ज्ञान की अपेक्षा सर्व लोकालोक व्यापी है, सर्व का ज्ञाता है **(बुद्धु)** जो बुद्ध है अर्थात् स्व- पर तत्त्व को समझने वाला है **(सिव)** जो शिव है, परम कल्याणकारी है **(संतु)** जो परम शांत व वीतराग है **(सो परमप्पा)** वही परमात्मा है **(जिणभणिउ)** ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है **(एकउ णिभंतु जाणि)** इस बात को शंका रहित जान।

भावार्थ- परमात्मा उत्कृष्ट व परम पवित्र आत्मा को कहते हैं जो केवल एक आत्मा ही है, उसके साथ किसी भी पाप- पुण्य रूपी कर्म का संयोग नहीं है, न वह किसी तरह का कषाय भाव, राग, द्वेष, मोह रखता है। उसमें सांसारिक प्राणियों में पाये जाने वाले दोष नहीं है। संसारी प्राणी इच्छा व तृष्णा के वशीभूत होकर मन से किन्ही कार्यों के करने का संकल्प या विचार करते हैं, वचनों से आज्ञा देते हैं, काय से उद्यम वा आरम्भ करते हैं। काम सिद्ध होने पर सन्तोष व सिद्ध न होने पर विषाद करते हैं, किसी पर राजी होते हैं, किसी पर नाराज होते हैं। परमात्मा के भीतर मोह का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है, न मन, वचन, काय हैं। इसलिए कोई प्रकार की इच्छा या कोई प्रकार का प्रयत्न, कोई राग, द्वेष, मोह या विकार, सन्तोष या असन्तोष कुछ भी सम्भव नहीं है। इसलिए परमात्मा में न तो जगत के करने, बनाने व बिगाड़ने का कोई आरोप किया जा सकता है, और न ही सुख- दुख, कर्ममल भुगताने का आरोप किया जा सकता है। वह संसार के प्रपंचजाल में नहीं पड़ सकता है। वह तो परम कृतकृत्य है।

जगत अनादि है, कर्म की जरूरत नहीं। काम इस जगत में या तो स्वभाव से हो जाते हैं जैसे

पानी का भाव (वाष्प) बनना, बादल बनना, पानी बरसना, नदी का बहना, मिट्टी को ले जाना, मिट्टी को जमकर भूमि बन जाना आदि । किन्हीं कामों के करने में इच्छावान संसारी जीव निमित्त हैं। खेती, कपड़ा, बर्तन आदि मनुष्य व घोसलें आदि पक्षी इच्छा से बनाते हैं, इस तरह जगत का काम चल रहा है।

पाप - पुण्य का फल भी स्वयं हो जाता है। कार्माण शरीर में बँधा हुआ कर्म जब पकता है तब उसका फल प्रगट होता है। जैसे क्रोध, मान, माया व लोभ व कामभाव का हो जाना या नित्य ग्रहण किया हुआ भोजन, पानी, हवा का स्वयं रस, रुधिर, अस्थि, चरबी, माँसादि में बन जाना या रोगों का हो जाना, शरीर में बल आ जाना, विष खाने से मरण हो जाना।

यदि परमात्मा इस हिसाब को रखे तो उसे बहुत चिन्ता करनी पड़े। तथा यदि उसे जगत के प्राणियों पर करुणा हो तो वह सर्व शक्तिमान होने से प्राणियों के भाव ही बदल देवे जिससे वे पापकर्म न करें। **जो फल दे सकता है, दंड दे सकता है, वह अपने आधीनों को बुरे कामों से रोक भी सकता है।** परमात्मा सदा स्वरूप में मग्न परमानन्द का अमृतपान करते रहते हैं, उनसे कोई फल देने का विकार या उद्योग सम्भव नहीं है। जब परमात्मा किसी पर प्रसन्न होकर सुख नहीं देता है तब परमात्मा की स्तुति, भक्ति व पूजा करने का क्या प्रयोजन है ?

इसका समाधान यह है कि वह पवित्र है, शुद्ध गुणों का धारी है, उसके नाम स्मरण से, गुण स्मरण से, पूजा भक्ति करने से, भक्तजनों के परिणाम निर्मल हो जाते हैं, राग-द्वेष के मैल से रहित हो जाते हैं, भावों की शुद्धि से पाप स्वयं कट जाते हैं। शुभोपयोग से पुण्य स्वयं बंध जाता है। जैसे जड़ शास्त्रों के पढ़ने व सुनने से परिणामों में ज्ञान व वैराग्य आ जाता है। वैसे परमात्मा की पूजा भक्ति से परिणामों में शुद्ध आत्मा का ज्ञान व संसार से वैराग्य छा जाता है। परमात्मा उदासीन निमित्त है, प्रेरक निमित्त नहीं है। हम सब उनके आलंबन से अपना भला कर लेते हैं। परमात्मा किसी को मुक्ति भी नहीं देते। हम तो परमात्मा की भक्ति के द्वारा जब अद्वैत एक निश्चल अपने ही आत्मा में स्थिर होकर परम समाधि का अभ्यास करेंगे तब ही कर्मों से रहित परमात्मा होंगे। इस कारण से परमात्मा निर्मल है।

परमात्मा के साथ तैजस, कार्माण, आहारक, वैक्रियक या औदारिक किसी शरीर का सम्बन्ध नहीं होता है तथापि वह अमूर्तीक ज्ञानमय आकार को धरनेवाला होता है। जिस शरीर से छूटकर परमात्मा होता है उस शरीर में जैसा ध्यानाकार था वैसा ही आकार मोक्ष होने पर बना

रहता है। आकार बिना कोई वस्तु नहीं हो सकती। **अमूर्तिक द्रव्यों का अमूर्तिक व मूर्तिक पुद्गलरचित द्रव्यों का मूर्तिक आकार होता है।**

परमात्मा शुद्ध है, उसमें कर्ता कर्म आदि कारक नहीं है तथा वह अपने अनन्त गुण पर्यायों का अखण्ड अमिट एक समुदाय है; जिसमें से कोई गुण छूट नहीं सकता है, न कोई नवीन गुण प्रवेश कर सकता है। उसी परमात्मा को जिनेन्द्र कहते हैं; क्योंकि जगत में कोई शक्ति नहीं है कि जो उसको जीत सके व उसे पुनः संसारी या विकारी बना सके। वह सदा विनयशील रहता है। बिना कारण के राग- द्वेष में नहीं फंसता है, न पुण्य को बाँधता है।

परमात्मा पद किसी कर्म का फल नहीं है। किन्तु स्वाभाविक आत्मा का पद है। इसलिए वह कभी विभाव रूप नहीं हो सकता है। वही परमात्मा सच्चा विष्णु है। सर्वज्ञ होने से उसके ज्ञान में सर्व द्रव्यों के गुणपर्याय एक साथ विराजमान हैं। इसीलिए वह सर्वव्यापी विष्णु है। वही सच्चा बुद्ध है, क्योंकि ज्ञाता- दृष्टा है व सर्व अज्ञान से रहित है। वही सच्चाशिव है, मंगलरूप है। उसके भजन से हमारा कल्याण होता है तथा वह परमात्मा परम शांत है, परम वीतराग है।

निश्चय से सिद्ध परमात्मा ही सच्चे परमात्मा है। अरहंत की आत्मा में भी परमात्मा के गुण प्रगट हैं। वे चार अघातीय कर्म सहित हैं, शरीर सहित हैं, परन्तु शीघ्र ही सिद्ध होंगे। इसलिए उनको भी परमात्मा कहते हैं। सर्वज्ञ व वीतराग दोनों ही अरहंत व सिद्ध परमात्मा है।

परमात्मा हमारे लिये आदर्श हैं, हमें उनको पहचानकर उनके समान अपने को बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। परमात्मप्रकाश में कहा हैं :-

अप्पा लद्धउ णाणमउ, कम्मविमुक्के जेण ।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परू, सो परू मुणहिं मणेण ॥१५॥
णिच्चु णिरंजणु णाणमउ, परमाणंदसहाउ ।
जो एहउ से संतु सिउ, तासु मुणिज्झहि भाउ ॥१७॥
वेयहिं सत्थहिं इंदियहिं, जो जिय मुणहु ण जाइ ।
णिम्मल- झाणहं जो बिसउ, सो परमप्पु अणाइ ॥२३॥

भावार्थ- जिसने सर्व कर्मों को दूर करके व सर्व देहादि परद्रव्यों का संयोग हटाकर अपने ज्ञानमय आत्मा को पाया है वही परमात्मा है, उसको शुद्ध मन से जान। वह परमात्मा नित्य है,

निरंजन या वीतराग है, ज्ञानमय है, परमानन्द स्वभाव का धारी है। वही शिव है, शांत है। उसके शुद्ध भाव को पहचाना जिसको वेदों के द्वारा, शास्त्रों के द्वारा, इन्द्रियों के द्वारा जाना नहीं जा सकता। **मात्र निर्मल ध्यान में वह झलकता है। वही अनादि अनन्त, अविनाशी, शुद्ध आत्मा परमात्मा है।**

समाधिशतक में कहा है :-

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥

भावार्थ- परमात्मा कर्ममल रहित है, केवल स्वाधीन है साध्य को सिद्ध करके शुद्ध है, सब द्रव्यों की सत्ता से निराली सत्ता का धारी है, वही अनन्तवीर्य धारी प्रभु है, वही अविनाशी है, परमपद में रहनेवाला परमेष्ठी है, वही श्रेष्ठ आत्मा है, वही शुद्ध गुणरूपी ऐश्वर्य का धारी ईश्वर है, वही परम विजयी जिनेन्द्र है।

श्री समन्तभद्राचार्य स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं -

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥
दुरितमलकलंकमष्टकं निरूपमयोगबलेन निर्दहन्।
अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतुममापि भवोपशान्तये ॥११५॥

भावार्थ- परमात्मा वीतराग है, हमारी पूजा से प्रसन्न नहीं होते। परमात्मा वैर रहित है, हमारी निन्दा से अप्रसन्न नहीं होते। तथापि उनके पवित्र गुणों का स्मरण मन को पाप के मैल से साफ कर देता है। अनुपम योगभ्यास से जिसने आठ कर्म के कठिन कलंक को जला डाला है व जो मोक्ष के अतीन्द्रिय सुख को भोगनेवाला है वही परमात्मा है। मेरे संसार को शांत करने के लिये वह उदासीन सहायक है। उसके ध्यान से मैं संसार का क्षय कर सकूँगा।

दोहा १०

बहिरात्मा पर को आप मानता है

देहादिउ जे पर कहिया ते अप्पाणु मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुणु संसार भमेइ ॥

अन्वयार्थ- **(देहादिउ जे पर कहिया)** शरीर आदि जिनको आत्मा से भिन्न कहा गया है। **(ते अप्पाणु मुणेइ)** उनरूप ही अपने को मानता है। **(सो बहिरप्पा)** वह बहिरात्मा है। **(जिणभणिउ)** ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है **(पुणु संसार भमेइ)** कि वह बारम्बार संसार में भ्रमण करता रहता है।

भावार्थ- आत्मा वास्तव में एक अखंड अमूर्तिक ज्ञानस्वरूपी द्रव्य है। इसका स्वभाव परम शुद्ध है। निर्मल जल के समान यह परम वीतराग व शांत व परमानंदमय है। जैसा सिद्ध परमात्मा सिद्धक्षेत्र में एकाकी निरंजन शुद्धद्रव्य है, वैसा ही यह अपना आत्मा शरीर के भीतर है। अपने आत्मा में और परमात्मा में सत्ता की अपेक्षा अर्थात् प्रदेशों की या आकार की अपेक्षा बिलकुल भिन्नता है, परन्तु गुणों की अपेक्षा बिलकुल एकता है। जितने गुण एक आत्मा में हैं, उतने ही गुण दूसरे आत्मा में हैं। प्रदेशों की गणना भी समान है। हर एक असंख्यात प्रदेश धारी है।

इसतरह का यह आत्मा द्रव्य है। जो कोई ऐसा नहीं मानता किन्तु आत्मा के साथ आठ कर्मों का संयोग संबंध होने में उन कर्मों के उदय या फल से जो जो अशुद्ध अवस्थाएँ आत्मा ही झलकती हैं उनको जो आत्मा का स्वभाव मान लेता है, वह बहिरात्मा है।

जैसे पानी में भिन्न- भिन्न प्रकार का रंग मिला देने से पानी लाल, हरा, पीला, काला, नीला दिखता है। इस रंगीन पानी को कोई असली पानी मान ले तो उसको मूढ़ व अज्ञानी कहेंगे तथा वह पानी के स्थान में रंगीन पानी पीकर पानी का असली स्वाद नहीं पा सकेगा, उसी तरह जो कर्मों के उदय से होने वाली विकारी अवस्थाओं को आत्मा मान लेगा और उस आत्मा का ग्रहण करके उसका ध्यान करेगा उस अज्ञानी को असली आत्मा के ज्ञानानन्द स्वभाव का स्वाद नहीं मिलेगा, वह विपरीत स्वाद को ही आत्मा का स्वाद मान लेगा। ज्ञानावरण, दर्शनवरण, अन्तराय के क्षयोपशम से जो अल्प व अशुद्ध ज्ञान- दर्शन- वीर्य संसारी जीवों में प्रगट होता है वह इन तीन ही प्रकार के कर्मों के उदय से मलीन है।

जहाँ सर्वघाती कर्मस्पर्द्धकों का उदयाभाव लक्षण क्षय हो, अर्थात् बिना फल दिये झड़ना हो तथा आगामी उदय आनेवालों का सत्तारूप उपशम हो तथा देशघाती स्पर्द्धकों का उदय हो उसको क्षयोपशम कहते हैं। इस मलिन अल्प ज्ञान- दर्शन- वीर्य को पूर्ण ज्ञान- दर्शन- वीर्य मानना मिथ्या है। इसी तरह मोहनीय कर्म के उदय से क्रोध, मान, माया, लोभ भाव या हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा व स्त्रीवेद, पुंवेद व नपुंसक वेद भाव होता है। कभी लोभ का

तीव्र उदय होता है तब उसको **अशुभराग** कहते हैं, कभी लोभ का मन्द उदय होता है तब उसे **शुभराग** कहते हैं।

मान, माया व क्रोध के तीव्र उदय को भी **अशुभभाव**, मन्द उदय को शुभ राग का सहकारी हो, तो **शुभभाव** कहते हैं। पूजा भक्ति, दान परोपकार, सेवा, क्षमा, नम्रता, सरलता, सत्य, सन्तोष, संयम उपवासादि, तप, आहार, औषधि अभय व विद्यादान, अल्प ममत्व व ब्रह्मचर्य पालन आदि भावों को शुभभाव या **शुभोपयोग** कहते हैं। ऐसे भावों से पुण्यकर्म का बन्ध होता है।

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, मूर्छा, जुआ खेलना, मांसाहार, मदिरापान, शिकार, वेश्या सेवन, परस्त्री सेवन, पर का अपकार, दुष्ट व्यवहार, इन्द्रियों की लोलुपता, तीव्र अहंकार, कपट से ठगना, तीव्र क्रोध, तीव्र लोभ, तीव्र कामभाव आदि भावों को अशुभभाव या अशुभोपयोग कहते हैं। इन अशुभ भावों से पापकर्म का बंध होता है। इन मोहनीय कर्मजनित मलीन व अशुचि, आकुलताकारी, दुःखप्रद, शांतिविघातक भावों को आत्मा का भाव मान लेना मिथ्या है।

अघातीय कर्मों में आयुकर्म के उदय से नरक, तिर्यंच, मानव, देव इन चार प्रकार के शरीरों में आत्मा कैद रहता है। इस कैदखाने को आत्मा का घर मानना मिथ्या है। नामकर्म के उदय से शरीर की सुन्दर, असुन्दर, निरोगी, सरोगी, बलिष्ट, निर्बल आदि अनेक अवस्थाएं होती हैं उनको आत्मा मानना मिथ्या है। गोत्रकर्म के उदय से नीच व ऊंच कुलवाला कहलाता है। उन कुलों को आत्मा मानना मिथ्या है। वेदनीयकर्म के उदय से साताकारी व असाताकारी शरीर की अवस्था होती है या धन, कुटुम्ब, राज्य, भूमि, वाहन घर आदि बाहरी अच्छे व बुरे चेतन व अचेतन पदार्थों का सम्बन्ध होता है, उनको अपना मानना मिथ्या है।

बहिरात्मा अज्ञान से कर्म जनित दशाओं के भीतर आपापना मान कर अपने आत्मा के सच्चे स्वभाव को भूले हुए कभी भी निर्वाण का लाभ नहीं पा सकता। निरन्तर शुभ- अशुभ कर्म बांधकर एक गति से दूसरी में, दूसरी से तीसरी में इसतरह अनादि काल से भ्रमण करता चला आया है।

यदि कोई साधु या गृहस्थ का चारित्र पाले और इसे भी आत्मा का स्वभाव जान ले व **मैं साधु या मैं श्रावक ऐसा अहंकार करे तो वह भी बहिरात्मा है।**

यद्यपि ज्ञानी, श्रावक या साधु का आचरण पालता है तो भी वह उसे विभाव जानता है, आत्मा का स्वभाव नहीं जानता। परम शुद्धोपयोग भावरूप ही आत्मा है। शुक्ल ध्यान जो साधु के होता है वह परम शुद्धोपयोग नहीं है, क्योंकि दशवें गुणस्थान तक तो मोह का उदय मिला हुआ है। ग्यारहवें बारहवें में अज्ञान है, पूर्ण ज्ञान नहीं, इसलिए इस अपरम शुद्धोपयोग को भी आत्मा का स्वभाव मानना मिथ्याभाव है।

श्री समयसार में कहा है :-

परमाणुमित्तियं वि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥२१४॥

भावार्थ- जिसके भीतर परमाणु मात्र थोड़ा सा भी अज्ञान सम्बन्धी रागभाव है कि परद्रव्य या परभाव आत्मा है वह श्रुतकेवली के समान बहुत शास्त्रों का ज्ञाता है तो भी वह आत्मा को नहीं पहचानता है, इसलिए बहिरात्मा है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आचार्य श्री अमृतचन्द्र कहते हैं -

परिणममाणो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्ततया।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥
जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥
परिणममाणस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥
एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४॥

भावार्थ- यह जीव अनादिकाल की परिपाटी से ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय के साथ परिणमन या व्यवहार करता हुआ जो अपने अशुद्ध परिणाम करता है उन ही का यह अज्ञानी जीव अपने को कर्ता तथा भोक्ता मान लेता है कि मैंने अच्छा किया या बुरा किया, या मैं सुखी हूँ या दुखी हूँ। इस अज्ञान मई जीव के परिणामों का निमित्त पाकर दूसरी पौद्गलिक कर्मवर्गणाएं स्वयं कर्मरूप होकर बंध जाती है। जब यह जीव स्वयं अपने अशुद्ध भावों में परिणमन करता है तब उस समय पूर्व में बंधा पौद्गलिक कर्म उदय में आकर उस अशुद्ध भाव का निमित्त होता

है। **इस तरह कर्म फल भावों को व कर्मों के बंध को व कर्म के उदय को बहिरात्मा अपना मान लेता है।** निश्चय से आत्मा उन सर्व कर्मकृत भावों से जुदा है। तो भी अज्ञानी बहिरात्माओं के यह प्रतिभास या भ्रम रहता है कि ये सब भाव या विकार या दशा मेरी ही हैं। कर्मकृत परिणामों को या रचना को जो निश्चय से पर है, अपनी स्वाभाविक परिणति या दशा मान लेना संसार भ्रमण का बीज है। यह बीज संसार वृक्ष को बढ़ाता है। **बहिरात्मा अन्धा मोही होकर संसार वन में भटकता रहता है।**

दोहा ११

ज्ञानी पर को आत्मा नहीं मानता है

देहादिउ जे परकहिया ते अप्पाणु ण होहिं।
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ अप्पा अप्प मुणेहिं॥

अन्वयार्थ- **(देहादिउ जे परकहिया)** शरीर आदि अपने आत्मा से भिन्न कहे गये हैं **(ते अप्पाणु ण होहिं)** वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते व उन रूप आत्मा नहीं हो सकता अर्थात् आत्मा के नहीं हो सकते **(इउजाणेविणु)** ऐसा समझकर **(जीव)** हे जीव! **(तुहुँ अप्पा अप्प मुणेहिं)** तू अपने को आत्मा पहचान, यथार्थ आत्मा का बोध कर।

भावार्थ- बहिरात्मा जहाँ परवस्तुओं को व परभावों को अपना आत्मा मानता है, वहाँ अन्तरात्मा ऐसा नहीं मानता है। वह मानता है कि आत्मा आत्मारूप ही है। आत्मा का स्वभाव सर्व अन्य आत्माओं से व पुद्गलादि पाँच द्रव्यों से व आठ कर्मों से व आठ कर्मों के फल से, सर्व रागादि भावों से निराला परम शुद्ध है। भेद विज्ञान की कला से वह आत्मा को पर से बिलकुल भिन्न श्रद्धान रखता है। भेदविज्ञान की शक्ति से ही भ्रमभाव का नाश होता है। हंस दूध को पानी से ग्रहण करता है, किसान धान्य में चावल को भूसी से अलग जानता है। सुवर्ण माला में सर्राफ सुवर्ण को धागे आदि से भिन्न समझता है। पकी हुई साग, भाजी में लवण का स्वाद भी साग से भिन्न समझदार को आता है। चतुर वैद्य एक गुटिका में सर्व औषधियों को अलग- अलग समझता है। इसी तरह ज्ञानी अन्तरात्मा आत्मा को सर्व देहादि पर द्रव्यों से भिन्न जानता है।

आत्मा वास्तव में अनुभवगम्य है। मन में इसका यथार्थ चिन्तवन नहीं हो सकता; वचनों से इसका वर्णन नहीं हो सकता, शरीर से इसका स्पर्श नहीं हो सकता, क्योंकि मन का काम क्रम

से किसी स्वरूप का विचार करना है। वचनों से एक ही गुण या स्वभाव एक साथ कहा जा सकता है। शरीर मूर्तिक स्थूल द्रव्य को ही स्पर्श कर सकता है जबकि आत्मा अनन्तगुण व पर्यायों का अखण्ड पिंड है। केवल अनुभव में ही इसका स्वरूप आ सकता है। वचनों से मात्र संकेत रूप से कहा जाता है। मन के द्वारा क्रम से ही विचारा जा सकता है। इसलिए यह उपदेश है कि पहले शास्त्रों के द्वारा या यथार्थ गुरु के उपदेश से आत्मा द्रव्य के गुण व पर्यायों को समझ ले, उसके शुद्ध स्वभाव को भी जाने तथा पर के संयोग जनित अशुद्ध स्वभाव को भी जाने अर्थात् द्रव्यार्थिकनय तथा पर्यायार्थिकनय से या निश्चयनय तथा व्यवहारनय से आत्मा को भले प्रकार जाने।

इस आत्मा का सम्बन्ध किसी परवस्तु से नहीं है। यह आत्मा अपने ही ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों का स्वामी है। इसका धन इसकी गुण सम्पदा है, इसका निवास या घर इसी का स्वभाव है। इस आत्मा का भोजन पान आदिक आनन्द अमृत है। आत्मा में ही सम्यग्दर्शन है, आत्मा में ही सम्यग्ज्ञान है, आत्मा में ही सम्यक्चारित्र है, आत्मा में ही सम्यक् तप है, आत्मा में ही संयम है, आत्मा में ही त्याग है, आत्मा में ही संवर तत्व है, आत्मा में ही निर्जरा है, आत्मा में ही मोक्ष है। जिसने अपने उपयोग को आत्मा में जोड़ दिया उसने मोक्षमार्ग पा लिया।

आत्मा आप ही से आप में क्रीड़ा करता हुआ शनैः शनैः शुद्ध होता हुआ परमात्मा हो जाता है। जितनी मन, वचन, काय की शुभ व अशुभ क्रियाएँ हैं वे सब पर हैं, आत्मा नहीं हैं। चौदह गुणस्थान की सीढ़ियाँ भी आत्मा का निज स्वभाव नहीं है। आत्मा परम पारणामिक एक जीवत्व भाव का धनी है, जिसका प्रकाश कर्म रहित सिद्ध गति में होता है। जहाँ सिद्धत्वभाव है। **अन्तरात्मा अपने आत्मा का परभावों का अकर्ता व अभोक्ता देखता है। वह जानता है कि आत्मा ज्ञान चेतनामय है अर्थात् यह मात्र शुद्ध ज्ञान का स्वाद लेनेवाला है। इसमें रागद्वेष रूप कार्य करने के अनुभवरूप कर्म- चेतना तथा सुख- दुःख भोगने रूप कर्मफल चेतना नहीं है।**

आत्मा का पहचानने वाला अन्तरात्मा एक आत्मरसिक हो जाता है, आत्मानन्द का प्रेमी हो जाता है, उसके भीतर से विषयभोग जनित सुख की श्रद्धा मिट जाती है, वह एक आत्मानुभव को ही अपना कार्य समझता है, उसके सिवाय जो व्यवहार में गृहस्थ या मुनि अन्तरात्मा को

कर्तव्य करना पड़ता है वह सब मोहनीय कर्म के उदय की प्रेरणा से होता है। इसलिए ज्ञानी अन्तरात्मा सर्व ही धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ की चेष्टा को आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं मानता है। आत्मा तो स्वभाव से सर्व चेष्टारहित निश्चल परम कृतकृत्य है।

इसतरह आत्मा को केवल आत्मा रूप ही टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा परमानन्दमय समझकर उसी में रमण करने का अत्यन्त प्रेमी हो जाना अन्तरात्मा का स्वभाव बन जाता है। तीन लोक की संपत्ति को वह आदर से नहीं देखता है, उसकी प्रतिष्ठा का स्थान केवल अपना ही शुद्ध स्वभाव है। इसी कारण से सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा को मोह मुक्त कहते हैं। यह यथार्थ ज्ञान से व परम वैराग्य से पूर्ण होता है। परम तत्त्व का एक मात्र रूचिवान होता है। उसकी दृष्टि एक शुद्ध आत्मतत्त्व पर जम जाती है।

समयसार में कहा है :-

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण हु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमेक्को ।।२०८।।
उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमेक्को ।।२१०।।
उप्पण्णोदयभोगे विओगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं ।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ।।२२८।।

भावार्थ- राग पुद्गल कर्म है, उसके फल से आत्मा में राग भाव होता है। यह कर्मकृत विकार है, मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायक भाव का धारी आत्मा हूँ। जिनेन्द्रों ने कहा है कि कर्मों के उदय से जो नाना प्रकार का फल होता है, वह सब मेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है। मैं तो एक ज्ञायकभाव का धारी आत्मा हूँ। कर्मोदय से प्राप्त वर्तमान भोगों में भी ज्ञानी के आदर नहीं है, वियोग बुद्धि ही है। तब ज्ञानी आगामी भोगों की इच्छा कैसे कर सकता है ?

समयसार कलश में कहा है :-

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ।।१४।।

भावार्थ- ज्ञानी अपनी आत्मवस्तु के स्वभाव को ठीक- ठीक जानता है, इसलिए रागादि भावों को कभी आत्मा का धन नहीं मानता है, आप उनका कर्ता नहीं होता है, वे कर्मोदय से होते हैं,

यह उनका जाननेवाला है।

बृहत सामायिक पाठ में भी अमितगति आचार्य कहते हैं -

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भावः परे विद्यते,
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्म्मसमितिं ज्ञानेक्षणालंकृति ।
यस्यैषा- मति रस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्त्वस्थिते,
बंधस्तस्य न मंत्रितस्त्रिभुवनं सांसारिकैर्बंधनैः ॥११॥

भावार्थ- अंतरात्मा ज्ञानी विचारता है कि मैं तो ज्ञान नेत्रों से अलंकृत व सर्व कर्म समूह से रहित एक आत्मा द्रव्य हूँ। उसके सिवाय कोई परद्रव्य या परभाव मेरा नहीं है, न मैं किसी का संबंधी हूँ। जिस आत्मीक तत्त्व के ज्ञाता के भीतर ऐसी निर्मल बुद्धि सदा रहती है उसका सांसारिक बंधनों से बंधन तीन लोक में कहीं भी नहीं हो सकता।

श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासन में कहते हैं :-

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता दृष्टा सदाप्युदासीनः ।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः प्रथग्गगनवदमूर्त्तः ॥१५३॥

भावार्थ- मैं सत् भाव द्रव्य हूँ , चैतन्यमय हूँ, ज्ञाता दृष्टा हूँ। सदा ही वैराग्यवान हूँ। यद्यपि शरीर में शरीर प्रमाण हूँ तो भी शरीर से जुदा हूँ। आकाश के समान अमूर्तिक हूँ।

दोहा १२

आत्मज्ञानी ही निर्वाण पाता है

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तउ णिव्वाण लहेहि ।
पर अप्पा जइ मुणसि तुहुँ तहु संसार भमेहि ॥

अन्वयार्थ - (जइ) यदि **(अप्पा अप्पउ मुणहि)** आत्मा को आत्मा समझेगा **(तउ णिव्वाण लहेहि)** तो निर्वाण को पावेगा **(जउ)** यदि **(पर अप्पा मुणहि)** परपदार्थों को आत्मा मानेगा **(तहु तुहुँ संसार भमेहि)** तो तू संसार में भ्रमण करेगा।

भावार्थ- निर्वाण उसे कहते हैं जहाँ आत्मा सर्व राग, द्वेष, मोहादि दोषों से मुक्त होकर व सर्व कलंक से छूट कर शुद्ध सुवर्ण के समान पूर्ण शुद्ध हो जावे और फिर सदा ही शुद्ध भावों में ही कल्लोल करे व निरन्तर आनन्दामृत का स्वाद लेवे। वह आत्मा का स्वाभाविक पद है। इस

निर्वाण का साधन भी अपने ही आत्मा को आत्मारूप समझकर उसी का वैसा ही ध्यान करना है।

हर एक कार्य के लिये उपादान और निमित्त दो कारणों की जरूरत है। मूल कारण को उपादान कारण कहते हैं। जो स्वयं कार्य रूप हो जावे। सहायक कारणों को निमित्त कारण कहते हैं। घड़े के बनाने में मिट्टी उपादान कारण है, कुम्हार चाक आदि निमित्त कारण हैं। कपड़े के बनाने में कपास उपादान कारण है, चरखा करघा आदि निमित्त कारण हैं। सुवर्ण की मुद्रिका बनाने में सुवर्ण उपादान कारण है, सुवर्णकार उसके शस्त्र व अग्नि आदि निमित्त कारण हैं।

इसी तरह आत्मा के शुद्ध होने में उपादान कारण आत्मा ही है, निमित्त कारण व्यवहार रत्नत्रय है, मुनि व श्रावक का चारित्र है, बारह तप है, मन- वचन- काय की क्रिया का निरोध है। निमित्त के होते हुए उपादान काम करता है। जैसे अग्नि का निमित्त होते हुए चांवल भात के रूप में बदलता है, दोनों कारणों की जरूरत है। साधक को या मुमुक्षु को सबसे पहले व्यवहार सम्यग्दर्शन द्वारा अर्थात् परमार्थ देव, शास्त्र, गुरू के श्रद्धान द्वारा मनन करके भेद ज्ञान की दृढ़ता से अपने आत्मा की प्रतीति रूप निश्चय सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिए। तब ही आत्मज्ञान का यथार्थ उदय हो जायेगा, वीतराग का अंश झलक जायेगा, संवर व निर्जरा का कार्य प्रारंभ हो जायेगा। मोक्षमार्ग का उदय हो जायेगा। कर्मों का बन्ध जब राग द्वेष मोह से होता है। तब कर्मों का क्षय वीतराग भाव से होता है। वीतराग भाव अपने ही आत्मा का राग द्वेष मोह रहित परिणमन का वर्तन है। मुमुक्षु का कर्तव्य है कि वह बुद्धिपूर्वक परिणामों को वीतराग भाव में लाने का पुरुषार्थ करे। तब कर्म स्वयं झड़ेंगे व नवीन कर्म के आस्रव का संवर होगा।

राग, द्वेष, मोह के पैदा होने में भीतरी निमित्त मोहकर्म का उदय है, बाहरी निमित्त दूसरे चेतन व अचेतन पदार्थों का संयोग व उनके साथ व्यवहार है। इसलिए बाहरी निमित्तों को हटाने के लिये श्रावक के बारह व्रतों की प्रतिज्ञा लेकर ग्यारह प्रतिमा की पूर्ति तक बाहरी परिग्रह को घटाते घटाते एक लंगोट मात्र पर आना होता है। फिर निर्ग्रन्थ दशा धारण करके बालक के समान नग्न हो जाना पड़ता है, साधु का चारित्र पालना पड़ता है, एकांत में निवास करना पड़ता है, निर्जन स्थानों में आसन जमाकर आत्मा का ध्यान करना पड़ता है, अनशन, ऊनोदर, रसत्याग आदि तप से ही इच्छा का निरोध करना पड़ता है। सर्व श्रावक का या साधु का व्यवहार चारित्र पालते हुए बाहरी निमित्त मिलाते हुए साधक की दृष्टि उपादान कारण को उच्च बनाने की तरफ रहनी चाहिए अर्थात् अपने ही शुद्धात्मा के स्वभाव में रमण करने की व स्थिर होने की परम चेष्टा रहनी

चाहिए।

साधक को बाहरी चारित्रों में निमित्त मात्र से सन्तोष नहीं करना चाहिए। जब आत्मा आत्मसमाधि में व आत्मानुभव में वर्तन करे तब ही कुछ फल हुआ, तब ही मोक्षमार्ग सधा- ऐसा भाव रखना चाहिए, क्योंकि जब तक शुद्धात्मा का ध्यान होकर शुद्धोपयोग का अंश नहीं प्रगट होगा तब तक संवर व निर्जरा के तत्त्व नहीं प्रगट होंगे। तब तक आत्मा की एकदेश शुद्धि नहीं होगी। निश्चय से ऐसा समझना चाहिए कि निर्वाण का मार्ग एक आत्मध्यान की अग्नि का जलना है, एक आत्मानुभव है, आत्मा का आत्मारूप ज्ञान है, आप ही आपको शुद्ध करता है, उपादान कारण आप ही है। **यदि परिणामों में आत्मानुभव नहीं प्रगटे तो बाहरी चारित्र से शुभ भावों के कारण बंध होगा, संसार बढ़ेगा, मोक्ष का साधन नहीं होगा।**

इसके विरोध में जब कि आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा व जब तक आत्मा को अन्यरूप मानता रहेगा, जैसा उसका जिनेन्द्र भगवान कथित स्वरूप है वैसा नहीं मानेगा, आत्मा को सांसारिक विकार का कर्ता व भोक्ता मानेगा व जब तक परमाणु मात्र भी मोह अपने आत्मा के सिवाय परपदार्थों में रहेगा तब तक मिथ्यात्व की कालिमा नहीं मिटी ऐसा समझना होगा।

मिथ्यात्व की कालिमा के होते हुए बाहरी साधु का व गृहस्थ का चारित्र पालते हुए भी संसार ही बढ़ेगा। विशेष पुण्य बांधकर शुभगति में जाकर फिर अशुभ गति में चला जायेगा। जहाँ तक आत्मा का आत्मारूप श्रद्धान नहीं होगा, वहाँ तक मिथ्यादर्शन का अनादि रोग दूर नहीं होगा, पर्यायबुद्धि का अहंकार नहीं मिटेगा। विषय भोगों की कामना का अंश जब तक नहीं मिटेगा, तब तक मिथ्या भाव नही हटेगा, विषय- भोगों का सुख त्यागने योग्य है, यह श्रद्धान जब तक न होगा तक तक मिथ्यात्व न हटेगा।

मिथ्यादृष्टि रूचिपूर्वक आसक्ति से विषय भोग करता है। सम्यक्ती गृहस्थ अनासक्ति से व कर्मों के उदय से लाचार होकर विषय भोग करता है व भावना भाता है कि यह कर्म का विकार शीघ्र दूर हो तो ठीक है। भोगों से पूर्ण वैराग्य भाव ज्ञानी के होता है। अज्ञानी के व मिथ्यादृष्टि के तप करतें हुए भी भोगों से राग भाव रहता है, इसी से उसका संसार बढ़ता है, वह संसार से पार होने का मार्ग नहीं पाता है।

श्री समयसार में कहा है :-

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ।।१६०।।
परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तम्हि ठिदा सभावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।।१६१।।
परमट्ठम्मि य अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हु ।।१६२।।

भावार्थ- श्री जिनेन्द्र का ऐसा उपदेश है कि रागी जीव कर्मों में बँधता है। वैराग्य से पूर्ण जीव कर्म से छूटता है इसलिए बंध के कारक शुभ व अशुभ कार्यों में राग नहीं करो।

निश्चय से परम पदार्थ एक आत्मा है। वही अपने स्वभाव में एक ही काल परिणमन करने से व जानने से समय है, वही एक ज्ञानमय निर्विकार होने से शुद्ध है, वही स्वतन्त्र चैतन्यमय होने से केवली है, वही मनन मात्र होने से मुनि है, वही ज्ञानमय होने से ज्ञानी है। जो मुनिगण ऐसे अपने ही आत्मा के स्वभाव में स्थिर होते हैं, आत्मस्थ होते हैं वे ही निर्वाण को पाते हैं। जो कोई परम पदार्थ अपने आत्मा की स्थिति न पाकर तप तथा व्रत पालता है उस सर्व तप या व्रत को जो आत्मज्ञान या आत्मानुभव की चेष्टा से शून्य है, सर्वज्ञ भगवान ने अज्ञान तप व अज्ञान व्रत कहा है।

श्री समयसार कलश में कहा हैं :-

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल ।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ।।१४३।।

भावार्थ- निर्वाण का पद शुभ क्रियाओं के करने से कभी प्राप्त नहीं हो सकता। वह तो सहज आत्मज्ञान की कला से सहज में मिलता है। इसलिए जगत् के मुमुक्षुओं का कर्तव्य है कि वे आत्मज्ञान की कला के बल से सदा ही उसी का यत्न करें।

श्री तत्वानुशासन में कहा है :-

पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यर्जितान्मलान् ।
निरस्ताहंममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान् ।।१७८।।

भावार्थ- जो कोई परपदार्थों में अहंकार ममकार का त्याग करके एकाग्रभाव से अपने आत्मा का अनुभव करता है वह पूर्व संचय किये हुए कर्ममलों को नाश करता है तथा नवीन कर्मों का

संवर भी करता है।

दोहा १३

इच्छा रहित तप ही निर्वाण का कारण है

इच्छारहिउ तव करहि अप्पा मुणेहि ।
तउ लहु पावइ परमगइ पुण संसार ण एहि ।।

अन्वयार्थ- **(अप्पा)** हे आत्मा **(इच्छा रहियउ तव करहि)** यदि तू इच्छा रहित होकर तप करे **(अप्प मुणेहि)** व आत्मा का अनुभव करे **(तउ लहु परमगइ पावइ)** तो तू शीघ्र ही परम गति को पावे **(पुण संसार ण एहि)** फिर निश्चय से कभी संसार में नहीं आवे।

भावार्थ- जैसे मलीन सुवर्ण अग्नि में मसाला डालने से शुद्ध होता है, उसका मैल कटता है, वैसे तप की अग्नि में ज्ञान वैराग्य का मसाला डालने से यह अशुद्ध आत्मा कर्ममैल को काटकर शुद्ध होता है। शुद्ध सुवर्ण जो कुन्दन है वह फिर कभी मलीन नहीं होता है अर्थात् मलीन किट्ट कालिमा से नहीं मिलता है, वैसे ही शुद्ध व मुक्त आत्मा फिर कर्मों के बंधन में नहीं पड़ता है, फिर संसार में जन्म व मरण नहीं करता है।

इसलिए मुमुक्षु को तप का अभ्यास करना चाहिए। तप करते हुए किसी प्रकार की इच्छा नहीं रखना चाहिए कि तप से नारायण, प्रतिनारायण बलदेव, चक्रवर्ती, इन्द्र, अहमिन्द्रपद या कोई सांसारिक विभूति या सांसारिक सुख प्राप्त हो या मान बड़ाई यश हो या शत्रु का क्षय हो। इस लोक की या परलोक की कोई वांछा तपस्वी को नहीं रखना चाहिए। केवल यही भावना करे कि मेरी आत्मा शुद्ध होकर निर्वाण का लाभ करे। इस शुद्ध निर्विकार भावना से किया हुआ तप ही यथार्थ तप है। तप दो प्रकार का है निश्चय तप व्यवहार तप। अपने ही शुद्ध आत्मा के श्रद्धान व ज्ञान में तपना व लीन होना निश्चय तप है। उसके निमित्त रूप बारह प्रकार की तप करना व्यवहार तप है। निमित्त का संयोग मिलने से उपादान की प्रगटता होती है। बारह तप के द्वारा निश्चय तप जो आत्मानुभव है वह बढ़ता है।

बाह्य तप छः प्रकार के हैं। जो तप बाहरी शरीर की अपेक्षा से हों व दूसरों को प्रत्यक्ष दिखें वे बाहरी तप हैं। उनके छः भेद इसप्रकार हैं -

(1) अनशन - खाद्य (पेट भरने योग्य), स्वाद्य (इलायची लों सुपारी आदि), लेहच्य (चाटने

योग्य चटनी आदि), पेय (पीने योग्य पानी) इन चार प्रकार के आहार का त्याग एक दिन दो दिन आदि काल के नियम से या समाधिमरण के समय जन्म पर्यंत करना उपवास तप है। इससे इन्द्रियों पर विजय, राग का नाश, ध्यान की सिद्धि व कर्म का क्षय होता है। उपवास करके निश्चय तप का साधन करे।

(2) **अवमोदर्य** - कम भोजन करना। इससे रोग शमन, आलस्य विजय, निद्रा विजय होता है व स्वास्थ्य तथा ध्यान की सिद्धि होती है।

(3) **वृत्तिपरिसंख्यान** - भिक्षा को जाते हुए एक आदि घरों का किसी वस्तु की प्राप्ति का नियम करना। भोजन लाभ न होने पर सन्तोष रखना आशा को जीतना।

(4) **रस परित्याग** - घृत, दूध, दही, शक्कर, लवण, तैल इन छः रसों में से एक दो चार या सबका त्याग करना। इससे इन्द्रियविजय, ब्रह्मचर्य रक्षा, निद्रा विजय होकर स्वाध्याय व ध्यान की सिद्धि होती है।

(5) **विविक्त शय्यासन** - स्त्री, पुरूष, नपुंसक रहित व जन्तु पीड़ा रहित निर्जन स्थानों में शयन, आसन करना, जिससे बाधा रहित ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय व ध्यान की सिद्धि हो सके।

(6) **कायक्लेश** - धूप में, वृक्ष मूल में, मैदान में, पर्वत पर, गुफा मे नाना प्रकार के आसनों के द्वारा कठोर तप करना। इससे देह का ममत्व घटता है व सुखिया स्वभाव मिटता है व ध्यान की सिद्धि होती है। इसमें ध्यान का अभ्यासी शरीर की शक्ति देखकर कठिन तप करता है, परिणामों में आर्तध्यान हो जावे ऐसा क्लेश नहीं सहता है।

छः अभ्यन्तर तप हैं। इनको अभ्यन्तर इसलिए कहते हैं कि इनमें मन के निग्रह करने की व परिणामों की निर्मलता की मुख्यता है। वे छः ये हैं -

(1) **प्रायश्चित** - प्रमाद से लगे हुए दोषों की शुद्धि स्वयं या गुरु द्वारा दण्ड लेकर करते रहना। जैसे कपड़े पर कीच या छींटा पड़ने पर उसे तुरंत धो डालने से वस्त्र साफ रहता है, वैसे ही मन, वचन, काय द्वारा दोष हो जाने पर उसको आलोचना, प्रतिक्रमण तथा प्रायश्चित लेकर दूर कर देना चाहिए तब परिणाम निर्मल रह सकेंगे।

(2) **विनय** - बड़े आदर से ज्ञान को बढ़ाना, श्रद्धान को पक्का रखना चारित्र को पालना व पूज्य पुरूषों में विनय से वर्तना, उनके गुण स्मरण करना विनय तप है।

(3) **वैयावृत्य**- साधु, आर्यिका, श्रावक, श्राविका आदि की सेवा करना। रोग, अन्य परिषह

व परिणामों की शिथिलता आदि होने पर शरीर से व उपदेश से या अन्य उपाय से आकुलता मेटना वैयावृत्य या सेवा तप है। इससे ग्लानि का अभाव वात्सल्य गुण, धर्म की रक्षा आदि तप होता है। महान पुरूषों की सेवा से ध्यान व स्वाध्याय की सिद्धि होती है।

(4) स्वाध्याय- ज्ञान भावना व आलस्य त्याग के लिए पांच प्रकार स्वाध्याय करना योग्य है:- (1) निर्दोष ग्रन्थ को पढ़ना व पढ़ाना और सुनना और सुनाना (2) संशय छेद व ज्ञान की दृढ़ता के लिए प्रश्न करना (3) जाने हुए भाव को बारम्बार विचारना (4)शुद्ध शब्द व अर्थ को यादकर कण्ठ करना (5) धर्म का उपदेश देना। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय व धर्मोपदेश ये पांच नाम हैं। इससे ज्ञान का अतिशय बढ़ता है, परम वैराग्य होता है एवं दोषों की शुद्धि का ध्यान रहता है।

(5) व्युत्सर्ग- बाहरी शरीर धन गृहादि से व अन्तरंग रागादि भावों से विशेष ममता का त्याग करना, निर्लेप हो जाना, असंग भाव को पाना व्युत्सर्ग तप है।

(6) ध्यान - किसी एक ध्येय में मन को रोकना ध्यान है। धर्म ध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं, उनका अभ्यास करना योग्य है। आर्तध्यान व रौद्रध्यान से बचना योग्य है।

तप करना व तप का आराधन निर्वाण के लिए बहुत आवश्यक है। निश्चय तप की मुख्यता से तप किये बिना कर्मों की निर्जरा नहीं होती है। तप से संवर व निर्जरा दोनों होते हैं।

श्री समयसार में कहा है:-

अप्पाणमप्पणो रूंधिदूण दोसु पुण्णपावजोगेसु ।
दंसणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि ।।१८०।।
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ।।१८१।।
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमइओ अणण्णमणो ।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्म णिम्मुक्कं ।।१८२।।

भावार्थ- पुण्य व पाप बन्ध के कारक शुभ व अशुभ योगों से अपने आत्मा को आत्मा के द्वारा रोककर जो आत्मा अन्य परद्रव्यों की इच्छा से विरक्त हो। सर्व परिग्रह की इच्छा से रहित हो, दर्शन ज्ञानमयी आत्मा में स्थिर बैठकर आपसे अपने को ही ध्याता है। भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म को रंचमात्र स्पर्श नहीं करता है, केवल एक शुद्धभाव का ही अनुभव करता है, वह एकाग्र मन हो स्वयं दर्शन ज्ञानमय होकर आत्मा को या मोक्ष को पा लेता है।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं:-

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः ।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ।।१७४।।
मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान् मूलांकुराविव ।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ।।१८२।।
अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो,
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम् ।
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः,
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ।।१८९।।

भावार्थ- आत्मा का स्वभाव ज्ञानमय है। उस स्वभाव की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं, इसलिए मोक्ष के वांछक को ज्ञान की भावना भानी चाहिये। जैसे बीज से मूल व अंकुर होते हैं, वैसे मोह के बीज से राग- द्वेष पैदा होते हैं। इसलिए जो इन राग द्वेषों को जलाना चाहे, उसे ज्ञान की आग जलाकर उनको भस्म कर देना चाहिए। हे भव्य ! तू सर्व शास्त्रों को पढ़कर व चिरकाल तक घोर तप तपकर यदि इन दोनों का फल सांसारिक लाभ या पूजा प्रतिष्ठा आदि चाहता है तो तू जड़बुद्धि होकर सुन्दर तप रूपी वृक्ष की जड़ को ही काट रहा है, किस तरह तू रसीले पके फल को अर्थात् मोक्ष के फल को पा सकेगा।

श्री कुन्दाकुन्दाचार्य भावपाहुड में कहते हैं :-

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो ।
सयलो झाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ।।८९।।

भावार्थ- जिनका भाव शुद्ध आत्मा में स्थिर नहीं है, उनका बाहरी परिग्रह का त्याग, पहाड़, नदी, तट, गुफा, कन्दरा आदि का रहना, ध्यान व पठन- पाठन सर्व निरर्थक है।

दोहा १४

परिणामों से ही बंध व मोक्ष होता है

परिणामे बंधुजि कहिउ मोक्ख वि तह जि वियाणि ।
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ तह भावहु परियाणि ।

अन्वयार्थ- **(परिणामे बंधुजि कहिउ)** परिणामों से ही कर्म का बंध कहा गया है **(तह जि मोक्ख वि वियाणि)** वैसे ही परिणामों से ही मोक्ष को जान **(जीव)** हे आत्मन् ! **(इउ जाणेविणु)** ऐसा समझकर **(तुहुँ तह भावहु परियाणि)** तू उन भावों की पहचान कर।

भावार्थ- आत्मा आप ही अपने भावों का कर्ता है। स्वभाव से यह शुद्ध भाव का ही कर्ता है। यह आत्मद्रव्य परिणमनशील है। यह स्फटिकमणि के समान है। स्फटिकमणि के नीचे रंग का संयोग हो तो वह उस रंग रूप लाल, पीली, काली झलकती है। इसी तरह इस आत्मा में कर्मों के उदय के निमित्त से विभावों में या औपाधिक अशुद्ध भावों में परिणमन की शक्ति है। यदि कर्म के उदय का निमित्त न हो तो यह अपने निर्मल शुद्ध भाव में ही परिणमन करता है। मोहनीय कर्म के उदय से विभाव भाव होते हैं। उन औदयिक भावों से बन्ध होता है।

अशुद्ध भावों का निमित्त पाकर स्वयमेव कर्मवर्गणाएँ आठ कर्मरूप या सात कर्मरूप बंध जाती है। बन्धकारक भाव दो प्रकार के होते हैं - शुभ भाव या शुभोपयोग तथा अशुभ भाव या अशुभोपयोग। मन्दकषायरूप भावों को शुभोपयोग कहते हैं, तीव्र कषायरूप भावों को अशुभोपयोग कहते हैं। **दोनों ही प्रकार के भाव अशुद्ध हैं, बन्ध के ही कारण हैं।** जहाँ तक कषाय का रंच मात्र भी उदय है, वहाँ तक कर्म का बन्ध है। दसवें सूक्ष्मलोभ गुणस्थान तक बन्ध है।

राग, द्वेष, मोह भाव बन्ध ही के कारण हैं। ज्ञानी को यह भले प्रकार समझना चाहिए। मुनिव्रत या श्रावकव्रत का राग या तप का राग या भक्ति का राग या पठन- पाठन का राग या मन्त्रों के जप का राग **यह सब राग बन्ध ही का कारण है।** साधु कठिन से कठिन चारित्र को राग सहित पालता हुआ भी बन्ध को ही करता है। **मोक्ष का कारण भाव एक वीतराग भाव है या शुद्धोपयोग है या निश्चय रत्नत्रय है।** शुद्धात्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, शुद्धात्मा का ध्यान सम्यक्चारित्र है - यह रत्नत्रय धर्म एकदेश भी हो तो भी बन्ध का कारण नहीं है।

ज्ञानी को यह विश्वास रखना चाहिये कि मेरा उपयोग जब सर्व चिंताओं को त्याग कर अपने ही आत्मा के स्वभाव में एकाग्र होगा, ऐसा तन्मय होगा कि जहाँ ध्याता, ध्यान, ध्येय का भेद न रहे, गुण गुणी के भेद का विचार न रहे, बिल्कुल स्वरूप में उपयोग ऐसा घुल जावे कि जैसे लवण की डली पानी में घुल जाती है। आत्मसमाधि प्राप्त हो जावे या स्वानुभव हो जावे। इस ही

को ध्यान की अग्नि कहते हैं। यह एकाग्र शुद्ध भाव मोक्ष का कारण है, संवर व निर्जरा का कारण है। **इस भाव की प्राप्ति की कला अविरत सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान से प्राप्त हो जाती है**

चौथे, पाँचवे देशविरत तथा छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान में प्रवृत्ति मार्ग भी है, निवृत्ति मार्ग भी है। जब ये गृहस्थ तथा साधु ध्यानस्थ होते हैं तब निवृत्ति मार्ग में चढ़ जाते हैं। जब गृहस्थ धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ साधते हैं या साधु व्यवहार चारित्र, आहार, विहार, स्वाध्याय, धर्मोपदेश आदि पालते हैं, तब प्रवृत्ति मार्ग है। निवृत्ति मार्ग में उपयोग एक शुद्धात्मा के सन्मुख ही रहता है प्रवृत्ति मार्ग में चारित्र की अपेक्षा उपयोग परद्रव्यों के सन्मुख ही रहता है। सातवें से लेकर दसवें गुणस्थान तक साधु के निवृत्ति मार्ग ही है, प्रवृत्ति नहीं है, ध्यान अवस्था ही है।

इसतरह चौथे से दसवें गुणस्थान तक दोनों निवृत्ति व प्रवृत्ति मार्ग यथासंभव होते हुए भी अप्रत्याख्यानादि कषाय का उदय चौथे में, प्रत्याख्यानादि कषाय का उदय पाँचवें में, संज्वलन कषाय का तीव्र उदय छठे में, संज्वलन का मंद उदय सातवें से दसवें तक रहता है। **ध्यान के समय इन कषायों का उदय बहुत मंद होता है। प्रवृत्ति के समय तीव्र होता है।** तथापि जितना कषाय का उदय होता है वह तो कर्म को ही बाँधता है। जितना रत्नत्रय भाव होता है, वह संवर व निर्जरा करता है। बंध व निर्जरा दोनों ही धारायें साथ- साथ चलती रहती हैं।

हर एक जीव गुणस्थान के अनुसार बन्धयोग्य प्रकृतियों का बंध अवश्य करता है। निवृत्ति मार्ग में आरूढ़ होने पर घातीय कर्मों की स्थिति व अनुभाग बहुत कम पड़ता है व अघातीय कर्मों मे केवल शुभ प्रकृतियों का ही बन्ध होता है, उनमें स्थिति कम व अनुभाग अधिक पड़ता है। प्रवृत्ति मार्ग मे शुभोपयोग की दशा में तो ऐसा ही होता है, किन्तु तीव्र कषाय के उदय से अशुभोपयोग होने पर घातीय कर्मों में स्थिति व अनुभाग अधिक पड़ेगा व अघातीय में पाप कर्मों को अधिक स्थिति व अनुभाग लिये हुए बाँधेगा।

प्रयोजन यह है कि शुभ या अशुभ दोनों ही भाव अशुद्ध हैं, बन्ध ही है कारण हैं। मोक्ष का कारण एक शुद्ध भाव है, वीतराग भाव है, शुद्धात्माभिमुख भाव है, ऐसा श्रद्धान ज्ञानी को रखना चाहिए।

श्री समयसार में कहा है :-

अज्झवसिदेण बन्धो सत्ते मारे हि मा व मारे हिं।
एसो बन्धसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ।।२७४।।

वत्थुं पडुच्च तं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं ।
ण हि वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्ति ।।२७७।।
एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ।।२७८ ।।

भावार्थ- हिंसक परिणाम में बन्ध अवश्य होगा, चाहे प्राणी मरो या न मरो। वास्तव में जीवों को कर्म का बन्ध अपने विकारी भावों से होता है। यही बन्ध तत्त्व है। यद्यपि बाहरी पदार्थों के निमित्त से अशुद्ध परिणाम होता है, तथापि बाहरी वस्तुओं के कारण बन्ध नहीं होता है। बंध तो परिणामी से ही होता है। जिनके शुभ या अशुभ दोनों ही प्रकार के परिणाम नहीं है, वे मुनि पुण्य तथा पापकर्मों से नहीं बंधते हैं।

श्री समयसार कलश में कहते हैं:-

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।
किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तत्,
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ।।११०।।

भावार्थ- जब तक मोहनीय कर्म का उदय है तब तक ज्ञान में पूर्ण वीतरागता नहीं होती है, तब तक मोह का उदय और सम्यग्ज्ञान दोनों ही साथ- साथ रहते हैं, इसमें कुछ हानि नहीं है, किन्तु यहाँ जितना अंश कर्म के उदय से अपने वश बिना राग है उतने अंश बंध होगा तथा पर से मुक्त जो परम आत्मज्ञान है वह स्वयं मोक्ष का ही कारण है। रत्नत्रय का अंश बंधकारक नहीं है, राग अंश बंधकारक है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड में कहते हैं:-

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं ।
असुहं च अट्टरूद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ।।७६।।
सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं ।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ।।७७।।

भावार्थ- जीवों में तीन प्रकार के भाव जानने चाहिए। अशुभ, शुभ व शुद्ध। आर्त व रौद्र ध्यान अशुभभाव हैं धर्म ध्यान शुभभाव है।

शुद्ध भाव, आत्मा का शुद्ध स्वभाव है, जब आत्मा आत्मा में रमण करता है तब वह शुद्ध भाव होता है- ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। जिससे कल्याण हो उसका आचरण कर।

प्रयोजन यहाँ यह है कि जब भीतरी आशय में इष्ट वियोग, अनिष्ट, संयोग, पीड़ा चिंतवन व भोगाकांक्षा निदानभाव है या हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द, परिग्रहानन्द, इस तरह चार प्रकार के रौद्रध्यान में से कोई भाव है तो वह अशुभभाव है। धर्म रत्नत्रय, उसके प्रति प्रेमभाव शुभभाव है। निर्विकल्प आत्मीक भाव है, वह शुद्धभाव है।

इससे यह भी झलकाया है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के ही शुद्धभाव होता है। मिथ्यादृष्टि के मन्दकषाय को व्यवहार में शुभभाव कहते हैं परन्तु उसका आशय अशुभ होने से उसमें कोई न कोई आर्त व रौद्रध्यान होता है। इसलिए उसे अशुभभाव में ही गिना है। मोक्ष का कारण एक शुद्धभाव ही है, वह आत्मानुभव रूप है।

दोहा १५

पुण्यकर्म मोक्षसुख नहीं दे सकता

अह पुणु अप्पा ण वि मुणहि पुण्णु वि करइ असेसु।
तउ वि ण पावइ सिद्धसहु पुणु संसार भमेसु ।।

अन्वयार्थ- **(अह पुणु अप्पा ण वि मुणहि)** यदि तू आत्मा को नहीं जानेगा **(असेसु पुण्णु वि करइ)** सर्व पुण्य कर्म को ही करता रहेगा **(तउ वि सिद्धसुहु ण पावइ)** तो भी तू सिद्ध के सुख को नहीं पावेगा **(पुणु संसार भमेसु)** पुनः पुनः संसार में ही भ्रमण करेगा।

भावार्थ- मोक्ष का सुख या सिद्ध भगवान का सुख आत्मा का स्वाभाविक व अतीन्द्रिय गुण है। यह बिलकुल केवल या शुद्ध परमानन्द हर एक आत्मा का स्वभाव है। उसका आवरण ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय, अन्तराय चारों ही घातीय कर्मों ने कर रखा है। जब इनका नाश हो जाता है, तब अनन्त अतीन्द्रिय सुख अरहन्त केवली के प्रगट हो जाता है, वही सिद्ध भगवान में या मोक्ष में रहता है। **इस सुख के पाने का उपाय भी अपने आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान व आचरण है।** सम्यग्दृष्टि को अपने आत्मा के सच्चे स्वभाव का पूर्ण विश्वास रहता है। इसलिए वह जब उपयोग को अपने आत्मा में ही अपने आत्मा के द्वारा तल्लीन करता है, तब आनन्दामृत का पान करता है इस ही समय वीतराग परिणति से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है व नवीन कर्मों का

संवर होता है। आत्मा आप ही साधक है, आप ही साध्य है। इस तत्त्व का जिसको श्रद्धान नहीं है वह पुण्यबंध के कारक शुभ मन- वचन- काय द्वारा अनेक कार्य करता है और चाहता है कि मोक्षसुख मिल सके, सो कभी नहीं मिल सकता है। जहाँ मन-वचन-काय की क्रिया पर मोह है वहाँ पर से अनुराग है, **आत्मा से दूरवर्तीपना है,** वहाँ बंध होगा, निर्जरा नहीं होगी।

कोई मानव कठिन से कठिन तपस्या व व्रतादि पाले व आप भी पुण्यबंध के अनेक कार्य करे, वह संसार मार्ग का ही पथिक है, वह निर्वाण का पथिक नहीं। वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। वह द्रव्यलिंगी साधु का चारित्र पालता है। शास्त्रोक्त व्रत समिति गुप्ति पालता है, तप करता है आत्मज्ञान रहित तप से वह महान पुण्य बंध कर नौवें ग्रैवेयिक में जाकर अहमिन्द्र हो जाता है। आत्मज्ञान बिना वहां से चयकर संसार- भ्रमण में ही रूलता है।

शुद्धोपयोग ही वास्तव में मोक्ष का कारण है। इस तत्त्व को भले प्रकार श्रद्धान में रखकर अन्तरात्मा मोक्षमार्गी होता है। तब इसकी दृष्टि हर समय अपने आत्मा में रमण की रहती है। यह आत्मा की शांत गंगा में स्नान करना ही धर्म समझता है। इसके सिवाय सर्व ही मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को अपना धर्म न समझकर बंध का कारक अधर्म समझता है। व्यवहार में शुभ क्रिया को धर्म कहते हैं, **परन्तु निश्चय से जो बन्ध करे वह धर्म नहीं हो सकता।**

जिससमय सम्यग्दर्शन का लाभ होता है उसी समय वह सर्व शुभ प्रवृत्तियों से उसी तरह उदास हो जाता है जैसा वह अशुभ प्रवृत्तियों से उदास है। वह न मुनि के व्रत और न श्रावक के व्रत पालना चाहता है। परन्तु आत्मबल की कमी से जब उपयोग अपने आत्मा के भीतर अधिक काल तक थिर नहीं रहता है तब अशुभ से बचने के लिए वह शुभ कार्य करता है। परन्तु उसे बंधकारक ही जानता है। भीतरी भावना यह रहती है कि कब मैं फिर आत्मा के ही साथ में रमण करूं। मैं अपने घर से छूटकर पर घर में आ गया, अपराधी हो गया। सम्यक्त्वी बन्धकारक शुभ कार्यों से कभी मोक्ष का साधन नहीं मानता है।

जिस साधन से वीतराग परिणति झलके उसे ही मोक्षमार्ग जानता है। इसलिये वह शुभ कामों को लाचारी से करता हुआ भी मोक्षमार्गी है। **निश्चय रत्नत्रय ही धर्म है, व्यवहार रत्नत्रय यद्यपि निश्चय रत्नत्रय के लिये निमित्त है तथापि बंध का कारण होने से वह निश्चय की अपेक्षा अधर्म है।** ज्ञानी आत्मा के कार्य के सिवाय अन्य कार्य में जाने को अपना अपराध समझता है। ज्ञान में ज्ञान के रमण को ही अपना सच्चा हित जानता है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि

चौथे अविरत गुणस्थान में भी है तो भी निरन्तर आत्मानुभव का ही खोजक बना रहता है। वह व्यवहार धर्म, पूजा-पाठ, जप, तप, स्वाध्याय, व्रत आदि जो कुछ भी पालता है उसके भीतर वह पुण्य की खोज नहीं करता है, न वह पुण्य को चाहता है। वह तो व्यवहार धर्म के निमित्त से निश्चय धर्म को ही खोजता है। जब तक नहीं पाता है तब तक अपना व्यवहार धर्म का साधन केवल पुण्यबंध करता है ऐसा समझता है।

जैसे चतुर व्यापारी केवल धन को कमाने का प्रेमी होता है - वह हाट में जाता है, माल खरीदता है, रखता उठाता है, तोलता नापता है, विक्रय करता है। जब धन का लाभ करता है तब ही अपना सर्व प्रयास सफल मानता है। यदि अनेक प्रकार परिश्रम करने पर भी धन की कमाई न हो तो वह अपने को व्यापार करने वाला नहीं मानता है।

सर्व उद्यम कमाने का करता हुआ भी वह उस उद्यम को धन का लाभ नहीं मानता है। धन का लाभ ही उसका ध्येय है, उस ध्येय की सिद्धि का उद्यम निमित्त है इसलिये वह उद्यम करता है। परंतु रात-दिन चाहना एक धन के लाभ की है। धन की वृद्धि को ही अपनी सफलता मानता है। **इसी तरह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आत्मानुभव के लाभ को ही अपना लाभ मानता है। वह रात-दिन आत्मानुभव की ही खोज में रहता है। इसी हेतु से बाहरी व्यवहार धर्म का उद्यम करता है कि उसके सहारे से परिणाम फिर शीघ्र ही आत्मा में जाकर आत्मस्थ हो जावे।**

उदाहरणार्थ, एक सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भगवान की पूजा करता है, गुणानुवाद गाता है, अरहंत व सिद्ध के आत्मीक गुणों का वर्णन करने हुए अपने आत्मीक गुणों का वर्णन मानता है। लक्ष्य अपने आत्मा पर होते हुए वह पूजा के कार्य के मध्य में कभी-कभी अत्यंत अल्पकाल के लिये भी आत्मा में रमण करके आत्मानुभव को पा लेता है, आत्मानंद का भोगी हो जाता है। इसी तरह सामायिक करते हुये, पाठ पढ़ते हुये, जप करते हुये, मनने करते हुये आत्मा में थिरता पाने की खोज करता है। जब उसे कुछ देर भी आत्मानुभव हो जाता है तब यह यात्रादिक करना सफल जानता है। **व्यापारी धन का खोजक है, सम्यक्त्वी आत्मानुभव का खोजक है।** आत्मानुभव की प्राप्ति की भावना बिना शुभ कार्य केवल बंध ही के कारण हैं। आत्मानुभव का लाभ ही मोक्ष के कारण का लाभ है, क्योंकि वहाँ निश्चय सम्यक्त्व, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यग्चारित्र तीनों गर्भित हैं। मोक्ष की दृष्टि रखने वाला मोक्षमार्गी है। संसार की दृष्टि रखने वाला संसारमार्गी है।

जो संसार की दृष्टि रख के भूल से उसे मोक्ष की दृष्टि मान ले वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि

मोक्ष की दृष्टि रखते हुए शुभ भावों को बंध का कारक व शुद्ध आत्मीक भाव को मोक्ष का कारक मानता है। इसी बात को इस दोहे में योगीन्द्राचार्य ने प्रगट किया है कि **व्यवहार धर्म में उलझकर निश्चय धर्म की प्राप्ति को भुला न दो।** यदि आत्मानुभव का स्वरूप चला गया तो भव-भव में अनन्तवार साधु का चरित पालते हुए भी संसार ही बना रहता है। वह एक कदम भी मोक्षमार्ग पर नहीं चल सकता। इसलिए पुण्य बन्धन के कारक भावों को मोक्षमार्ग कभी नहीं मानना चाहिये।

श्री समयसार में कहा है :-

वदणियमाणि धरन्ता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी ॥ 160 ॥
परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं विम्मोक्खहेदुं अयाणंता ॥ 161 ॥

भावार्थ - जो व्रत नियम धारे, शील पाले, तप करे परन्तु निश्चय आत्म-स्वभाव के धर्म से बाहर हो तो ये सब अज्ञानी बहिरात्मा हैं। परमार्थ आत्मतत्त्व में जो नहीं समझते वे अज्ञान से संसार भ्रमण के कारण पुण्य की ही वांछा करते हैं। क्योंकि उनको मोक्ष के कारण का ज्ञान ही नहीं है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड़ में कहते है -

किं काहिदि बहिकम्मंकिं काहिदि वहुविहं च खवणं तु।
कि काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥ 99 ॥

भावार्थ - जो आत्मा के स्वभाव से परे है, आत्मा का अनुभव नहीं करता है, उसके लिये बाहरी क्रियाकाण्ड क्या फल दे सकता है ? आतापन योग आदि कायक्लेश क्या कर सकता है? अर्थात् मोक्ष के साधक नहीं हो सकते। मोक्ष का साधन एक आत्मज्ञान है।

श्री समाधिशतक में कहा है -

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते न स निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥ 33 ॥

भावार्थ :- जो कोई शरीरादि से भिन्न इस प्रकार के ज्ञाता-दृष्टा अविनाशी आत्मा को नहीं जानता है वह उत्कृष्ट तप तपते हुये भी निर्वाण को नहीं पाता है।

दोहा १६

आत्मदर्शन ही मोक्ष का कारण है

अप्पादंसण इक्क परु अण्णु ण किं पि वियाणि ।
मोक्खह कारण जोईया णिच्छह एहउ जाणि ।।

अन्वयार्थ - **(जोईया)** हे योगी ! **(इक्क अप्पादंसण मोक्खह कारण)** एक आत्मा का दर्शन ही मोक्ष का मार्ग है **(अण्णु परु ण किं पि वियाणि)** अन्य पर कुछ भी मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा जान **(णिच्छह एइउ जाणि)** निश्चय नय से तू ऐसा ही समझ।

भावार्थ - निश्चय नय से यथार्थ कथन होता है। अथवा इस नय से उपादान कारण का वर्णन होता है। निश्चयनय से मोक्ष का मार्ग एक अपने आत्मा का ही दर्शन है, इसके सिवाय कोई और मार्ग नहीं है यदि कोई पर के आश्रय वर्तन करे व उसी से मोक्ष होना माने तो वह मिथ्यात्व है। मन-वचन-काय तीनों ही आत्मा से या आत्मा के मूल स्वभाव से भिन्न हैं। आत्मा का भिन्न स्वभाव सिद्ध के समान है, जहाँ न मन के संकल्प- विकल्प हैं, न वचन का व्यापार है, न काय की चेष्टा है। व्यवहार धर्म का सर्व आचरण मन- वचन- काय के अधीन है, इसलिए पराश्रय है। निमित्त कारण तो हो सकता है, परन्तु उपादान कारण नहीं हो सकता है।

जो कुछ स्वाश्रय हो, आत्मा के ही आधीन हो वही उपादान कारण है। जब उपयोग मात्र एक उपयोग के धनी की तरफ हो, अभेद व सामान्यएक आत्मा ही देखने योग्य हो व आप ही देखने वाला हो, कहने को दृष्टा व दृश्य दो हों, निश्चय से एक आत्मा ही हो। **इस निर्विकल्प समाधि भाव को या स्वानुभव को आत्मदर्शन कहते हैं।** यह आत्मदर्शन एक गुप्त तत्त्व है, वचन से अगोचर है, मन से चिंतवन योग्य नहीं है, केवल आप से ही अपने को अनुभव ने योग्य है।

आत्मा गुणपर्यायवान एक अखण्ड द्रव्य है। मन के द्वारा व वचन के द्वारा खंडरूप हो जाता है, आत्मा का पूर्णस्वरूप लक्ष्य में नहीं आ सकता। इसलिए सर्व ही मन के विचारों को छोड़ने की जरूरत है। जो कोई मौन से स्वरूप गुप्त होगा वही आत्मा के भीतर रमण कर जायेगा। गुण-गुणी के भेद करने से भी आत्मा का स्वरूप हम में नहीं आयेगा। जितना कुछ व्यापार मन-वचन- काय का है उससे विमुख होकर जब आत्मा आत्मा में ही विश्राम करता है तब आत्मदर्शन होता है। वहाँ पर एक सहजज्ञान है। मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय केवल ये ज्ञान के भेदों का

कोई विकल्प नहीं है।

साधक को पहले तो यह उचित है कि आत्मा के स्वभाव व विभाव का निश्चय शास्त्रों के द्वारा कर लेवे। आत्मा किस तरह कर्मों को बाँधता है, कर्मों के उदय से क्या क्या अवस्था होती है, कर्मों को कैसे रोका जावे, कर्मों का क्षय कैसे हो, मोक्ष क्या वस्तु है, इस तरह जीवादि सात तत्त्वों का ज्ञान भले प्रकार प्राप्त करना चाहिए। संशय रहित अपने आत्मा की तथा कर्मरोग की अवस्था को जान लेना चाहिए। सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार जीवकांड व कर्मकांड का ज्ञान आवश्यक है। तथा व्यवहार चारित्र को भी जानना चाहिए। साधु व श्रावक के आचार का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। पश्चात् निश्चय से आत्मा के स्वभाव का ज्ञान होने के लिए श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार एवं अष्टपाहुड को समझकर निश्चय आत्मतत्त्व को जानना चाहिए कि यह मात्र अपनी ही शुद्ध परिणति का कर्ता है व अपनी ही शुद्ध परिणति का ही भोक्ता है। यह परम वीतराग व परमानन्द स्वभाव का धारी है।

व्यवहार रत्नत्रय का ज्ञान, मात्र निमित्त कारण होने के लिये सहायकारी है, निश्चय तत्त्व का ज्ञान स्वानुभव के लिये हितकारी है। साधक को उचित है कि व्यवहार चारित्र के आधार से जैन धर्म का आचार; पाले जिससे मन, वचन, काय का वर्तन हानिकारक न हो उनको वश में रखा जा सके फिर, ध्यान का अभ्यास किया जावे। एकांत में बैठकर आसन जमाकर पहले तो आत्मा को द्रव्यार्थिक नय से अभेद रूप विचारा जावे।

स्वरूप का मनन शास्त्र की पद्धति से किया जावे। फिर प्रयत्न करके मन को बन्द करके मौन से ही तिष्ठकर उपयोग को स्वभाव के ज्ञान श्रद्धान में एकाग्र किया जावे। निज आत्मा की झांकी (दृष्टि) की जावे। अभ्यास करनेवाले को पहले बहुत अल्प समय तक थिरता होगी। अभ्यास करते करते थिरता बढ़ती जायेगी। आत्मप्रभु का दर्शन अधिक समय तक होता रहेगा। जिस भाव से नवीन कर्मों का संवर हो व पुराने संचित कर्मों की निर्जरा हो वही भाव एक मोक्षमार्ग हो सकता है। आत्मा के दर्शन में व आत्मानुभव में ही वीतराग भाव की धारा बहती है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रहती है। वहीं संवर व निर्जरातत्त्व झलकते हैं। **गृहस्थ हो या त्यागी हो उसे यदि निर्वाण के पद की भावना है, तो आत्मा के दर्शन पाने का अभ्यास करना चाहिए।** जिसने आत्मा का दर्शन पा लिया उसने ही सच्चा वीतराग भगवान का दर्शन पाया, उसने ही श्री अरहन्त देव व सिद्ध परमात्मा की सच्ची आराधना की। उसने ही

श्रावक या साधु का व्रत पाला। वही सच्चा निर्वाण का पथिक है, यही आत्मदर्शन मोक्षमार्ग है। यह श्रद्धान जब तक नहीं है तब तक सम्यग्दर्शन का प्रकाश नहीं है, मिथ्यादर्शन है। आत्मदर्शन ही वास्तव में सम्यग्दर्शन है।

श्री समयसार में कहा है :-

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥३२०॥

भावार्थ- भेदविज्ञान से जो कुछ ग्रहण करने योग्य है वह मैं ही चेतने वाला हूँ यही निश्चयतत्त्व है। शेष जितनेभाव है वे मेरे स्वभाव से भिन्न हैं ऐसा जानकर उनको त्याग देना चाहिए। आप से आप में ही रमण करना चाहिए।

मोक्षपाहुड में श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं :-

जो देहे णिरवेक्खो णिंद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥१२॥
सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ सो साहू।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ॥१४॥
आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवइ।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहिं ॥१७॥
दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवइ सद्दव्वं ॥१८॥
जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा हु सुचरित्ता।
ते जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं ॥१९॥

भावार्थ- जो कोई शरीर से उदास हो, द्वन्द्व या रागद्वेष से रहित हो, ममकार से परे हो, सर्व लौकिक व धार्मिक आरंभ से रहित हो, केवल एक अपने आत्मा के स्वभाव में भले प्रकार लीन हो, वही योगी निर्वाण को पाता है। जो अपने ही आत्मद्रव्य में लीन है वही साधु या श्रावक सम्यग्दृष्टि है, वही दुष्ट आठों कर्मो का क्षय करता है। अपने आत्मा के स्वभाव से अन्य सर्व चेतन या अचेतन या मिश्रद्रव्य परद्रव्य है, ऐसा यथार्थ कथन सर्वदर्शी भगवान ने किया है। दुष्ट आठों कर्मों से रहित, अनुपम ज्ञानशरीरी, नित्य, शुद्ध अपना आत्म ही स्वद्रव्य है - ऐसा जिनेन्द्र

ने कहा है। जो अपने आत्मद्रव्य को ध्याते हैं, परद्रव्यों से उपयोग को हटाते हैं सुन्दर चारित्र को पालते हैं व जिनेन्द्र के मार्ग में भले प्रकार चलते हैं वे ही निर्वाण को पाते हैं।

श्री समाधिशतक में कहा है :-

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्त्यात्मानमात्मानि ।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥८२॥

भावार्थ- शरीरादि से हटकर अपने आत्मा के भीतर अपने आत्मा को इसतरह ध्यावे कि स्वप्न में भी कभी शरीरादि में अपना मन नहीं जुड़े। सदा अपने आत्मा को शुद्ध परद्रव्य के संग से रहित ध्यावे।

दोहा १७

मार्गणा व गुणस्थान आत्मा नहीं हैं

मग्गणगुणठाणइ कहिया ववहारेण वि दिट्ठि ।
णिच्छइणइ अप्पा मुणहु जिय पावहु परमेट्ठि ॥

अन्वयार्थ- **(ववहारेण वि दिट्ठि)** केवल व्यवहारनय की दृष्टि से ही **(मग्गणगुणठाणइ कहिया)** जीव को मार्गणा व गुणस्थानरूप कहा है **(णिच्छइणइ)** निश्चयनय से **(अप्पा मुणहु)** अपने आत्मा को आत्मारूप ही समझ **(जिय परमेट्ठि पावहु)** जिससे तू सिद्ध परमेष्ठी के पद को पा सके।

भावार्थ- व्यवहारनय पराश्रित है। दूसरे द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा को कुछ का कुछ कहनेवाला है। निश्चयनय स्वाश्रित है। आत्मा को यथार्थ जैसा का तैसा कहनेवाला है। निश्चयनय से आत्मा स्वयं अरहन्त या सिद्ध परमात्मा है। आत्मा अभेद एक शुद्ध ज्ञायक है जैसे सिद्ध भगवान हैं। अपने को शुद्ध निश्चयनय से शुद्धरूप ध्याना ही साक्षात् परमात्मा होने पर उपाय है, यही मोक्षमार्ग है, क्योंकि जैसा ध्यावे वैसा ही हो जावे।

श्री समयसार में कहा है :-

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥१८६॥

भावार्थ- शुद्ध आत्मा को अनुभव करने से यह जीव शुद्ध आत्मा को पा लेता है या शुद्ध हो

जाता है। जो कोई अपने आत्मा को अशुद्धरूप में ध्याता है, उसको अशुद्ध आत्मा का ही लाभ होता है । वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता। इसलिए शुद्ध आत्मा है, ऐसा बतानेवाला निश्चयनय है, सो ग्रहण करने योग्य है। व्यवहार नय ग्रहण करने योग्य नहीं है, केवल जानने योग्य है। आत्मा का कर्म से संयोग अनादि से चला आ रहा है। इस संयोग से आत्मा की क्या क्या अवस्थाएं हो सकती हैं ? उनका जानना इसलिए जरूरी है कि उनसे वैराग्य हो जावे। उनको अपने आत्मा की स्वाभाविक अवस्था न मान लिया जावे। व्यवहार नय ही से यह कहा जाता है कि यह आत्मा मार्गणा व गुणस्थानरूप है। सांसारिक सर्व प्रकार की अवस्थाओं का बहुत सा ज्ञान चौदह मार्गणाओं से तथा चौदह गुणस्थानों से होता है।

श्री गोम्मटसार जीवकांड के अनुसार उनका स्वरूप पाठकों के ज्ञान हेतु यहाँ दिया जाता है:-

चौदह मार्गणाओं का स्वरूप -

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणो मग्गणा होंति ॥१४१॥
गइइंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्साभवियासम्मत्तसण्णिआहारे ॥१४२॥

भावार्थ- जिन अवस्थाओं के द्वारा व जिन पर्यायों में जिसतरह जीव देखे जाते हैं, वैसे ही ढूँढ़ लिये जावें, जान लिये जावें, उन अवस्थाओं को मार्गणा कहते हैं । ये मार्गणाएं चौदह हैं - १. गति, २. इन्द्रिय, ३. काय, ४. योग, ५. वेद, ६. कषाय, ७. ज्ञान, ८. संयम, ९. दर्शन, १०. लेश्या, ११. भव्य, १२. सम्यक्त्व, १३. संज्ञी एवं १४. आहार। प्रायः संसारी जीवों में ये चौदह दशाएँ हर समय पाई जाती हैं या इनमें खोजने से हर एक में संसारी जीव मिल जावेंगे। इनका स्वरूप ऐसा है -

गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवग इत्ति य हवे चदुधा ॥१४६॥

भावार्थ- गति कर्म के उदय से जो पर्याय होती है या जो चार गतियों में जाने का कारण है, उसे गति कहते हैं। वे चार हैं- नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति। हरएक संसारी जीव किसी न किसी गति में मिल जायेगा। जब एक शरीर को छोड़ कर जीव दूसरे शरीर में जाता है तब बीच में विग्रहगति के भीतर उसी गति का उदय माना जायेगा जिसमें जा रहा है।

दूसरी इन्द्रिय मार्गणा पांच प्रकार की है :-

अहमिदा जह देवा अविसेसं अहमहंत्ति मण्णंता ।
ईसंति एक्कमेक्कं इंदा इव इंदिये जाण ।।१६४।।

भावार्थ- अहमिन्द्रों के समान जो बिना किसी विशेष के अपने को भिन्न अहंकार रूप माने व जो इन्द्रों के समान एक- एक अपना भिन्न भिन्न स्वामीपना रखें एक दूसरे के साथी न हों, जो भिन्न भिन्न काम करें, उनको इन्द्रिय कहते हैं। वे पाँच हैं - स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। इसलिए संसारी जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय व पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जिनके आगे की इन्द्रिय होगी उनके पिछली इन्द्रियाँ अवश्य होगी। जिनके श्रोत्र होंगे उनके पिछली चार इन्द्रियाँ अवश्य होंगी।

तीसरी कायमार्गणा छह प्रकार की है :-

जाई अविणाभावी तसथावरउदयजो हवे काओ ।
सो जिणमदम्हि भणिओ पुढवीकायादि छब्भेयो ।।१८१।।

भावार्थ- जातिकर्म के साथ अवश्यमेव रहने वाले स्थावर तथा त्रस कर्म के उदय से जो शरीर हो उसको काय कहते हैं, उसके छः भेद कहे गये हैं पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्नि या तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय व त्रसकाय। छहों की शरीर की रचना में भेद हैं, इसलिए छः कायधारी जीव भिन्न भिन्न होते हैं। मांसादि त्रसकाय में ही होता है, शेष पांच स्थावर में नहीं। वनस्पति व त्रसकाय की रचना में पृथ्वी आदि चार काय सहायक हैं।

चौथी योग मार्गणा पंन्द्रह प्रकार की है :-

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ।।२१६।।

भावार्थ- मन, वचन, काय तीन सहित या वचन काय दो सहित या मात्र काय सहित जीव के भीतर पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से जो कर्म व नोकर्मवर्गणाओं को ग्रहण करने की शक्ति है उस शक्ति को योग कहते हैं। यह शक्ति जीव में होती है परन्तु इसका काम शरीर नामकर्म के उदय से होता है। पन्द्रह योगों में से किसी तक योग की प्रवृत्ति होते हुए योगशक्ति हर समय (जहाँ तक अयोग केवली जिन न हो वहाँ तक) काम करती रहती है। यह योगशक्ति विग्रहगति में कर्मवर्गणाओं व तैजस वर्गणाओं तथा शेष समय इन दोनों के साथ साथ आहारक वर्गणओं,

द्वीन्द्रियादि के भाषा वर्गणाओं, सैनी के मनोवर्गणाओं को ग्रहण करती रहती है।

मन के चार योग - सत्य, असत्य, उभय, अनुभय (जिसे सत्य व असत्य कुछ नहीं कह सकते)।

वचन के चार योग - सत्य, असत्य, उभय, अनुभय।

काय के सात योग - औदारिक, औदारिक मिश्र (अपर्याप्त के) वैक्रियिक, वैकियिक मिश्र (अपर्याप्त के), आहारक, आहारक मिश्र और कार्मण। मनुष्य व तिर्यंचों के दोनों औदारिक, देव व नारकियों के दोनों वैक्रियिक छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के दोनों आहारक और विग्रह गति में कार्मण योग होता है।

पांचवी वेद मार्गणा तीन प्रकार की है :-

पुरूसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरुसिच्छिसंडओ भावे।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा ।।२७०।।
वेदस्सुदीरणाए परिणामस्य य हवेज्ज संमोहो।
संमोहेण ण जाणदि जीवो हु गुणं व दोसं वा।।२७१।।

भावार्थ- पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसक वेदरूप नोकषाय के उदय से जो क्रम से पुरुष, स्त्री या नपुंसक जैसे परिणाम होते हैं उनको **भाववेद** कहते हैं तथा नामकर्म के उदय से जो तीन प्रकार की शरीर रचना होती है उसको **द्रव्यवेद** कहते हैं। प्रायः भाववेद व द्रव्यवेद समान होंते हैं, कहीं- कहीं विषम होते हैं। देव, नारक व भोगभूमियों में जैसा द्रव्यवेद होता है वैसा ही भाववेद होता है। किन्तु कर्मभूमि के मानव तथा पशुओं में एक द्रव्यवेद के साथ तीनों ही प्रकार का भाववेद हो सकता है। मार्गणा में भाववेद की मुख्यता है पुरूषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद रूप नोकषाय की उदीरणा से जीव के परिणाम मोहित या मूर्छित हो जाते हैं, तब यह मोही गुण या दोष का विवेक नहीं रखता है। यह कार्य भाव अनर्थ का कारण है।

छठवीं कषाय मार्गणा पच्चीस प्रकार की हैं:-

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेतं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं बेंति ।।२८१।।
सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे ।
घादंति वा कषाया चउसोलअसंखलोगभिदा।।२८२।।

भावार्थ- जीव के कर्मरूपी खेत को जो, बेमर्याद संसार भ्रमणरूप है व जिसमें सुख- दुःख रूपी

बहुत धान्य पैदा होते हैं, जो कसता है या हल चलाकर बोने योग्य करता है उसको कषाय कहते हैं। अथवा सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरण के घात करने वाले अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, चार कषाय हैं, व देशसंयम के घातक अप्रत्याख्यान क्रोधादि चार हैं, व सकलसंयम के घातक प्रत्याख्यान क्रोधादि चार हैं, व यथाख्यात चारित्र के परिणामों को घात करने वाले संज्वलन क्रोधादि चार व नौ नोकषाय (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद) हैं इसलिए उनको कषाय कहते हैं। इसके मूल चार या सोलह या पच्चीस आदि असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं।

सातवीं ज्ञान मार्गणा आठ प्रकार की है :-

जाणइ तिकालविसए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे ।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणेत्ति णं बेंति ।।२९८।।

भावार्थ- जो भूत, भविष्य, वर्तमान, तीन काल सम्बन्धी सर्व द्रव्यों के गुणों को व उनकी बहुत पर्यायों को एक काल जानता है, उसको ज्ञान कहते हैं। मन व इन्द्रियों के द्वारा जो जाने सो परोक्ष ज्ञान है तथा इन्द्रिय व मन के बिना जाने सो प्रत्यक्ष ज्ञान है। मतिज्ञान व श्रुतज्ञान परोक्ष तथा अवधि मनः पर्यय व केवलज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। सम्यग्दर्शन सहित मति, श्रुत व अवधि ज्ञान, सम्यग्ज्ञान हैं, तथा मिथ्यादर्शन सहित तीनों कुज्ञान हैं। अंतिम दो सम्यग्दर्शन सहित ही होते हैं।

आठवीं संयम मार्गणा सात प्रकार की हैं :-

वदसमिदिकसायाणं दण्डाणं तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणियो ।।४६४।।

भावार्थ- पांच व्रत धारना, पांच समिति पालना, पच्चीस कषायों को रोकना, मन, वचन, काय तीन दण्डों का त्याग करना व पांच इन्द्रियों को जीतना, सो संयम कहा गया है। इसके असंयम, देशसंयम, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय, यथाख्यात ये सात भेद हैं।

नवमीं दर्शन मार्गणा चार प्रकार की हैं :-

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये ।।४८१।।

भावार्थ- जो पदार्थों का सामान्य ग्रहण करना, उनका आकार न जानना, न पदार्थ का विशेष समझना सो आगम में दर्शन कहा गया है। इसके चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल ये चार भेद हैं।

दसवीं लेश्या मार्गणा छः प्रकार की हैं :-

लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्णं च ।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुण जाणयक्खादा ।।४८८।।
जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरञ्जिया होइ ।
तत्तो दोण्णं कज्जं बन्धचउक्कं समुद्दिट्ठं ।।४८९।।

भावार्थ- जिन परिणामों के द्वारा जीव अपने में पुण्य तथा पाप कर्म को लेपता है या ग्रहण करता है उनको लेश्या कहा है। कषायों के उदय से रंगी हुई योगों की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। उससे पुण्य व पाप का प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग रूप चार प्रकार का बन्ध होता है।

कृष्ण नील कापोत तीन अशुभ व पीत- पद्म- शुक्ल तीन शुभ लेश्याएं हैं।

ग्यारहवीं भव्यत्व मार्गणा दो प्रकार की है :-

भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा ।
तव्विवरीया भव्वा संसारादो ण सिज्झंति ।।५५६।।

भावार्थ- जिन जीवों में सिद्ध होने की योग्यता है वे भव्य हैं। जिनमें यह योग्यता नहीं है वे अभव्य हैं। इसके भव्य तथा अभव्य ये दो भेद हैं।

बारहवीं सम्यक्त्व मार्गणा छः प्रकार की है :-

छप्पञ्चणविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं ।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ।।५६०।।

भावार्थ- छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, नव पदार्थों का जैसा जिनेन्द्र ने उपदेश किया है वैसा श्रद्धान आज्ञा से या प्रमाण नय के द्वारा होना सम्यक्त्व है। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, वेदक, क्षायिक ये छः भेद हैं।

तेरहवीं संज्ञी मार्गणा दो प्रकार की है :-

णोइन्द्रियआवरणखओपसमं तज्जवोहणं सण्णा ।
सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदिअववोहो ।।६५९।।
सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण ।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीयो असण्णी दु ।।६६०।।

भावार्थ- नो इन्द्रिय जो मन उसको रोकने वाले ज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो बोध होता है

उसको संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसको हो वह संज्ञी है। जो केवल इन्द्रियों से ही जाने वह असंज्ञी है। शिक्षा, क्रिया का उपदेश, वार्तालाप संकेत ग्रहण जो मन के आलम्बन से कर सके वह जीव संज्ञी है। जो इनको ग्रहण नहीं कर सके वह असंज्ञी है।

चौदहवीं आहार मार्गणा दो प्रकार की है :-

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं ।
णोकम्मवग्गणाणं गहणं आहारयं णाम ॥६६३॥

भावार्थ- उदय प्राप्त शरीर कर्म के उदय से उस शरीर सम्बन्धी या भाषा या मन सम्बन्धी नोकर्म वर्गणाओं को जो ग्रहण करे वह आहारक है, जो नहीं ग्रहण करे वह अनाहारक है।

गुणस्थान का स्वरूप :-

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं ।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥८॥

भावार्थ- मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षय के होने पर संभव होने वाले जिन भावों से जीव पहचाने जावें उनको सर्वज्ञ ने गुणस्थान कहा है। ये मोक्षमार्ग की चौदह सीढ़ियाँ है। मोह व योग के सम्बन्ध से होती है। उनको पार कर जीव सिद्ध होता है। एक समय में एक जीव के एक गुणस्थान होता है।

गुणस्थान के १४ भेद है :-

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ठ सुहुमो य ॥९॥
उदसंतखीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य ।
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥१०॥

भावार्थ- (1) मिथ्यात्व, (2) सासादन (3) मिश्र (4) अविरत सम्यक्त्व (5) देशविरत (6) प्रमत्तविरत (7) अप्रमत्तविरत (8) अपूर्वकरण (9) अनिवृत्तिकरण (10) सूक्ष्मलोभ (11) उपशांत मोह (12) क्षीण मोह (13) सयोग केवली जिन (14) अयोग केवली जिन। इन चौदह गुणस्थान को पार कर के सिद्ध होते हैं।

चौदह गुणस्थानों का स्वरूप :-

(1) मिथ्यात्व गुणस्थान -

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं ।
एयंतं विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ।।१५।।

भावार्थ- मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से मिथ्यात्व भाव होता है, तब तत्त्वों का व पदार्थों का श्रद्धान नहीं होता है, उसके पाँच भेद हैं - एकान्त, विपरीत, विनय, संशय तथा अज्ञान।

(2) सासादन गुणस्थान -

आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे ।
अणअण्णदरूदयादा णासियसम्मोति सासणक्खो सो।।१९।।

भावार्थ- उपशम सम्यक्त्व के अंर्तमुहूर्त काल के भीतर जब एक समय से लेकर छः आवली काल शेष रहे तब अनंतानुबंधी चार कषायों में से किसी एक के उदय से जीव सम्यक्त्व से छूट कर मिथ्यात्व की तरफ गिरता है तब बीच में सासादन भाव होता है। उसे सासादन गुणस्थान कहते हैं।

(3) मिश्र गुणस्थान -

सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण ।
ण य सम्मं मिच्छंपि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ।।२१।।

भावार्थ- जात्यंतर सर्व घाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से न तो सम्यक्त्व के भाव होते हैं न मिथ्यात्व के, किन्तु दोनों के मिले हुए परिणाम होते हैं। उसे मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

(4) अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान -

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादु खइयो य ।
विदियकसायुदयादो असंजदो होदि सम्मो य ।।२६।।

भावार्थ- अनन्तानुबंधी चार कषाय व मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व प्रकृति इन सात कर्मों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व व उनके क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व व छह के उदय न होने से केवल एक सम्यक्त्व के उदय से वेदक सम्यक्त्व इस गुणस्थान में होता है, अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से असंयम भी होता है। ऐसा अवरित सम्यक्त्व गुणस्थान है।

(5) देशविरत गुणस्थान

पच्चक्खाणुदयाददा संजयभावो ण होदि णवरिं तु ।
थोववदो हादि तदो देसवदो होदि पञ्चमओ ।।३०।।

भावार्थ- प्रत्याख्यान कषाय के उदय से यहाँ संयम नहीं होता है, किन्तु कुछ या एकदेश व्रत

होता है। यह देश नाम का पंचम गुणस्थान है।

(6) प्रमत्तविरत गुणस्थान :-

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा ।
मलजणणपमादोवि य तम्हा हु पमत्तविरददो सो ।।३२।।

भावार्थ- संज्वलन कषाय चार व नौ नोकषाय के उदय से संयम होता है, परन्तु अतिचार उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है इसलिए, उसे प्रमत्तविरत कहते हैं।

(7) अप्रमत्तविरत गुणस्थान :-

णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी ।
अणुबसमओ अखबओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ।।४६।।

भावार्थ - सर्व प्रमादों से रहित, व्रत, गुण, शील से मंडित, ज्ञानी, उपशम व क्षपक श्रेणी के नीचे ध्यानलीन साधु अप्रमत्तविरत है।

(8) अपूर्वकरण गुणस्थान :-

अन्तो मुहुत्तकालं गमिऊण अधापवत्तकरणं तं ।
पडिसमयं सुज्झंतो अपुव्वकरणं समल्लियइ ।।५०।।

भावार्थ- सातवें गुणस्थान में एक अन्तर्मुहूर्त तक अधः प्रवृत्तकरण समाप्त करके जब प्रति समय शुद्धि बढ़ाता हुआ अपूर्व परिणामों को पाता है तब अपूर्वकरण गुणस्थान नाम पाता है।

(9) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान :-

एकम्हि कालसमये संठाणादीहिं जइ णिवट्टंति ।
ण णिवट्टंति तहावि य परिणामेहिं मिहो जेहिं ।।५६।।
होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामो ।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ।।५७।।

भावार्थ- शरीर के आकारादि से भिन्नता होने पर भी जहाँ एक समय के परिणामों में परस्पर साधुओं के भिन्नता न हो व जिनके हर समय एक से ही परिणाम निर्मल बढ़ते हुए हों वे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान धारी साधु हैं, वे अति शुद्ध ध्यान की अग्नि शिखाओं से कर्म के वन को जलाते हैं।

(10) सूक्ष्मलोभ गुणस्थान :-

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा ।
सो सुहुमसंपराओ सहखादेणूणओ किंचि ।।६०।।

भावार्थ- जो सूक्ष्मलोभ के उदय को भोगनेवाला जीव उपशम या क्षपकश्रेणी में हो वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान धारी है, जो यथाख्यात संयमी से कुछ कम है।

(11) उपशांतमोह गुणस्थान :-

कदकफलजुदजल वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं ।
सयलोबसन्तमोहो उबसन्त कसायओ होदि ।।६१।।

भावार्थ- कतकफल डाले हुए जल के समान या शरद् काल में निर्मल सरोवर के पानी के समान जब सर्व मोहकर्म उपशम हो तब वह साधु उपशांतकषाय नाम गुणस्थानधारी होता है।

(12) क्षीणमोह गुणस्थान :-

णिस्सेसीणमोहो फलिहामलभायणुदयसमचितो ।
खीणकसाओ भण्णदि णिग्गंथो बीयरायेहिं ।।६२।।

भावार्थ- सर्व मोह का नाश करके जिसका भाव स्फटिक मणि के बर्तन में रक्खे हुए जल के समान निर्मल हो वह निर्ग्रन्थ साधु क्षीणकषाय है ऐसा वीतराग भगवान ने कहा है।

(13) सयोगकेवली जिन गुणस्थान:-

केवलणाणदिवायकिरणकलाबप्पणासियण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरमप्पवबएसो ।।६३।।
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण ।
जुत्तोत्ति सजोगजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ।।६४।।

भावार्थ- जिसने केवलज्ञान रूपी सूर्य की किरणों से अज्ञान का नाश कर दिया है, नौ केवललब्धि के प्रकाश से परमात्मा पद पा लिया है, जो सहाय रहित केवलज्ञान, केवलदर्शन सहित केवली है एवं योग सहित है उनको अनादि निधन आगम में सयोग केवली जिन कहा है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग, अनन्त वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र ये नौ केवल लब्धियाँ हैं।

(14) अयोगकेवली जिन गुणस्थान :-

सीलेसि सम्पत्तो णिरूद्धणिस्सेसआसवो जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ।।६५।।

भावार्थ- चारित्र के ईशपने को प्राप्त, सर्व आस्रवों से मुक्त व घातीय कर्मरज से रहित जीव अयोगकेवली जिन होते हैं।

विशेष स्पष्टीकरण - पहले पाँच गुणस्थान गृहस्थों के, छः से बारह तक साधुओं के व तेरह चौदह दो गुणस्थान परमात्मा अरहन्त के होते हैं।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव चार अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्म को उपशम करके पहले से एकदम चौथे में आकर या कोई जीव प्रत्याख्यान कषाय का भी उपशम करके एकदम पाँचवे में आकार या कोई प्रत्याख्यान कषाय का भी उपशम करके एकदम सातवें मे आकर उपशम सम्यक्त्वी एक अन्तर्मुहूर्त के लिये होता है वह मिथ्यात्व कर्म के तीन खंडकर देता है - मिथ्यात्व, मिश्र तथा सम्यक्त्व प्रकृति रूप।

इसी काल में छः आवली तक शेष रहने पर यदि अनन्तानुबंधी किसी कषाय का उदय हो जावे तो दूसरे सासादन में गिरता है, फिर नियम से पहले में आ जाता है। वह गुणस्थान उपशम से गिर करके ही होता है। यदि उपशम सम्यक्त्वी के मिश्र का उदय आ जावे तो तीसरे मिश्र गुणस्थान मे गिरता है। एक बार मिथ्यात्व में गिरा हुआ फिर वहाँ से तीसरे में जा सकता है। यदि सम्यक्त्व मोहनीय का उदय हो जाये तो उपशम से वेदक सम्यक्त्वी हो जाता हैं। वेदक से क्षायिक सम्ययक्त्वी चौथे से सातवें तक किसी में हो सकता हैं।

चौथे से पाँचवे में या सातवें में जा सकता है। पाँचवे से सातवें में चला जाता है, छठे में नहीं। सातवें से छठे में गिरता है। साधु के छठा सातवाँ बराबर हुआ करता है। इस पंचम काल मे सात गुणस्थान ही हो सकते हैं। आगे के गुणस्थान उत्तम संहननवालों के होते हैं। पंचमकाल में तीन नीचे के संहनन ही होते हैं।

धर्मध्यान सातवें तक होता है, शुक्लध्यान आठवें से होता है, सातवें के आगे दो श्रेणियाँ हैं - **उपशम श्रेणी,** जहाँ मोह का उपशम किया जाता है, उसके गुणस्थान चार हैं - आठवाँ, नौवां, दसवाँ, ग्यारहवाँ। फिर नियम से क्रम से पतन होता है। **क्षपक क्षेणी,** जहाँ मोह का क्षय किया जाता है, उस श्रेणी पर वज्रवृषनाराच संहनन धारी ही चढ़ सकता है। उसके चार गुणस्थान हैं - आठवाँ, नौवां, दसवाँ, बारहवाँ।

फिर बारहवाँ गुणस्थान धारी तीन दोष या तीन कर्म (ज्ञानावरण दर्शनावरण, अंतराय) क्षय करके तेरहवें में जाकर अरहन्त परमात्मा जिनेन्द्र हो जाता है। उसी गुणस्थान में विहार व

उपदेश होता है। आयु के भीतर जब अ, इ, उ, ऋ, ऌ, लघु पंच अक्षर उच्चारण मात्र काल शेष रहता है, तब चौदहवां गुणस्थान होता है, फिर जीव सिद्ध हो जाता है।

छठे, पाँचवें, चौथे से गिरकर एकदम किसी भी नीचे के गुणस्थान में आ सकता है, तीसरे व दूसरे से आकर पहले में ही जायेगा। तीसरे में व क्षपकश्रेणी में व केवली के तेरहवें गुणस्थान में मरण नहीं होता है। पहले चौथे, पाँचवे, तेरहवें गुणस्थान का उत्कृष्ट काल बहुत है। शेष सर्व गुणस्थानों का काल एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है।

एक जीव के चौदह मार्गणाएँ एक साथ पाई जायेंगी व गुणस्थान एक ही होगा। एक **प्रमत्तविरत** साधु के उपदेश देते हुए इस प्रकार मार्गणाएँ होंगी :-

1. मनुष्य गति, 2. पंचेन्द्रिय, 3. त्रसकाय, 4. वचनयोग, 5. पुंवेद, 6. लोभ कषाय, 7. श्रुतज्ञान, 8. सामायिक संयम, 9. चक्षु अचक्षुदर्शन, 10. शुभ लेश्या, 11. भव्यत्व, 12. वेदक सम्यक्त्व, 13. संज्ञी, 14. आहारक।

कर्मों की अपेक्षा से ही ये गुणस्थान व मार्गणाएँ हैं। इसलिए व्यवहारनय से कहीं है, निश्चयनय से जीव इनसे रहित हैं।

श्री समयसार में कहा है :-

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणन्ताभावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥६१॥

भावार्थ- वर्णादि, मार्गणा, गुणस्थानादि सर्व भाव व्यवहारनय से जीव के कहे गए हैं। निश्चयनय से ये कोई जीव के नहीं हैं। यह तो परम शुद्ध है।

दोहा १८

गृहस्थ भी निर्वाण मार्ग पर चल सकता है

गिहिवावार परट्ठिआ हेयाहेउ मुणंति।
अणुदिणु झायहि देउ जिणु लहु णिव्वाणु लहंति॥

अन्वयार्थ- **(गिहिवावार परट्ठिया)** जो गृहस्थ के व्यापार में लगे हुए हैं **(हेयाहेउ मुणंति)** तथा हेय उपादेय को **(त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य)** को जानते हैं **(अणुदिणु जिणु देउ झायहि)** तथा रात- दिन जिनेन्द्र देव का ध्यान करते हैं **(लहु णिव्वाणु लहंति)** वे भी शीघ्र

निर्वाण को पाते हैं।

भावार्थ- निर्वाण का उपाय हरएक भव्य जीव कर सकता है। यहाँ यह कहा है कि गृहस्थ के व्यापार धन्धे में उलझा हुआ मानव भी निर्वाण का साधन कर सकता है। यह बात समझनी चाहिए कि निर्वाण आत्मा का शुद्ध स्वभाव है, वह तो यह आप है ही, उस पर जो कर्म का आवरण है उसको दूर करना है। उसका भी साधन एक मात्र अपने ही शुद्ध आत्मीक स्वभाव का दर्शन या मनन है। **निर्वाण का मार्ग भी अपने पास ही है।**

सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा के भीतर भेद विज्ञान की कला प्रगट हो जाती है, जिसके प्रभाव से वह सदा ही अपने आत्मा को सर्व कर्मजाल से निराला वीतराग विज्ञानमय शुद्ध सिद्ध के समान श्रद्धान करता है, जानता है तथा उसका आचरण भी कर सकता है। जिसकी रूचि हो जाती है उस तरफ चित्त स्वयमेव स्थिर हो जाता है। आत्मस्थिरता भी करने की योग्यता अविरत सम्यक्त्वी गृहस्थ को हो जाती है। वह जब चाहे तब सिद्ध के समान अपने आत्मा का दर्शन कर सकता है।

आत्मदर्शन गृहस्थ तथा साधु दोनों ही कर सकते हैं। गृहस्थ अन्य कार्यों की चिन्ता के कारण बहुत थोड़ी देर आत्मदर्शन के कार्य में समय दे सकता है जब कि साधु गृही कार्य से निवृत्त है। उस साधु को गृह सम्बन्धी अनेक कार्यों की कोई फिकर नहीं है, इसलिए वह निरन्तर आत्मदर्शन कर सकता है। निर्वाण का साक्षात् साधन साधुपद में ही हो सकता है, गृहस्थ में एकदेश साधन हो सकता है।

हर एक तत्त्वज्ञानी अन्तरात्मा गृहस्थ को चार पुरुषार्थों का साधन आवश्यक है। मोक्ष या निर्वाण को ध्येयरूप या सिद्ध करने योग्य मान कर निर्वाण प्राप्ति का लक्ष्य रखकर अन्य तीन पुरुषार्थ धर्म, अर्थ और काम का साधन गृहस्थ करता है। तीनों में विरोध न पहुँचे इस तरह तीनों की एकता पूर्वक कार्य करता है इतना धर्म का भी साधन नहीं करता है जो द्रव्य (धन) को न पैदा कर सके व शरीर से इन्द्रिय भोग न कर सके। इतना द्रव्य कमाने में भी नहीं लगता है जो धर्म को साधन न कर सके व शरीर को रोगी बना ले जिससे काम पुरुषार्थ न कर सके। इतना इन्द्रिय भोग नहीं करता है जिससे धर्म- साधन में हानि पहुँचे व द्रव्य का लाभ/अर्थ पुरुषार्थ न कर सके।

अर्थ पुरुषार्थ के लिये वह अपनी योग्यता के अनुसार नीचे लिखे छः कर्म करता है व इनमें सहायक होता है -

(1) असिकर्म - रक्षा का उपाय शस्त्र धारण करके रक्षा का काम।

(2) मसिकर्म - हिसाब- किताब जमा- खर्च व पत्रादि लिखने का काम।

(3) कृषिकर्म - खेती करने व करने का व प्रबन्ध कराने की व्यवस्था।

(4) **वाणिज्यकर्म** - देश- परदेश में माल का क्रय- विक्रय करना।

(5) शिल्पकर्म - नाना प्रकार के उद्योगों से आवश्यक वस्तुओं को बनाना।

(6) विद्याकर्म - गाना, बजाना, नृत्य, चित्रकारी आदि के हुनर।

काम पुरूषार्थ में वह न्याय पूर्वक व धर्म का खण्डन न करते हुए पाँचों इन्द्रियों के भोग भोगता है। स्पर्शन इन्द्रिय के भोग में अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तोष रखता है, रसना इन्द्रिय के भोग में शुद्ध व स्वास्थ्यवर्धक भोजन- पान ग्रहण करता है, घ्राण इन्द्रिय के भोग में शरीर रक्षक सुगन्ध लेता है, चक्षु इन्द्रिय के भोग में उपयोगी ग्रन्थों का व वस्तुओं का अवलोकन करता है, कर्ण इन्द्रिय के भोग में उपयोगी गानादि सुनता है।

धर्म पुरुषार्थ में वह गृहस्थ नित्य छः कर्मों का साधन करता है :-

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने दिने ॥

(पद्मनंदि पंचविंशतिका)

(1) देव पूजा - अरहन्त व सिद्ध परमात्मा जिनेन्द्र की भक्ति करना। उसके छः प्रकार हैं ? - (1) नाम लेकर गुण स्मरण **नाम भक्ति** है। (2) स्थापना या मूर्ति द्वारा पूजन, दर्शन व जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य दीप, धूप, फल इन आठ द्रव्यों से पूजन **स्थापना भक्ति** है। (3) अरहन्त व सिद्ध के स्वरूप का विचार **द्रव्य भक्ति** है। (4) अरहन्त व सिद्ध के भावों का मनन **भाव भक्ति** है। (5) जिन स्थानों से महान पुरुषों ने जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण को पाया उन सभी के द्वारा गुण स्मरण **क्षेत्र भक्ति** है। (6) जिन समयों में जन्म, तप, ज्ञान व निर्वाण पाया उन कालों को ध्यान में लेकर गुण स्मरण **काल भक्ति** है। छः प्रकार से देवपूजा होती है। यथा सम्भव नित्य करे।

(2) गुरु भक्ति - आचार्य, उपाध्याय, साधु की विनय, सेवा, उनसे उपदेश ग्रहण यदि प्रत्यक्ष न हो तो परोक्ष उनकी शिक्षा को मान्य रखना गुरू सेवा है।

(3) स्वाध्याय - तत्त्वज्ञान पूर्ण आध्यात्मिक शास्त्रों को पढ़ना व सुनना व विचारना।

(4) संयम - नियमित आहारादि करना, स्वच्छन्द वर्तन न करना।

(5) तप - प्रातः काल व संध्याकाल कुछ देर तक आत्मध्यान का अभ्यास करना, सामायिक पाठ पढ़ना, आत्म का स्वरूप विचारना।

(6) दान - भक्ति पूर्वक धर्मात्मा मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका को व दयाभाव से प्राणी मात्र को आहार, औषधि, अभय व ज्ञान दान देना। तथा आठ मूलगुणों को पालना। वे मूलगुण भिन्न- भिन्न आचार्यों के मत से निम्न प्रकार हैं :-

श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं :-

मद्यमांससमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचमकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुः गृहिणां श्रमणोत्तमाः ।।६७।।

भावार्थ - 1. मदिरा नहीं पीना, 2. मांस नहीं खाना, 3. मधु नहीं खाना। (क्योंकि मक्खियों का घातक है व हिंसाकारक है) इन तीन मकारों को नहीं सेवना, तथा पांच अणुव्रतों को पालना।

(1) अहिंसा अणुव्रत - संकल्पी हिंसा नहीं करना। जैसे मांसाहार के लिये शिकार, धर्मार्थ पशुवध, वृथा मौजशौक में प्राणी पीड़ा करना आदि। आरम्भ हिंसा जो अर्थ व काम पुरुषार्थ के साधन में आवश्यक है उसको यह साधारण गृहस्थी त्याग नहीं कर सकता है, वृथा आरम्भ भी नहीं करता है।

(2) सत्य अणुव्रत - सत्य बोलता है। पर पीड़ाकारी वचन नहीं बोलता है। कटुक निन्दनीय भाषा नहीं बोलता है। आरम्भ साधक वचनों का त्याग नहीं कर सकता।

(3) अचौर्य अणुव्रत - गिरी, पड़ी व भूली हुई किसी का वस्तु नहीं ग्रहण करता है। चोरी, विश्वासघात से बचता है।

(4) ब्रह्मचर्य अणुव्रत - स्वस्त्री में सन्तोष रख के वीर्य- रक्षा करता है।

(5) परिग्रह त्याग अणुव्रत - तृष्णा के घटाने के लिये सम्पत्ति का प्रमाण कर लेता है। उतनी मर्यादा पूरी होने पर परोपकारार्थ व धर्मार्थ जीवन बिताता है।

यह गृहस्थ इस वाक्य पर ध्यान रखता है :-

सर्वमेव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणं ।।

भावार्थ- जैन गृहस्थ उन सर्व लौकिक नियमों को प्रमाण करता है, कि जिनसे अपनी श्रद्धा में व पांच अणुव्रतों में बाधा नहीं आवे। सामाजिक नियमों का परिवर्तन उस आधार पर कर सकता है।

श्री जिनसेनाचार्य महापुराण में कहते हैं :-

हिंसाऽसत्यस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात् ।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्टमूलगुणाः ।।

भावार्थ- स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह का त्याग तथा जुआ नहीं खेलना, मांस नहीं खाना, मदिरा नहीं पीना, ये गृहस्थी के आठ मूलगुण हैं।

पण्डित आशाधरजी सागारधर्मामृत में कहते हैं -

मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुतिः ।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ।।१८२।।

भावार्थ- ये भी आठ मूलगुण हैं - (1) मदिरा त्याग (2) मांस त्याग (3) मधु त्याग (4) रात्रि भोजन त्याग (5) पांच फल गूलर, पाकर, बड़, पीपल, कठूमर, अंजीर त्याग (6) पांच परमेष्ठी भक्ति (7) जीव दया (8) जल छानकर पीना ।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है -

मद्य मासं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ।।६१।।

भावार्थ- हिंसा से बचनेवाले को प्रथम ही मदिरा, माँस, मधु को त्यागना व ऊपर कहे पाँच फल न खाने चाहिए।

आत्मज्ञानी गृहस्थ जिनेन्द्र का व अपने आत्मा का स्वभाव एक समान जानता है इसलिए निरन्तर जिनेन्द्र के ध्यान से वह अपना ही ध्यान करता है। गृहस्थ सम्यग्दृष्टि आत्मा के चिंतवन को परम रूचि से करता है। शेष कामों को कर्मों के उदयवश लाचार होकर करता है। उस गृहस्थ के ज्ञानचेतना की मुख्यता है। गृहस्थ के राग- द्वेषपूर्वक कामों में व कर्मफल भोग में भीतर से समभाव है। भावना यह रखता है कि कब कर्म का उदय टले जो मैं गृह प्रपंच से छूटूं।

श्री समाधिशतक में कहा है -

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात् किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ।।५०।।

भावार्थ- ज्ञानी सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञान के सिवाय अन्य कार्य को बुद्धि में देर तक नहीं धारता है। प्रयोजनवश कुछ काम करना हो तो उसमें आसक्त न होकर वचन व काय से कर लेता है।

समयसार कलश में कहा है -

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥१३५॥

भावार्थ- ज्ञानी विषयों को सेवन करते हुए विषय सेवन के फल को नहीं भोगता है। वह तत्त्वज्ञान की विभूति व वैराग्य के बल से सेवते हुए भी सेवने वाला नहीं है। समभाव से कर्म का फल भोगने पर कर्म की निर्जरा बहुत होती है, बन्ध अल्प होता है, इसलिए सम्यग्दृष्टि गृहस्थ निर्वाण का पथिक होकर संसार घटाता है। उसकी दृष्टि स्वतंत्रता पर रहती है, संसार से उदासीन है, प्रयोजन के अनुकूल अर्थ व काम पुरुषार्थ साधता है व व्यवहार धर्म पालता है, परन्तु उन सबसे वैरागी है। प्रेमी मात्र एक अपने आत्मानुभव का है, उससे यह शीघ्र ही निर्वाण को पाने की योग्यता को बढ़ा लेता है।

दोहा १९

जिनेन्द्र का स्मरण परम पद का कारण है

जिण सुमिरहु जिण चिंतबहु जिण झायहु सुमणेण।
सो झाहंतह परमपउ लब्भइ एक्कखणेण ॥

अन्वयार्थ- **(सुमणेण)** शुद्धभाव से **(जिण सुमिरहु)** जिनेन्द्र का स्मरण करो **(जिण चिंतवहु)** जिनेन्द्र का चिंतवन करो **(जिण झायहु)** जिनेन्द्र का ध्यान करो **(सो झाहंतह)** ऐसा ध्यान करने से **(एक्कखणेण)** एक क्षण में **(परमपउ लब्भइ)** परमपद प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ- जिनेन्द्र के स्वभाव में व अपने आत्मा के मूल स्वभाव में कोई प्रकार का अन्तर नहीं है। सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा आत्मा के उत्कृष्ट पद का परमप्रेमी हो जाता है। उसके भीतर यह अनुकम्मा पैदा हो जाती है कि जिन के समान होते हुए भी इसे भव- भव में जन्म- मरण के कष्ट सहने पड़े, यह बात ठीक नहीं है। इसे तो जिन के समान स्वतन्त्र व पूर्ण व पवित्र बना देना चाहिये। यह पर्याय की अपेक्षा अपने आत्मा को अशुद्ध रागी- द्वेषी, अज्ञानी, कर्मबद्ध, शरीर में कैद पाता है व श्री जिनेन्द्र भगवान को शुद्ध वीतरागी, ज्ञानी, कर्ममुक्त व शरीर से रहित देखता है तब गाढ़ प्रेमालु व उत्साहित हो जाता है कि शुद्ध पद में अपने आत्मा को शीघ्र पहुँचा देना चाहिए। वह जिन पद को आदर्श या शुद्धता का नमूना मान कर हर समय उनको धारणा में रखता है।

गृहस्थी के काम व आहार विहारादि करते हुये भी वह बार- बार जिनदेव को स्मरण करता है। कभी देव पूजादि व सामायिक के समय जिनपद के स्वरूप का जिनकी गुणावली का चिन्तवन करता है। चिंतवन करते करते **क्षणमात्र के लिये स्थिर होता है। आपको जिन भगवान के स्वरूप में जोड़ देता है। दो को एकी भाव मय कर देता है।** अद्वैत के शुद्ध भाव में एकतान हो जाता है, तब वास्तव में उसी क्षण आत्मा का साक्षात्कार पाकर निर्वाण का सा आनन्द अनुभव करता है। ध्यान में थिरता कम होने पर फिर ध्यान से छूटकर चिन्तवन करने लगता है। फिर ध्यान को पा लेता है। फिर आनन्द का अमृत पीने लगता है। इस तरह जिन समान अपने आत्मा का ध्यान ही परम पद के निकट ले जाने पर वाहन हो जाता है। यदि कोई साधु वज्रवृषभनाराच संहनन का धारी लगातार एक मुहूर्त या ४८ मिनट से कुछ कम समय तक ध्यान में एकतान हो जावे तो चारों घातीय कर्मों का क्षय करके अरहंत परमात्मा हो जावे। फिर उस शरीर के पीछे शरीर रहित सिद्ध हो जावे।

जैसे कोई स्त्री पति के परदेश जाने पर अपना घर का काम करतीहुई भी बार- बार पति को स्मरण करती है, कभी स्थिर बैठकर पति के गुणों को व प्रेम को विचार करती है। विचारते विचारते कभी प्रेम में आसक्त हो पति से मिलने का सा सुख अनुभव करती है। इसी तरह जिनेन्द्र पद का प्रेमी अन्तरात्मा ज्ञानी गृहस्थ हो या साधु, आत्मा के कार्य के सिवाय अन्य कामों को करते हुए जिनेन्द्र का बार बार स्मरण करता है। कभी एकान्त में स्थिर बैठकर गुणों को विचारता है, कभी ध्यान में लीन हो जाता है। उसका जितना प्रेम जिन भगवान के स्वरूप से है उतना किसी वस्तु से नहीं है, **ज्ञानी अन्तरात्मा शुद्ध वीतराग भाव से जिन भगवान का स्मरण, चिन्तवन व उनका ध्यान करता है। किसी प्रकार की वांछा व फल की चाहना नहीं रखता है। उसके भीतर संसार के सर्व क्षणिक पदों से पूर्ण वैराग्य है।** वह इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के **पदों को भी नहीं चाहता है। न वह इन्द्रियों के तृष्णावर्द्धक भोगों को चाहता है, न वह अपनी पूजा या प्रसिद्धि चाहता है।** वह कषाय कालिमा को बिलकुल मेटना चाहता है, वीतराग होना चाहता है, स्वानुभव प्राप्त करना चाहता है, निजानन्द रस पान करना चाहता है। इसलिए वह मुमुक्षु शुद्ध निर्लेप भाव से जिनेन्द्र भगवान का स्मरण चिन्तवन व ध्यान करता है। **यह उसको ज्ञान है कि भक्ति करने से या सविकल्प चिंतवन करने से या निर्विकल्प ध्यान करने से भी जितना अंश राग भाव होगा, वह कर्मबन्ध करेगा, पुण्य को भी बाँधेगा व**

पुण्य का फल भी होगा। परन्तु वह ज्ञानी पुण्य को व पुण्य के फल को बिलकुल चाहता नहीं है। वह तो कर्म रहित पद को ही चाहता है।

इस ज्ञानी के भीतर सम्यग्दर्शन के आठ अंग भले प्रकार अंकित रहते हैं। वह ज्ञानी इन आठ अंगों को मनन इस तरह रखता है कि मुझे अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव में या जिन परमात्मा में कोई संशय नहीं है, न मुझे मरण का रोगादि का व किसी अकस्मात् का भय है। मेरा आत्मा अमूर्तिक, अभेद्य, अछेद्य, अविनाशी है। इसका कोई बिगाड़ कर नहीं सकता है। इस तरह स्वरूप में निःशंक व निर्भय होकर **निः शंकित** अंग पालता है। इस ज्ञानी को कर्मों के आधीन क्षणिक, तृष्णा वर्द्धक, पापबन्धकारी इन्द्रिय सुखों की रंचमात्र लालसा या आसक्ति नहीं होती है यह पूर्णपने वैरागी है। केवल प्रकार के अन्य सुख की व स्वानुभव के सिवाय अन्य किसी व्यवहार धर्म की या मोक्षपद के सिवाय अन्य किसी पद की वांछा नहीं रखता है। वह चाह तो शुद्ध भाव की रखता हुआ **निष्कांक्षित** अंग को पालता है। ज्ञानी छः द्रव्यों को व उनके गुणों व उनकी होने वाली स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायों को पहचानता है। सर्व ही जगत की व्यवस्था को नाटक के समान देखता है। किसी को बुरा भला मानने का विचार न करके घृणा भाव की कालिमा से दूर रहकर व समभाव की भूमि में तिष्ठकर **निर्विचिकित्सा** अंग को पालता है।

वस्तु स्वरूप को ठीक- ठीक जाननेवाला ज्ञानी जैसे अपने आत्मा को द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय से एक व अनेक रूप देखता है वैसे अन्य जगत की आत्माओं को देखता है, वह किसी बात में मूढ़भाव नहीं रखता है। वह धर्म, अधर्म, आकाश, काल चार द्रव्यों को स्वभाव में सदा परिणमन करते हुए देखता है। पुद्गल की स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायों को पुद्गल की मानता है। जीव की स्वाभाविक व वैभाविक नैमित्तिक पर्यायों को जीव की जानता है। **उपादेय एक अपने शुद्ध द्रव्य को ही जानता है।** इस तरह ज्ञानी वस्तु स्वभाव का ज्ञाता होकर **अमूढ़दृष्टि** अंग पालता है। ज्ञानी सर्व रागादि दोषों से परे रहकर व कषाय के मैल को मैल समझकर उनसे रहित अपने वीतराग स्वभाव के अनुभव में जमकर अपने भीतर अनन्त शुद्ध गुणों का प्रकाश करता है, दोषों से उपयोग हटाकर आत्मीक गुणों में अपने को झलकाता हुआ **उपगूहन या उपबृंहण अंग** को पालता है।

ज्ञानी जानता है कि राग- द्वेष की पवन लगने से मेरा आत्मीक समुद्र चंचल होगा। इसलिए वीतराग भाव में स्थिर होकर व ज्ञान चेतना मय होकर आत्मानन्द के स्वाद में तन्मय हो **स्थितिकरण**

अंग को पालता है। अपने उपयोग को आत्मा की भूमि से बाहर नहीं जाने देता है। ज्ञानी जीव सर्व जगत की आत्माओं को एक समान शुद्ध व परमानन्दमय देखकर परम शुद्ध प्रेम में पग कर ऐसा प्रेमालु हो जाता है कि सर्व विश्व को एक शांतिमय समुद्र बनाकर उस समुद्र में गोते लगाता है। शुद्ध विश्व प्रेम को रखकर **वात्सल्य अंग** पालता है। वह ज्ञानी अपने निर्मल उपयोग रूपी रथ में परमात्मा को विराजमान करके ध्यान के मार्ग में रथ को चलाकर अपने आत्मा की परम शांत महिमा को विस्तार करके **प्रभावना अंग** पालता है। इस तरह विभूषित ज्ञानी शुद्ध भाव से श्री जिनेन्द्र का स्मरण, चिन्तवन व ध्यान करता हुआ निर्वाण के अचल नगर को प्रयाण करता है।

श्री समाधिशतक में कहा है :-

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ।।९७।।

भावार्थ- जैसे बाती दीपक से भिन्न है तो भी दीपक की सेवा कर के स्वयं दीपक हो जाती है वैसे यह भिन्न परमात्मा की उपासना करके स्वयं परमात्मा हो जाता है।

भावपाहुड़ में श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं :-

णाणम्मविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण ।
बाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ।।१२५।।

भावार्थ- भव्यजीव शुद्धभाव से ज्ञानमई निर्मल शीतल जल को पीकर व्याधि, जरा, मरण की वेदना की दाह से छूट कर शिवरूप मुक्त हो जाते हैं।

श्री आप्तस्वरूप में कहा है कि :-

रागद्वेषादयो येन जिताः कर्म महाभटाः ।
कालचक्रविनिर्मुक्तः स जिनः परीकीर्तितः ।।२१।।

भावार्थ- जिसने राग- द्वेषादि को व कर्मरूपी महान योद्धाओं को जीता है व जो मरण चक्र से रहित है वही जिन कहा गया है।

दोहा २०

अपनी आत्मा में व जिनेन्द्र में भेद नहीं

सुद्धप्पा अरु जिणवरहं भेउ म किमपि वियाणि ।
मोक्खह कारण जोईया णिच्छइ एउ वियाणि ।।

अन्वयार्थ- (जोईया) हे योगी ! **(सुद्धप्पा अरु जिणवरहं किम पि भेउ म वियाणि)** अपने शुद्धात्मा में और जिनेन्द्र में कोई भी भेद मत समझो **(मोक्खह कारण णिच्छइ एउ वियाणि)** मोक्ष का साधन निश्चयनय से यही मानो।

भावार्थ- मोक्ष केवल एक अपने ही आत्मा की पर के संयोग रहित शुद्ध अवस्था का नाम है। तब उसका उपाय भी निश्चयनय से या पर्याय में यही है कि अपने आत्मा का शुद्ध अनुभव किया जावे तथा श्री जिनेन्द्र अरहंत या सिद्ध परमात्मा के समान ही अपने को माना जावे।

जब ऐसा माना जायेगा तब अनादि की मिथ्या वासना का अभाव होगा। अनादि से यही मिथ्याबुद्धि थी कि मैं नर हूँ, तिर्यंच हूँ, देव हूँ या मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, क्रोधी हूँ, मानी हूँ, मायावी हूँ, लोभी हूँ, कामी हूँ, रूपवान हूँ, बलवान हूँ, रोगी हूँ, निरोगी हूँ, बालक हूँ, युवा हूँ, वृद्ध हूँ या मैं जन्मा, मैं वृद्ध हुआ, मैं मरा। आठ कर्मों के उदय के विपाक से जो विभाव दशा आत्मा की होती थी उसी को यह अज्ञानी अपनी ही मूल दशा मान लेता था। कर्मकृत रचना में अहंबुद्धि रखता था, शरीर के सुख में सुखी व शरीर के दुख में दुखी मानता था। जैसे कोई सिंह का बालक सिंह होकर भी दीन पशु बना रहता है, वैसे ही अज्ञान से वह अपने को दीन हीन संसारी मान रहा था। **श्री गुरु के प्रसाद से या शास्त्र के ज्ञान से या स्वयं ही उसकी जब ज्ञान की आँख खुली तब, उसको यह प्रतीति हुई कि मैं तो स्वयं भगवान परमात्मा हूँ।** मेरा स्वभाव सिद्ध परमात्मा से रंच मात्र कम नहीं है। मैं तो संसार के प्रपंचों से रहित हूँ, मैं कर्मों से अलिप्त हूँ, परम वीतरागी हूँ, परमानन्दमय हूँ, जितने अनन्तगुण सिद्ध परमात्मा में हैं, वे सब मेरे आत्मा में हैं। मै अमूर्तीक अखण्ड ज्ञानमूर्ति हूँ, केवल आप से आप में आप ही के लिये आप में से आपको आप ही परिणमाता हूँ।

मैं ही अपनी शुद्ध परिणति का कर्ता हूँ, शुद्ध परिणाम ही मेरा कर्म है। शुद्ध परिणाम ही कारण है। यही संप्रदान है, अपादान है, अधिकरण है या मैं इन छहों कारकों के विचार से रहित एक अभेद स्वरूप हूँ, मैं स्वयं रागादिक भावों का या पुण्य- पाप कर्म का कर्ता नहीं हूँ, मैं केवल अपने ही शुद्ध व अतीन्द्रिय सहज आनन्द का भोगने वाला हूँ, मै सांसारिक सुख का या दुःख का भोगनेवाला नहीं हूँ।

मैं सिद्ध के समान परम निश्चल हूँ, भोग की चंचलता से रहित हूँ मन, वचन, काय के पन्द्रह योगों से शून्य हूँ, मैं कर्म तथा नोकर्म का आकर्षण करनेवाला नहीं। न मेरे में अजीव तत्त्व

है, न आस्रव तत्त्व है, न बन्ध तत्त्व है, न संवर तत्त्व है, न निर्जरा तत्त्व है, न मोक्ष तत्त्व है। मैं तो सदा ही शुद्ध जीवत्व का धारी एक जीव हूँ। सुख, सत्ता, चैतन्य (स्वानुभूति) बोध ये चार ही मेरे निज प्राण हैं, जिनसे मैं सदा जीवित हूँ।

जैसे सिद्ध भगवान कृतकृत्य हैं वैसे मैं कृतकृत्य हूँ। न वे जगत के रचने वाले हैं न मैं जगत का रचनेवाला हूँ। न वे किसी को सुख या दुःख देते हैं, न मैं किसी को सुख या दुःख देता हूँ। वे जगत के प्रपंच से निराले, मैं भी जगत के प्रपंच से निराला हूँ। वे असंख्यात् प्रदेशी अखण्ड हैं. मैं भी असंख्यात प्रदेशी अखण्ड हूँ। वे अन्तिम शरीरप्रमाण आकारधारी हैं, मैं अपने शरीर प्रमाण आकारधारी हूँ, परन्तु प्रदेशों की संख्या से कम नहीं हूँ। वे सिद्ध भगवान सर्व गुणस्थान की श्रेणियों से बाहर हैं, मैं भी गुणस्थानों से दूरवर्ती हूँ। सिद्ध भगवान चौदह मार्गणाओं से परे हैं, मैं भी चौदह मार्गणाओ से जुदा हूँ।

सिद्ध भगवान तृष्णा की दाह से रहित हैं , मैं भी तृष्णा की दाह से रहित हूँ। सिद्ध भगवान कामवासना से रहित हैं, मैं भी कामविकार से रहित हूँ। सिद्ध भगवान न स्त्री हैं, न पुरुष हैं, न नपुंसक हैं, मैं भी न स्त्री हूँ, न पुरुष हूँ, न नपुंसक हूँ। सिद्ध भगवान क्रोध की कालिमा से रहित परम क्षमादान हैं, निन्दक पर रोष नहीं करते, मैं भी क्रोध के विकार से रहित परम क्षमादान हूँ, निन्दक पर समभाव का धारी हूँ। सिद्ध भगवान कुल, जाति, रूप, बल, धन, अधिकार, तप, विद्या इन आठ मदों से रहित परम कोमल परम मार्दव गुणधारी हैं, मैं भी आठों मदों से रहित पूर्ण निरभिमानी व परम कोमल मार्दव भाव का धनी हूँ। सिद्ध भगवान मायाचार की वक्रता से रहित परम सरल सहज आर्जव गुणधारी हैं, मैं भी कपट- जाल से शून्य परम निष्कपट सरल आर्जव स्वभावधारी हूँ।

सिद्ध भगवान असत्य की वक्रता से रहित परम सत्य अमिट एक स्वभावधारी है, मैं भी सर्व असत्य कल्पनाओं से रहित परमपवित्र सत्य शुद्ध धर्म का धनी हूँ। सिद्ध भगवान लोभ के मल से रहित परम पवित्र शौच गुण के धारी हैं, मैं भी सर्व लालसा से शून्य परम सन्तोषी व परम शुद्ध शौच स्वभाव का स्वामी हूँ। सिद्ध भगवान मन व इन्द्रियों के प्रपंच से व अदयाभाव से रहित पूर्ण संयम धर्म के धारी हैं, मैं भी मन व इन्द्रियों की चंचलता से रहित व परम स्वदया से पूर्ण परम संयम गुण का धारी हूँ। सिद्ध भगवान आप से ही अपनी स्वानुभूति की तपस्या को निरन्तर तपते हुए परम तप धर्म के धारी हैं, मैं भी स्वात्माभिमुख होकर अपनी ही स्वात्मरमणता की अग्नि में

निरन्तर आपको तपाता हुआ परम इच्छा रहित तप गुण का स्वामी हूँ। सिद्ध भगवान परम शांत भाव से पूर्ण होते हुए व परम निर्भरता को धारते हुए विश्व में परम शांत व अभय दान को विस्तारते हुए परम त्याग धर्म के धारी हैं, मैं भी सर्व विश्व में चन्द्रमा के समान परम शान्त अमृत वर्षाता हुआ व सर्व जीवमात्र को अभय करता हुआ परम त्याग गुण का स्वामी हूँ। सिद्ध भगवान एकाकी निस्पृह निरंजन रहते हुए परम आकिञ्चन्य धर्म के धारी हैं, मैं भी परम एकान्त स्वभाव में रहता हुआ व पर के संयोग से रहित परम आकिञ्चन्य गुण का स्वामी हूँ। सिद्ध भगवान परमशील स्वभाव में व अपने ब्रह्मभाव में रमण करते हुए परम ब्रह्मचर्य धर्म के धारी हैं, मैं भी अपने ही शुद्ध स्वभाव में निर्विकारता से स्थिर होता हुआ व ब्रह्मभाव का भोग करता हुआ परम ब्रह्मचर्य गुण का स्वामी हूँ। सत्ताधारी होते हुए भी स्वभाव की व गुणों की अपेक्षा मेरे आत्मा की व सिद्ध परमात्मा की पूर्ण एकता है। जो वह सो मैं, सो मैं सो वह, इस तरह जो योगी निरन्तर अनुभव करता है वही मोक्ष का साधक होता है।

श्री परमात्म प्रकाश में कहा है :-

जेहउ णिम्मलु णाणमउ, सिद्धिहिं णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभुपरु, देहहं मंकरि भेउ ।।२६।।

भावार्थ- जैसे निर्मल ज्ञानमय परमात्मादेव सिद्ध गति में निवास करते हैं, वैसे ही परमब्रह्म परमात्मा इस अपने शरीर में निवास करता है, सिद्ध भगवान तथा अपने में कुछ भेद न जानो।

श्री बृहद् सामायिक पाठ में कहते हैं :-

गौरो रूपधारो दृढ: परिदृढ: स्थूल: कृश: कर्कशो,
गीर्वाणो मनुज: पशुर्नरकभू: षंढ: पुमानंगना।
मिथ्यात्त्वं विद्धासि कल्पनमिदं मूढोऽविबुध्यात्मनो,
नित्यं ज्ञानमयस्वभाववममलं सर्वव्यपायच्युतं ।।७०।।

भावार्थ- हे मूढ़ प्राणी ! तू अपने आत्मा को नित्य, ज्ञानमय स्वभावी, निर्मल व सर्व आपत्तियों व नाश से रहित नहीं जानकर ऐसी मिथ्या कल्पना करता रहता है कि मैं गोरा हूँ, रूपवान हूँ, बलिष्ठ हूँ, निर्बल हूँ, मोटा हूँ, पतला हूँ, कठोर हूँ, देव हूँ, मनुष्य हूँ, पशु हूँ, नारकी हूँ, नपुसंक हूँ, पुरुष हूँ व स्त्री हूँ।

श्री मोक्षपाहुड में कहा है :-

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रूद्दाओ ।
कम्मिधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ।।२६।।

भावार्थ- जो जीव भयानक संसार समुद्र से निकलना चाहता है तो वह शुद्धात्मा का ध्यावे। उसी से कर्म ईंधन भस्म होगा।

दोहा २१

आत्मा ही जिन है, यही सिद्धान्त का सार है

जो जिणु सो अप्पा मुणहु इह सिद्धंतहु सारु ।
इह जाणीविणा जोयईहु छंडहु मायाचारु ।।

अन्वयार्थ- (जो जिणु सो अप्पा मुणहु) जो जिनेन्द्र है वही यह आत्मा है ऐसा मनन करो **(इह सिद्धंतहु सारू)** यह सिद्धान्त का सार है। **(इह जाणेविण)** ऐसा जानकर **(जोयईहु)** हे योगीजनो ! **(मायाचारू छंडहु)** मायाचार छोड़ो।

भावार्थ- तीर्थंकरों के द्वारा जो दिव्यध्वनि प्रगट होती है, वही सिद्धान्त का मूल स्रोत है। उस वाणी को गणधरादि मुनि धारणा में लेकर द्वादशांग की रचना करते हैं। फिर उसी के अनुसार अन्य आचार्य ग्रन्थ रखते हैं। उन ग्रन्थों का विभाग चार अनुयोगों में किया गया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, इन चारों ही के पढ़ने का सार इतना ही है जो अपने आत्मा को परमात्मा के समान समझ लिया जावे।

श्री रत्नकरंड श्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्र कहते हैं :-

प्रथमानुयोग का स्वरूप

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ।।४३।।

भावार्थ- प्रथमानुयोग उसको कहते हैं जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों का कथन हो, महापुरुषों के जीवनचरित्र हों। चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, नौ बलभद्र ऐसे त्रेशठशलाका पुरुषों के चरित्र हों, जिसके पढ़ने से पुण्य का बंध हो, जो रत्नत्रय की प्राप्ति व समाधि का भंडार हो, जो सम्यग्ज्ञान का प्रदर्शन हो। निश्चय रत्नत्रय व समाधि अपने ही शुद्धात्मा को परमात्मा रूप निश्चय करने से होती है। प्रथमानुयोग मे दृष्टान्तों के द्वारा बताया है कि जिन्होंने अपने को शुद्ध समझ कर पूर्ण वैरागी होकर आत्मध्यान किया था, वे ही

निर्वाण को पहुँचे हैं। इसलिए यह अनुयोग भी आत्मतत्त्व को झलकाने वाला है।

करणानुयोग का स्वरूप -

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ।।४४।।

भावार्थ- करणानुयोग में लोक अलोक के विभाग का, काल के, गुणों के पलटने का च चारों गतियों की भिन्न भिन्न जीवों की अवस्थाओं का मार्गणा व गुणस्थानों का दर्पण के समान ठीक ठीक वर्णन है, जिससे सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होता है। कर्मों के संयोग से सांसारिक अवस्था व विभाव परिणतियाँ किस तरह होती है, उन सबका सूक्ष्म कथन करके यह झलकाया है कि जहाँ तक कर्मों का संयोग नहीं छूटेगा, भव भ्रमण नहीं हटेगा व आत्मा तो स्वभाव से ही कर्मरहित शुद्ध है।

चरणानुयोग का स्वरूप -

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् ।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ।।४५।।

भावार्थ- जिसमें गृहस्थी व साधुओं के चारित्र की प्राप्ति वृद्धि व रक्षा का उपाय बताया हो व जो सम्यग्ज्ञान को प्रगट करे वह चरणानुयोग है। इसमें भी निश्चय चारित्र स्वात्मानुभव को बताते हुए उसके लिये निमित्त साधन रूप श्रावक व मुनि के व्यवहार चारित्र के पालन का उपाय बताया है वह यह समझाया है कि निश्चय आत्म- तत्त्व के भीतर चर्या के बिना व्यवहार चारित्र केवल मोक्षमार्ग नहीं है। आत्मा को परमात्मा रूप जब अनुभव करेगा, तब ही सम्यक्चारित्र होगा।

द्रव्यानुयोग का स्वरूप -

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये व बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमाततनुते ।।४६।।

भावार्थ- द्रव्यानुयोग वह है जो दीपक के समान जीव- अजीव तत्त्वों को, पुण्य- पाप को, बंध व मोक्ष को तथा भाव श्रुतज्ञान के प्रकाश को प्रगट करे। इसमें व्यवहारनय से सात तत्त्वों का स्वरूप बताकर निश्चय नय से यह झलकाया है कि यह अपना आत्मा ही परमात्मा है, यही ग्रहण करने योग्य है। मोक्ष का उपाय एक शुद्ध आत्मा का ज्ञान है।

जो आत्मा को ठीक- ठीक समझना चाहे व आत्मा को निर्वाण पथ पर ले जाना

चाहे उसका कर्तव्य है कि वह चारों ही अनुयोगों के ग्रंथों का मर्मी हो एवं चारों ही में अपने आत्मा के शुद्ध तत्त्व की झाँकी (दृष्टि) करे। तब पूर्ण निश्चय हो जायेगा कि मोक्षमार्ग व द्वादशांग वाणी का सार एक अपने ही आत्मा को शुद्ध परमात्मा के समान अनुभव करना है।

श्री समयसार में कहा है :-

जो हि सुदेणभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ॥९॥

भावार्थ- द्वाद्वशांग वाणी के द्वारा अपने आत्मा को पर के संयोग रहित केवलशुद्ध अनुभव करता है, उसी को लोक के ज्ञाता महर्षियों ने निश्चय से श्रुतकेवली कहा है। सर्व ग्रन्थों का सार यही है कि कपट को छोड़कर यथार्थ यह जान ले कि मैं ही परमात्मा देव हूँ, आप ही के ध्यान से शुद्धात्मा प्राप्त होगी।

दोहा २२

मैं ही परमात्मा हूँ !

जे परमप्पा सो जि हउं जे हउं सो परमप्पु।
इउ जाणेविणु जोइआ अण्णु म करहु वियप्पु ॥

अन्वयार्थ- (**जोइया**) हे योगी ! (**जे परमप्पा सो जि हउं**) जो परमात्मा है वही मैं हूँ (**जे हउं सो परमप्पु**) तथा जो मैं हूँ सो ही परमात्मा है (**इउ जाणेविणु**) ऐसा जानकर (**अण्णु वियप्प म करहु**) और कुछ भी विकल्प मत कर।

भावार्थ- यहाँ और भी दृढ़ किया है कि व्यवहार की कल्पनाओं को छोड़कर केवल एक शुद्ध निश्चय नय से आत्मा को पहिचान। तब आप ही परमात्मा दिखेगा। अपने शरीर रूपी मन्दिर में परमात्मदेव साक्षात् दिख पड़ेगा। शास्त्रों का ज्ञान संकेत मात्र है। शास्त्र के ज्ञान में ही जो उलझा रहेगा उसको अपने आत्मा का दर्शन नहीं होगा।

यह आत्मा तो शब्दों से समझ में नहीं आता, मन से विचार में नहीं आता। शब्द तो क्रम-क्रम से एक- एक गुण व पर्याय को कहते हैं। मन भी क्रम से एक- एक गुण व पर्याय का विचार करता है। आत्मा तो अनन्तगुण व पर्यायों का एक अखण्ड पिण्ड है। इसका सच्चा बोध तब ही होगा कि जब शास्त्रीय चर्चाओं को छोड़कर, सब गुणस्थान व मार्गणाओं के विचार को बन्द

करके, सर्व कर्मबन्ध व मोक्ष के उपायों के प्रपंच को त्याग करके, सर्व कामनाओं को दूर करके, सर्व पाँचों इन्द्रियों के विषयों से परे हो करके व सर्व मन के द्वारा उठने वाले विचारों को रोक करके, बिल्कुल असंग होकर, अपने ही आत्मा को अपने ही आत्मा के द्वारा ग्रहण किया जायेगा, तब अपने आत्मा का साक्षात्कार होगा। वह आत्मतत्त्व निर्विकल्प है, अभेद है **इसलिए निर्विकल्प होने से ही आत्मा हाथ में आता है। जब तक रंच मात्र भी माया, मिथ्या, निदान की शल्य भीतर रहेगी व कोई प्रकार की कामना रहेगी व कोई मिथ्यात्व की गंध रहेगी, तब तक आत्मा का दर्शन नहीं होगा।** यही कारण है जो ग्यारह अंग नौ पूर्व के धारी द्रव्यलिंगी मुनि शास्त्रों का ज्ञान रखते हुए भी व घोर तपश्चरण करते हुए भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं, क्योंकि वे शुद्धात्मा की श्रद्धा, ज्ञान तथा अनुभव से शून्य हैं। उनके भीतर कोई मिथ्यात्व की शल्य व निदान की शल्य ऐसी सूक्ष्म रह जाती है जिसको केवलज्ञानी ही जानते हैं। शास्त्रों का ज्ञान आत्मा के स्वरूप को समझने के लिये जरुरी है। जानने के पीछे व्यवहार नय के वर्णन को छोड़ करके शुद्ध निश्चयनय के द्वारा अपने आत्मा का मनन करे, मनन करते समय भी मन का आलम्बन है। मनन करते- करते जब मनन बंद होगा व उपयोग स्वयं स्थिर हो जायेगा, तब स्वानुभव होगा तब ही आत्मा का परमात्मा रूप दर्शन होगा व परमानन्द का स्वाद आयेगा। मैं ही परमात्मा हूँ ऐसा विकल्प न करते हुए भी परमात्मापने का अनुभव होगा।

परदेश से कोई फल ऐसा आया है जिसके स्वाद को हम नहीं जानते हैं, हमने उसका स्वाद लिया नहीं है, तब हमारा पहले तो कर्तव्य है कि हम किसी जानकार से जिसने स्वयं लिया है, फल के गुण व दोष पूछ कर ठीक- ठीक समझ लें कि यह फल गुणकारी है, स्वाध्याय वर्द्धक है, मिष्ट है इत्यादि। जानने के पीछे हमको उस फल के सम्बन्ध की चर्चा या विचारावली छोड़कर फल को रचना के निकट ले जाकर व अन्य ओर से उपयोग को रोककर उस उपयोग को फल के स्वाद का यथार्थ बोध होगा। यदि हम उस फल को खाते नहीं तो हम कभी भी उस फल के स्वाद को नहीं पहचान पाते। लाखों आदमियों से फल के गुण सुनने पर भी व पुस्तकों से फल के गुण जानने पर भी हम कभी फल को ठीक- ठीक नहीं जान पाते। जैसे फल का स्वाद अनुभव गम्य है, वैसे ही आप परमात्मा अनुभवगम्य है।

श्री समयसार कलश में कहा है :-

भूतं भान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्ध सुधी,
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं,
नित्यं कर्म कलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२॥

भावार्थ- जो कोई बुद्धिमान विवेकी भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल के कर्मबन्ध को अपने से एकदम दूर करके, सर्व मोह को बलपूर्वक त्याग करके, अपने ही भीतर निश्चय से अपने को देखता है तो उसे साक्षात् यह देखने में आयेगा कि मैं ही सर्व कर्मकलंक की कीच से रहित अविनाशी एवं परमात्मा देव हूँ, जिसकी महिमा उसी को विदित होती है, जो स्वयं अपने आत्मा का अनुभव करता है।

श्री तत्त्वानुशासन में कहा है :-

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहं।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥१६४॥

भावार्थ- मैं सदा ही कर्मों के निमित्त से या ममता से होने वाले सर्व ही भावों से जुदा हूँ, ऐसा जानकर अपने ही आत्मा के द्वारा अपने आत्मा को देखे कि यह परम उदासीन एक ज्ञायक स्वभाव है।

दोहा २३

आत्मा असंख्यातप्रदेशी लोकप्रमाण है

सुद्धपएसह पूरियउ लोयायासपमाणु।
सो अप्पा अणुदिण मुणहु पावहु लहु णिव्वाणु ॥

अन्वयार्थ- **(लोयायासपमाणु सुद्धपएसह पूरियउ)** जो लोकाकाशप्रमाण असंख्यात शुद्ध प्रदेशों से पूर्ण है **(सो अप्पा)** यही यह अपना आत्मा है **(अणुदिण मुणहु)** रात दिन ऐसा ही मनन करो **(णिव्वाणु लहु पावहु)** व निर्माण शीघ्र ही प्राप्त करो।

भावार्थ- पहले बारम्बार कहा है कि आत्मा का दर्शन निर्वाण का मार्ग है। यहाँ बताया है कि आत्मा का आकार लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। कोई भी वस्तु जो अपनी सत्ता रखती है, कुछ न कुछ आकार अवश्य रखती है। आकार बिना वस्तु अवस्तु है। हर एक द्रव्य में

छः सामान्य गुण पाए जाते हैं -.

(1) अस्तित्व - वस्तु का सदा ही बना रहना। हर एक वस्तु सदा से है, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप सत्पने को लिये हुए है। वह पर्याय के उपजने- विनशने की अपेक्षा उत्पाद, व्यय रूप व बने रहने की अपेक्षा ध्रौव्यरूप है।

(2) वस्तुत्व - सामान्य - विशेष स्वभाव को लिये हुए हर एक वस्तु कार्यकारी है, व्यर्थ नहीं है।

(3) द्रव्यत्व - स्वभाव या विभाव पर्यायों में हर एक वस्तु परिणमनशील है तो भी अखण्ड बनी रहती है।

(4) प्रमेयत्व - वस्तु किसी के द्वारा जानने योग्य है। यदि जानी न जावे तो उसकी सत्ता कौन बतावे।

(5) अगुरुलघुत्व - वस्तु कभी अपने भीतर पाए जाने वाले गुणों को कम या अधिक नहीं करती है। मर्यादा से कम या अधिक नहीं होती है।

(6) प्रदेशत्व - हर एक वस्तु कुछ न कुछ आकार रखती है, प्रदेशों को रखती है, क्षेत्र को घेरती है। जितने आकाश को एक अविभागी पुद्गल परिमाणु रोकता है उतने सूक्ष्म आकाश को एक प्रदेश कहते हैं। यह एक माप है। इस माप से लोकव्यापी छः द्रव्यों की माप की जावे तो एक जीव द्रव्य, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश चारों समान असंख्यात प्रदेशधारी है। आकाश अनन्त प्रदेशधारी है। कालाणु एक प्रदेशधारी है।

अनन्त आकाश के मध्य में लोकाकाश है, इसमें छहों द्रव्य सर्वत्र हैं। धर्म, अधर्म द्रव्य एक एक लोकव्यापी है, कालाणु असंख्यात अलग- अलग हैं, सब लोक में पूर्ण हैं। पुद्गल परमाणु व स्कंधरूप में सर्वत्र हैं। जीव सूक्ष्म शरीरधारी एकेन्द्रिय सर्वत्र हैं, बादर कहीं कहीं हैं। कोई स्थान इन छः बिना नहीं है। जीवद्रव्य अखण्ड होने पर भी माप में लोकाकाश प्रमाण असंख्यातप्रदेशी है। जैन सिद्धान्त में अल्प या बहुत्व का ज्ञान कराने के लिए गणना के २१ भेद बताए हैं - संख्यात तीन प्रकार - जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। असंख्यात ३ प्रकार के - परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात, असंख्यातासंख्यात, हर एक जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट से नौ प्रकार। अनन्त के नौ प्रकार- परीतानन्त, युक्तानन्त, अनन्तानन्त, हर एक जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट से नौ प्रकार। मनुष्य की बुद्धि अल्प है अतः कम व अधिक का अनुमान करने के लिए २१ भेद गणना के बताए हैं।

हर एक आत्मा अखण्ड असंख्यातप्रदेशी है तथा वह परम शुद्ध है। सर्व ही प्रदेश शुद्ध हैं,

स्वभाव से स्फटिक के समान निर्मल है। कर्ममल, नोकर्ममल, रागादि भावकर्ममल से रहित है; रत्न के समान परम प्रकाशमान है, ज्ञानमय है, पानी के समान सर्व जानने योग्य को झलकाने वाले है, आकाश के समान निर्लेप है। अपने आत्मा को शुद्ध असंख्यातप्रदेशी ध्यान में लेकर अपने भीतर ही देखना चाहिए। यद्यपि यह आत्मा शरीर के भीतर व्याप्त है, शरीर प्रमाण आकारधारी है तथापि प्रदेशों से असंख्यात प्रदेशी ही है।

इस आत्मा में संकोच- विस्तार शक्ति है। नामकर्म के उदय से शरीर प्रमाण आकार को प्राप्त हो जाता है। जैसे दीपक का प्रकाश छोटे- बड़े बर्तन में रक्खा हुआ बर्तन के समान आकार का हो जाता है। साधक को अपने भीतर ऐसे आत्मा के आकार को शुद्ध देखना चाहिए। अपनी ही मूर्ति के समान आत्मा की मूर्ति को तदाकार देखना चाहिए। जिस आसन रूप अपने आत्मा को शुद्ध देखना चाहिए। सिद्ध का आकार भी अन्तिम शरीरप्रमाण पद्मासन आदि किसी आकार रूप है। अमूर्तिक द्रव्यों के प्रदेश अमूर्तिक व मूर्तिक पुद्गल के मूर्तिक होते हैं। जीव वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श से रहित अमूर्तिक है। उसके सर्व प्रदेश भी अमूर्तिक हैं।

श्री गोम्मटसार जीवकांड में कहा हैं :-

आगासं वज्जिता सव्वे लोगम्मि चेव णत्थि बहिं।
वावी धम्माधम्मा अवट्ठिदा अचलिदा णिच्चा ॥५८३॥
लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगोत्ति।
अप्पपदेसविसप्पणसंहारे वावडो जीवो ॥५८४॥
पोग्गलदव्वाणं पुण एयपदेसादि होंति भजणिज्जा।
एक्केक्को दु पदेसो कालाणूणं धुवो होदि ॥५८५॥
संखेज्जासंखेज्जाणंतो होंति पोग्गलपदेसा।
लोगागासेव ठिदी एगपदेसो अणुस्स हवे ॥५८६॥
लोगागासपदेसा छद्दव्वेहिं फुडा सदा होंति।
सव्वमलोगागासं अण्णे हिं विवज्जियं होदि ॥५८७॥

भावार्थ- आकाश को छोड़कर शेष सभी द्रव्य लोक में ही हैं, बाहर नहीं हैं। धर्म, अधर्म द्रव्य स्थिर, चंचलता रहित, लोकव्यापी एवं नित्य हैं तथा जीव अपने प्रदेशों को संकोच- विस्तार के कारण लोक के असंख्यातवें भाग से लेकर सर्वलोक में व्याप्त होकर रहता है। पुद्गल द्रव्य एक

प्रदेश को लेकर सर्वत्र हैं। स्कंध की अपेक्षा उसके प्रदेश परमाणु की गणना से संख्यात असंख्यात तथा अनंत होते हैं। कालाणु एक- एक प्रदेश रखते हुए ध्रुव तथा असंख्यात हैं। लोकाकाश के प्रदेश छः द्रव्यों से भरे हुए रहते हैं। अलोकाकाश में अन्य पाँच द्रव्य नहीं हैं। इस तरह नित्य बने रहने वाले लोक में अपने आत्मा को शुद्ध आकार में देखना चाहिए ।

श्री तत्त्वानुशासन में कहा है :-

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः ।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ॥१४७॥

भावार्थ - अपने आत्मा को ऐसा ध्यावे कि यह चेतन है, असंख्यात प्रदेशी है, वर्णादि मूर्ति रहित है, शुद्ध स्वरूपी है, सिद्ध के समान है व ज्ञान- दर्शन लक्षणवान है।

दोहा २४

व्यवहार से आत्मा शरीरप्रमाण है

णिच्छइ लोयपमाण मुणि ववहारइ सुसरीरू ।
एहउ अप्पसहाउ मुणि लहु पावहु भवतीरू ॥

अन्वयार्थ- **(णिच्छह लोयपमाण ववहार सुसरीरू मुणि)** निश्चय से आत्मा को लोकप्रमाण व व्यवहार नय से अपने शरीर के प्रमाण जानो **(एहउ अप्पसहाउ मुणि)** ऐसे अपने आत्मा के स्वभाव को मनन करते हुए **(भवतीरू लहु पावहु)** यह जीव संसार के तट को शीघ्र ही पा लेता है अर्थात् शीघ्र ही संसार- सागर से पार हो जाता है।

भावार्थ- यह आत्मदेव हर एक संसारी जीव के भीतर उसके शरीर भर में व्याप्त रहता है, उसके असंख्यात प्रदेश संकोच कर शरीर प्रमाण हो जाते हैं। आत्मा में संकोच- विस्तार शक्ति है जो नाम कर्म से उदय से काम करती है। एक छोटा बालक जन्म के समय अपने छोटे शरीर में उतने ही प्रमाण में अपने आत्मा को रखता है। जैसे- जैसे उसका शरीर फैलता है आत्मा भी फैलता है। लोक में सबसे छोटा शरीर लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद जीव का होता है। जो घनांगुल के असंख्यातवें भाग है व सबसे बड़ा महामत्स्य का है, जो मत्स्य अन्तिम समुद्र स्वयंभूरमण में होता है। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप व समुद्र हैं। एक दूसरे से दूने- दूने चौड़े हैं। पहला मध्य में जम्बूद्वीप है जो एक लाख योजन चौड़ा है।

यह मच्छ एक हजार योजन लम्बा होता है। बीच की अवगाहना के अनेक शरीर होते हैं। एक सूक्ष्म निगोद शरीरधारी जीव संसार में भ्रमण करते हुए कभी महामत्स्य हो सकता है व महामत्स्य भ्रमण करते हुए कभी सूक्ष्म निगोद हो सकता है। तो भी आत्मा के प्रदेश असंख्यात कम नहीं होते है। जैसे एक कपड़े की चादर पचास गज की हो, उसको तह कर डालें तो एक गज के विस्तार में हो सकती है, माप में ५० गज से कम नहीं है। इसी तरह आत्मा के प्रदेश संकोच से कम प्रदेश के देह में आ जाते हैं। अतएव निश्चयनय से तो यह जीव असंख्यात प्रदेश ही रखता है, व्यवहार में शरीर प्रमाण कहते हैं। शरीर में रहते हुए भी सात प्रकार के समुद्घात के समय जीव शरीर के प्रदेशों को फैला कर शरीर के बाहर होता है, फिर शरीर प्रमाण हो जाता है।

श्री गोम्मटसार जीवकांड में कहा है :-

मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिण्डस्स ।
णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ।।६६८।।
वेयणकषायवेगुव्वियो य मरणंतियो समुग्घादो ।
तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ।।६६७।।
आहारमारणंतियदुगंपि णियमेण एगदिसिगं तु ।
दसदिसि गदा हु सेसा पंच समुग्घादया होंति ।।६६९।।

भावार्थ- मूल शरीर को छोड़ कर उत्तर देह अर्थात् कार्मण, तैजस देह सहित आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं। उसके सात भेद हैं :-

(1) **वेदना** - तीव्र रागादि के कष्ट से शरीर को न छोड़कर प्रदेशों का बाहर होना।

(2) **कषाय** - तीव्र कषाय के उदय से पर के घात के लिये प्रदेशों का बाहर जाना।

(3) **विक्रिया** - अपने शरीर को छोटा या बड़ा करते हुए या एक शरीर के भिन्न अनेक शरीर करते हुए आत्मा के प्रदेशों का फैलाना, जैसा देव, नारकी, भोगभूमिवासी तथा चक्रवर्ती को या चक्रवर्ती को या ऋद्धि धारी साधु को होता है।

(4) **मारणांतिक** - मरण के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में जहाँ पर मर के जन्म लेना हो उस क्षेत्र को स्पर्श करने के लिये आत्मा के प्रदेशों को बाहर जाना फिर लौट कर आना तब मरना।

(5) **तैजस** - इसके दो भेद हैं - अशुभ तैजस, और शुभ तैजस। किसी अनिष्ट कारण को देखकर क्रोध से संतप्त संयमी महामुनि के मूल शरीर को न छोड़कर सिंदूर के वर्ण वाला बारह

योजन लम्बा, नव योजन चौड़ा, सूच्यंगूल के संख्यातवें भाग मोटा, अशुभ आकृति सहित बायें कंधे से पुरुषाकार पुतला निकल के विरुद्ध वस्तु को भस्मं कर फिर उस मुनि को भी भस्म कर दे व उसे दुर्गति पहुँचायें सो अशुभ तैजस है। जगत को रोग व दुभिक्ष आदि से पीड़ित देखकर जिस संयमी मुनि को करुणा उत्पन्न हो जावे, उसके दाहिने कंधे से पूर्वोक्त प्रमाणधारी शुभ आकार वाला पुरुषाकार पुतला निकल कर रोगादि मेटकर फिर शरीर में प्रवेश कर जावे सो शुभ तैजस है।

(6) आहार - ऋद्धिधारी मुनि को कोई तत्त्व में संशय होने पर व दूर न हो सकने पर उसके मस्तक से शुद्ध स्फटिक के रंग का एक हाथ प्रमाण पुरुषाकार पुतला निकल कर जहाँ कहीं केवली हों उनके दर्शन करने से संशय को मिटाकर अन्तर्मुहूर्त के भीतर लौट आता है।

(7) केवली - आयु कर्म की स्थिति कम व शेष कर्मों की स्थिति अधिक होने पर केवलज्ञानी के आत्मप्रदेशी लोकव्यापी होकर फिर शरीर प्रमाण हो जाते हैं, आहार व मारणांतिक समुद्घातों में एक दिशा ही की तरफ प्रदेशों का फैलाव होकर गमन होता है, जबकि शेष पाँचों में दशों दिशाओं में गमन होता है।

इन ऊपर सात कारणों के सिवाय जीव शरीर प्रमाण रहता है व सिद्ध भगवान का आत्मा भी अन्तिम शरीर प्रमाण रहता है। नाम कर्म का नाश हो जाने पर उसके उदय के बिना प्रदेशों का संकोच या विस्तार नहीं होता है।

श्री इष्टोपदेश में पूज्यपाद महाराज कहते हैं :-

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरन्तयः ।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥२१॥

भावार्थ- यह आत्मा लोकालोक को देखने वाला अत्यन्त सुखी नित्य द्रव्य है, स्वानुभव से ही इसका दर्शन होता है। व अपने शरीर के प्रमाण है। अतएव परमानन्द अपने शुद्ध आत्मदेव को शरीर के प्रमाण आकारधारी मनन करे व ध्यावे तो शीघ्र ही निर्वाण पावे।

दोहा २५

सम्यक्त्व बिना ८४ लाख योनि में भ्रमण

चउरासीलक्खह फिरिउ काल अणाइ अणंतु ।
पव सम्मत ण लद्धु जिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥

अन्वयार्थ- **(अणाइ काल)** अनादिकाल से **(चउरासी लक्खह फिरिउ)** यह जीव ८४ लाख योनियों में फिरता आ रहा है। **(अणंतु)** व अनंतकाल तक भी सम्यक्त्व बिना फिर सकता है। **(पव सम्मत ण लद्धु)** परन्तु अब तक इसने सम्यग्दर्शन को नहीं पाया **(जिउ)** हे जीव! **(णिभंतु एहउ जाणि)** निः संदेह इस बात को जान।

भावार्थ- सत्पदार्थों का समूह होने से यह लोक तथा संसार अनादि- अनंत है। संसारी जीव अनादि से ही कर्मबन्ध से ग्रसित हैं व नए कर्म बाँधते हैं, पुराने कर्मों को छोड़ते हैं। मोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यादृष्टि अज्ञानी, असंयमी हो रहे हैं। उनको शरीर का व इन्द्रियों के सुखों का व इन्द्रिय सुख के सहकारी पदार्थों का तीव्र मोह रहता है। इसी से वे संसार में नाना शरीरों को धार करके भ्रमण किया करते हैं। सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वभाव झलका देता है। इन्द्रिय सुखं से श्रद्धा हटा देता है। संसार शरीर भोगों से वैराग्य भाव पैदा कर देता है, स्वाधीनता या मोक्ष का उत्साही बना देता है। अतीन्द्रिय आनंद का भोक्ता कर देता है। सम्यक्त्व के प्रकाश से संसार के भ्रमण में अरूचि हो जाती है। एक दफे सम्यक्त हो जाने पर यह जीव संसार दशा में अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन काल से अधिक नहीं रहता है। यद्यपि वहाँ भी अनंतकाल है तथापि सीमित है। सम्यक्त्वी शीघ्र ही निर्वाण का भागी हो जाता है।

सम्यक्त्व के बिना यह जीव नरक के भवों में दश हजार वर्ष की आयु से लेकर तेतीस सागर तक, तिर्यञ्चगति के भवों में एक अंतर्मुहूर्त से लेकर तीन पल्य की आयु तक, मनुष्यगति के भावों में एक अंतर्मुहूर्त से लेकर तीन पल्य की आयु तक, देवगति के भवों में दश हजार वर्ष की आयु से लेकर नौ में ग्रैवेयक के इकतीस सागर की आयु तक के सर्व जन्म बारम्बार धारण कर चुका है। नौ ग्रैवेयक से ऊपर नौ अनुदिश व पांच अनुत्तरों में व मोक्ष में सम्यग्दृष्टि ही जाता है। संसार भ्रमण की योनियां चौरासी लाख हैं। जहां संसारी जीव उत्पन्न होते हैं उसको योनि कहते हैं, वे मूल में नौ हैं।

श्री गोमट्टसार जीवकांड में कहा है :-

सामण्णेण य एवं णव जोणीओ हवंति वित्थारे।
लक्खाण चदुरसीदी जोणीओ होंति णियमेण ॥८८॥
णिच्चिदरधादुसत्त य तरूदस वियलिंदियेसु छच्चे व।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा ॥८९॥

भावार्थ- योनियों के मूल भेद सामान्य से नौ होते हैं - सचित्त, अचित्त, मिश्र तीन, शीत, उष्ण, मिश्र तीन, संवृत (ढकी), विवृत (खुली) व मिश्र तीन। हर एक योनि में तीनों में से एक एक गुण रहेगा। जैसे सचित्त, शीत व संवृत हो या अचित्त, शीत, संवृत्त हो इत्यादि। इसी के ८४ लाख भेद गुणों की तरतम्मता की अपेक्षा से हैं। वे इस प्रकार है :-

(1) नित्य निगोद साधारण वनस्पति जीवों की	७	लाख	योनियाँ
(2) चतुर्गति या इतरनिगोद साधा वनस्पति	७	लाख	योनियाँ
(3) पृथ्वीकायिक जीवों की	७	लाख	योनियाँ
(4) जलकायिक जीवों की	७	लाख	योनियाँ
(5) अग्निकायिक जीवों की	७	लाख	योनियाँ
(6) वायुकायिक जीवों की	७	लाख	योनियाँ
(7) प्रत्येक वनस्पति जीवों की	१०	लाख	योनियाँ
(8) द्वेन्द्रिय जीवों की	२	लाख	योनियाँ
(9) तेन्द्रिय जीवों की	२	लाख	योनियाँ
(10) चौन्द्रिय जीवों की	२	लाख	योनियाँ
(11) देवों की	४	लाख	योनियाँ
(12) नारकियों की	४	लाख	योनियाँ
(13) पंचेन्द्रिय तिर्यचों की	४	लाख	योनियाँ
(14) मनुष्यों की	१४	लाख	योनियाँ

कुल ८४ लाख योनियाँ

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यक्त्व की महिमा बताई है :-

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनुभृताम् ।।३४।।
सम्यग्दर्शनशुद्धानारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रता च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ।।३५।।

भावार्थ- तीन लोक में व तीन काल में सम्यग्दर्शन के समान जीव का कोई भी हितकारी नहीं है तथा मिथ्यादर्शन के समान जीव का कोई भी बुरा करनेवाला नही हैं। सम्यग्दर्शन को शुद्ध पालने

वाले जीव पांच अहिंसादि व्रतों से रहित होने पर भी मरकर के नारकी, पशु व नपुंसक व स्त्री, नीच कुल वाले, अंग रहित, अल्प आयुधारी व दरिद्री नहीं होते हैं। यदि सम्यक्त्व के पहले नरक, तिर्यंच या अल्प आयु बाँधी हो तो पहले नर्क में, व भोगभूमि में जायेंगे।

साधारण नियम है कि देव व नारकी सम्यक्त्वी मरके मनुष्य होंगे व मनुष्य व पशु सम्यक्त्वी मर के स्वर्गवासी देव होंगे, मनुष्यणी व देवी नहीं होंगे। आत्मदर्शन सम्यक्त्वी को हो जाता है, यही निर्वाण पहुँचा देता है।

दोहा २६

शुद्ध आत्मा का मनन ही मोक्षमार्ग है

सुद्धु सच्चेयणु बुद्धु जिणु केवलणाणसहाउ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहउ सिवलाहु ॥

अन्वयार्थ- **(जइ सिवलाहु चाहउ)** यदि मोक्ष का लाभ चाहते हो तो **(अणुदिणु सो अप्पा मुणहु)** रात दिन उस आत्मा का मनन करो जो **(सुद्धु)** शुद्ध वीतराग निरंजन कर्म रहित हैं **(सच्चेयणु)** चेतना गुणधारी है या ज्ञान चेतनामय है **(बुद्धु)** जो स्वयं बुद्ध है **(जिणु)** जो संसार विजयी जिनेन्द्र है **(केवलणाणसहाउ)** व जो केवलज्ञान या पूर्ण निरावरण ज्ञानस्वभाव का धारी है।

भावार्थ- यहाँ निर्वाण को शिव कहा है, क्योंकि निर्वाण पद परम कल्याणरूप व परमानन्दमय है। एक दफे आत्मा शुद्ध हो जाता है, फिर अशुद्ध नहीं होता है। जैसे चना भूना हुआ फिर उगता नहीं हैं। ऐसे शिव पर के लाभ का उपाय रात- दिन अपने आत्मा के स्वभाव का मनन है। आत्मा स्वयं मोक्षरूप है। आत्मा स्वयं परमात्मा है। अपनें शरीररूपी मन्दिर में अपने आत्मादेव को देखना ही चाहिये कि यह शरीरप्रमाण है तथा यह शुद्ध है। इसमें कार्मण, तैजस, औदारिक, वैक्रियक, आहारक, पाँचों पुद्गल रचित शरीरों का सम्बन्ध नहीं है। न इसमें कोई संकल्प-विकल्प रूप मन है, न पुद्गल रचित वचन है। इसमें कोई कर्म के उदयजनित भाव राग, द्वेष, मोह आदि नहीं है। यह परम वीतराग है। इसमे कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान अधिकरण ये छः कारक के विकल्प नहीं हैं, न इसमें गुण गुणी के भेद हैं। यह एक अखण्ड अभेद सामान्य पदार्थ है। यह ज्ञानस्वभाव है, सहज सामायिक ज्ञान का भण्डार है। इसमें कोई अज्ञान नहीं है।

इसका स्वभाव निर्मल दर्पण के समान स्व- परप्रकाशक है। सर्व जानने योग्य को झलकाने वाला, एक समय में खण्डरहित सर्व को विषय करनेवाला यह अद्भुत ज्ञान है। बिना प्रयास ही ज्ञान में ज्ञेय झलकते हैं।

यह आत्मा निरन्तर ज्ञानचेतनामय है। अपने शुद्ध ज्ञान स्वभाव का ही स्वाद लेनेवाला है, निरन्तर स्वानुभवरूप है। यह पुण्य पापकर्म करने के प्रपंच से व सांसारिक सुख- दुःख भोगने के विकल्प से दूर है। कर्म चेतना और कर्मफल चेतना दोनों चेतनाएं अज्ञान चेतना हैं। आत्मा ज्ञानचेतनामय है। यही सत्य बुद्धदेव है। आपसे ही आपको जाननेवाला स्वयं बुद्ध है और कोई बौद्धों का देवता बुद्ध नहीं है। सच्चा बुद्धदेव यह आत्मा ही है, यही सच्चा जिन है। सर्व आत्मा के रागादि व कर्मादि शत्रुओं को जीतने वाला है और कोई समवशरणादि लक्ष्मी सहित जिन है सो व्यवहार जिन है। वहाँ भी निश्चय जिन जिनराज का आत्मा ही है।

इस तरह निज आत्मा को परम शुद्ध एकाकी मनन करना चाहिये, तब कोई लौकिक कामना नहीं रखना चाहिये कि कोई चमत्कार सिद्ध हो व कोई ऋद्धि- सिद्धि हो व लोक में मान्यता हो व प्रसिद्धि हो। केवल एक अपने आत्मा के विकास की भावना रखकर आत्मा को ध्याना चाहिए। ध्यान की शक्ति बढ़ने से स्वयं कर्मों की निर्जरा होती जायेगी, नवीन कर्मों का संवर होता जायेगा और यह आत्मा स्वयं शुद्ध होता हुआ शिवरूप हो जायेगा।

श्री समयसार कलश में कहा है :-

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयं ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ।।३६।।
सकलमपि विहायह्राय चिच्छक्तिरिक्तं,
स्फुटतरमवगाह्य स्वयं च चिच्छक्तिमात्रं ।
इममुपरि चरन्तं चारू विश्वस्य साक्षात् ,
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तं ।।३५।।

भावार्थ- यह जीव चैतन्य शक्ति से सर्वांगपूर्ण है। इसके सिवाय सर्व ही रागादि भाव पुद्गल की रचना है। वर्तमान में चैतन्य शक्ति के सिवाय सर्व ही पापों को छोड़कर व चैतन्य शक्तिमात्र भाव के भीतर भले प्रकार प्रवेश करके सर्व जगत के ऊपर भले प्रकार साक्षात् प्रकाशमान अपने ही आत्मा को जो अनन्त है, अनन्तगुणों का भंडार है, अपने ही भीतर आत्मारूप होकर आत्मा का

अनुभव करना योग्य है। आपसे ही आपको ध्याना चाहिये।

श्री मोक्षपाहुड़ में कहा है :-

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुददो अप्पा।
सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरूपसाएण ।।६४।।

भावार्थ- यह आत्मा दर्शनज्ञान सहित है, वीतराग चारित्रवान है, इसको गुरु के प्रसाद से जानकर सदा ध्याना चाहिए।

दोहा २७

निर्मल आत्मा की भावना करके ही मोक्ष होगा

जाम ण भावहु जीव तुहुँ णिम्मलअप्पसहाउ।
ताम ण लब्भइ सिवगमणु जहिं भावहु तहिं जाउ ।।

अन्वयार्थ- (जीव) हे जीव! **(जाम तुहुँ णिम्मल अप्प सहाउ ण भावहु)** जब तक तू निर्मल आत्मा के स्वभाव की भावना नहीं करता **(ताम सिवगमणु ण लब्भइ)** तब तक तू मोक्ष नहीं पा सकता **(जहिं भावहु तहिं जाउ)** जहाँ चाहे वहाँ तू जा।

भावार्थ- यहाँ फिर भी दृढ़ किया है कि शुद्ध आत्मा के स्वभाव की भावना ही एक संसार सागर से पार करनेवाली नौका है। वह निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है, शुद्धात्मानुभव स्वरूप है। यही भाव संवर व निर्जरातत्त्व है। इस भाव की प्राप्ति के लिये जो- जो साधन किये जाते हैं, उसको व्यवहार धर्म या निमित्त कारण कहते हैं। कोई अज्ञानी व्यवहार धर्म ही में उलझ जावे, निश्चय धर्म का लक्ष्य छोड़ दे तो वह एक पग भी मोक्ष पथ पर नहीं चल सकता।

निश्चय धर्म तो अपने ही भीतर है बाहर नहीं, परन्तु उसका जागृत करने के लिये गृहस्थों को यह उपदेश है कि श्री जिनमन्दिर में जाकर देव का दर्शन व पूजन करो, गुरु महाराज की सेवा में जाकर वैयावृत्य करो। शास्त्रभवन में जाकर स्वाध्याय करो, सम्मेदशिखर, गिरनार, पावापुर, बाहुबली, माँगीतुंगी, मुक्तागिरी, आदि तीर्थस्थानों की यात्रा करो, सामायिक करने के लिये एकान्त स्थान उपवन, नदी, तट, पर्वत आदि में बैठो। प्रोषधशाला में बैठकर उपवास करो। ये सब कार्य निमित्तमात्र हैं। कोई अज्ञानी केवल निमित्त मिलाने को ही मोक्षमार्ग समझ ले तो यह उसकी भूल है। मन्दिरादि व तीर्थादि व प्रतिमादि के आलम्बन से अपने भीतर आत्मा का दर्शन

व पूजन या आत्मारूपी तीर्थ की यात्रा की जावे तब ही निमित्तों का मिलाना सफल है।

इसी तरह साधुओं को उपदेश है कि एकान्त वन, पर्वत, गुफा, नदी, तट, ऊजड़ मकान, पर्वत का शिखर व अत्यन्त ही शून्य स्थल में बैठकर आसन लगाकर ध्यान का अभ्यास करो, काम को पुष्ट न करो, इन्द्रियदमन करो, चातुर्मास के सिवाय नगर के बाहर पांच दिन व ग्राम के बाहर एक दिन से अधिक न ठहरो, गृहस्थ के घर भिक्षा लेकर तुरन्त वन में लौट जाओ, नग्न रहकर शीत, उष्ण, डास, मच्छर, नग्नता, स्त्री आदि के बाईस परीषह सहन करो, मौन रहो, मन, वचन, काय गुप्ति को पालो, मार्ग को निरखकर चलो। मुनियों की संगति में रहो, शास्त्र- पाठ करो, तत्त्वों का मनन करो, तीर्थयात्रा करो।

ये सब निमित्त हैं। इनको मिलाकर साधु को शुद्धात्मा का अनुभव करना चाहिए। कोई अज्ञानी साधु इन बाहरी क्रियाओं को ही मोक्षमार्ग मानकर सन्तोषी हो जावे और अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव का दर्शन मनन व अनुभव न करे तो वह मोक्षमार्गी नहीं है, वह सांसारिक पुण्य बांधकर भव में भ्रमण करनेवाला है।

वास्तव में अपने आत्मा की निर्मल भूमि में चलना ही चारित्र हैं, यही मोक्षमार्ग है ऐस दृढ़ निश्चय रखकर साधक को इसी तत्त्व के लाभ का उपाय करना योग्य है।

श्री समाधि शतक में कहा है :-

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्त विविक्तात्मैव निश्चलः ॥७३॥

भावार्थ- जो आत्मा को न देखनेवाले बहिरात्मा हैं उनको यह दो प्रकार का विकल्प होता है कि ग्राम में न रहो, वन में ही रहो, वन में रहने से ही हित होगा। वे वन निवास से ही सन्तोषी हो जाते हैं। परन्तु आत्मा के देखने वालों का निवास परभावों से भिन्न निश्चल एक अपना शुद्धात्मा ही है, वे निमित्त कारण मात्र से संतुष्ट नहीं होते हैं। आत्मा में निवास को ही अपना सच्चा आसन जानते हैं।

श्री मोक्षपाहुड़ में कहा है :-

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रूद्दाओ।
कम्मिधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥२६॥

भावार्थ- जो कोई इस भयानक संसार सागर से पार होना चाहे व कर्म- ईंधन को जलाना चाहे

ते उसे अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहिए। आत्मा का ध्यान ही मोक्षमार्ग है। जो आत्मरसिक है वही मोक्ष- मार्गी है।

दोहा २८

त्रिलोक पूज्य जिन आत्मा ही है

जो तइलोयहं झेउ जिणु सो अप्पा णिरू वुत्तु ।
णिच्छयणइ एमइ भणिउ एहउ जाणि णिभंतु ।।

अन्वयार्थ- **(जो तइलोयहं झेउ जिणु)** जो तीन लोक के प्राणियों के द्वारा ध्यान करने योग्य जिन है **(सो अप्पा णिरू वुत्तु)** वह यह आत्मा ही निश्चय से कहा गया है **(णिच्छयणइ एमइ भणिउ)** निश्चयनय से ऐसा ही कहा है **(एहउ णिभंतु जाणि)** इस बात को संदेह रहित जान।

भावार्थ- यहाँ यह बताया है कि यह आत्मा ही वास्तव में श्री जिनेन्द्र परमात्मा है जिसको तीन लोक के भक्तजन ध्याते हैं, पूजते हैं, मानते हैं। सौ- इन्द्र प्रसिद्ध हैं। जैसा इस गाथा में कहा है। ये सब अरहंत परमात्मा को नमन करते हैं :-

भवणालय चालीसा विंतर देवाण होंति बत्तीसा।
कप्पामर चौवीसा चन्दो सूरो णरो तिरिओ ।।

भावार्थ- भवनवासी देव, असुर कुमार, नागकुमार, विद्युतकुमार, सुवर्णकुमार, अग्निकुमार, बातकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार ऐसे दश जाति के होते हैं। हर एक में दो दो इन्द्र, दो- दो प्रतीन्द्र होते हैं। इस तरह चालीस इन्द्र हुए। व्यंतर देव आठ प्रकार के होते हैं - किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व,यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच। इनमें भी दो- दो इन्द्र दो- दो प्रतीन्द्र इस तरह बत्तीस इन्द्र हुए। सोलह स्वर्ग में प्रथम चार में चार, मध्य आठ में चार, अन्त चार में चार ऐसे बारह इन्द्र, बारह इन्द्र, बारह प्रतीन्द्र इस तरह २४ कल्पवासी इन्द्र हुए। ज्योतिषी देवों में चन्द्रमा इन्द्र, सूर्य प्रतीन्द्र, मनुष्यों में इन्द्र चक्रवर्ती, पशुओं में इन्द्र अष्टापद। इस प्रकार सब १०० इन्द्र नमस्कार करते हैं।

नमस्कार दो प्रकार का होता है - व्यवहार नमस्कार, निश्चय नमस्कार। जहाँ शरीरादि बाहरी पदार्थों की प्रशंसा के द्वारा स्तुति हो, वह व्यवहार नमस्कार है। जहाँ आत्मा के गुणों की स्तुति हो वह निश्चय नमस्कार है। जैसे अरहन्त के शरीर की शोभा कहना कि वे परम दैदीप्यमान

हैं, १००८ लक्षणों के धारी हैं, निरक्षरी वाणी प्रगट करते हैं, समवशरण सहित हैं, बारह सभा में बैठे प्राणियों को उपदेश देते हैं। यह सब व्यवहार स्तुति है।

भगवान अरहन्त अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य के धारी हैं, परम वीतराग हैं, परमानन्दमय है, असंख्यात प्रदेशी हैं, अमूर्तिक हैं, इत्यादि। आत्माश्रित स्तुति सो निश्चय स्तुति या नमस्कार है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु पाँच परमेष्ठी की आत्मा की स्तुति सो हर एक आत्मा की स्तुति है, क्योंकि निश्चय से हर एक आत्मा आत्मीक गुणों का भण्डार है। जगत की सब आत्माएं निश्चयनय से सिद्ध समान शुद्ध है अतएव तीन लोक के प्राणी जिसको ध्याते हैं, पूजते हैं, वंदते हैं वही परमात्मा या आत्मा है, वही मैं हूँ। मैं ही त्रिलोकपूज्य परमात्मा जिनेन्द्र हूँ ऐसा भ्रान्ति रहित निश्चय से जानना चाहिए। अब और किसी दूसरे परमात्मा की ओर दृष्टि न रखकर दो भिन्न- भिन्न व्यक्तियों में ध्याता व ध्येय की कल्पना न करके आप ही को ध्याता व ध्येय मान के अद्वैत एक ही भाव में तल्लीन हो यही मोक्षमार्ग है।

श्री समयसार में कहा है :-

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥३२॥
इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥३३॥
तं णिच्छयेण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥३४॥
जो मोहं तु जिणित्ता, णाण सहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिद मोहं साहु परमट्ठवियाणया वेंति ॥३७॥

भावार्थ- व्यवहार नय से ऐसा कहते हैं कि शरीर और आत्मा एक है परन्तु निश्चयनय से आत्मा व शरीर एक पदार्थ नहीं है। मुनिगण केवली भगवान के पुद्गलमय शरीर की स्तुति व्यवहारनय से करके मानते यही हैं कि हमने केवली भगवान की ही स्तुति या वंदना की, परन्तु निश्चयनय से यह स्तुति ठीक नहीं है क्योंकि शरीर के गुण केवली भगवान की आत्मा के गुण नहीं हैं, निश्चय से जो केवली भगवान की आत्मा की स्तुति है वही केवली की यथार्थ स्तुति हैं। जो मोह जीतकर

ज्ञानस्वभाव से पूर्ण आत्मा का अनुभव करता है वह जितमोह है ऐसा परमार्थ के ज्ञाता कहते हैं। निश्चय स्तुति आत्मा पर लक्ष्य दिलाती है इसलिए यथार्थ है।

दोहा २९

मिथ्यादृष्टि के व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं

वयतवसंजममूलगुण मूढह मोक्ख णिवुत्तु ।
जाम ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु ।।

अन्वयार्थ- (जाम इक्क परू सुद्धउ पवित्तु भाउ ण जाणइ) जब तक एक परम शुद्ध व पवित्र भाव का अनुभव नहीं होता **(मूढह वयतवसंजम मूलगुण मोक्ख णिवुत्तु)** तब तक मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव के द्वारा किये गये व्रत, तप, संयम व मूलगुण पालन को मोक्ष का उपाय नहीं कहा जा सकता।

भावार्थ- निश्चय से शुद्ध आत्मा का भाव ही मोक्ष का मार्ग है। शुद्धोपयोग की भावना को न भाकर या शुद्ध तत्त्व का अनुभव न करते हुए जो कुछ व्यवहार चारित्र है वह मोक्षमार्ग नहीं है संसार मार्ग है, पुण्यबंध का कारक है। मिथ्यादृष्टि आत्मज्ञान शून्य बहिरात्मा बाहर में मुनिभेष धरकर यदि पाँच महाव्रत पाले, बारह तप तपे, इन्द्रिय व प्राणी संयम को साधे, नीचे लिखे प्रमाण अट्ठाईस मूलगुण पाले तो भी वह संवर व निर्जरा तत्त्व को न पाकर कर्मों से मुक्ति नहीं पा सकता ऐसा द्रव्यलिंगी साधु पुण्य बांधकर नौवे ग्रैवेयक तक जानकर अहमिन्द्र हो सकता है परन्तु संसार से पार करनेवाले सम्यग्दर्शन के बिना अनन्त संसार में ही भ्रमण करता है। व्यवहार चारित्र को निमित्त मात्र व बाहरी आलम्बन मात्र मानकर व निश्चय चारित्र को उपादान कारण मान के जो स्वानुभव का अभ्यास करे तो निर्वाण का मार्ग तय कर सके।

प्रवचनसार में श्री कुन्दकुन्दाचार्य अट्ठाईस मूलगुण कहते हैं :-

वदसमिदिंदयरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयण मेगभत्तं च ।।२०८।।
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदो वट्ठावगो होदि ।।२०९।।

भावार्थ- पाँच महाव्रत - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग। **पाँच समिति** -

ईर्या (देखकर चलना), भाषा, एषणा (शुद्ध आहार) आदाननिक्षेपण, व्युत्सर्ग (मल मूत्र देखकर करना)। **पाँच इन्द्रिय जय** - पंचेन्द्रिय विषयों का जय निरोध। **छह आवश्यक नित्यकर्म** - सामायिक, प्रतिक्रमण (पिछले दोष का निराकरण) प्रत्याख्यान (त्याग की भावना) स्तुति, वन्दना, कायोत्सर्ग। **सात अन्यगुण** - 1. केशलोंच, 2. नग्नपना, 3. स्नान न करना, 4. भूमि पर शयन, 5. दन्तवन न करना, 6. खड़े होकर हाथ में भोजन लेना, 7. २४ घण्टे में एक बार दिन में भिक्षा लेना। ये २८ मूलगुण साधुओं के हैं ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। उनमें प्रमाद हो जाने पर छेदोपस्थापन या प्रायश्चित लेकर शुद्ध होना चाहिए।

श्री समयसार में कहा है :-

वदसमिदिगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
कुव्वंतोवि अभविओ अण्णाणी मिच्छदिट्ठीय ॥२९१॥
मोक्खं असद्दहन्तो अभवयसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहन्तस्स णाणं तु ॥२९२॥

भावार्थ- जिनेन्द्रों ने कहा है कि अभव्य जीव व्रत, समिति, गुप्ति, शील तप को पालते हुए भी आत्मज्ञान के बिना अज्ञानी व मिथ्यादृष्टि ही रहता है। मोक्ष के स्वरूप की श्रद्धा न रखता हुआ अभव्य जीव कितना भी शास्त्र पढ़े, उसका पाठ गुणकारी नहीं होता है, क्योंकि उसको आत्मा के सम्यग्ज्ञान की तरफ विश्वास नहीं आता है।

श्री भावपाहुड़ में कहा है कि भाव में आत्मज्ञानी ही सच्चा साधु है :-

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥५६॥

भावार्थ- जो शरीरादि की ममता रहित हो व मान कषाय से बिलकुल अलग हो व आत्मा को आत्मा में लीन रखे वही भावलिंगी साधु होता है।

दोहा ३०

व्रती को निर्मल आत्मा का अनुभव करना योग्य है

जो णिम्मल अप्पा मुणइ वयसंजमुसजुत्तु ।
तो लहु पावइ सिद्ध सुहु इउ जिणणाहह वुत्तु ॥

अन्वयार्थ- (जो वयंसजमुसंजुवु णिम्मल मुणइ) जो व्रत, संयम सहित निर्मल आत्मा का अनुभव करे **(तो सिद्ध सुहु लहु पावइ)** तो सिद्ध या मुक्ति का सुख शीघ्र ही पावे **(इउ जिणणाहह वुत्तु)** ऐसा जिनेन्द्र का कथन है।

भावार्थ- हर एक कार्य की सिद्धि उपादान व निमित्त कारण से होती है। उपादान कारण तो अवस्था को पलट कर अवस्थांतर हो जाता है। मूल द्रव्य बना रहता है। निमित्त कारण दूर ही रह जाते है। मिट्टी का घड़ा बना है। घड़े रूपी कार्य का उपादान मिट्टी है। मिट्टी का पिंड ही घड़े की दशा में पलटा है। निमित्त कारण चाक व कुम्हारादि घड़े बनने तक सहायक है। घड़ा बन जाने पर वे सब दूर रह जाते हैं।

इसी तरह निर्वाण रूपी कार्य के लिये उपादान कारण अपने ही शुद्ध आत्मा का ध्यान है। निमित्त कारणव्यवहार व्रत, संयम, तप आदि है। व्रत संयम, तप आदि के निमित्त से व आलम्बन से जब आत्मा का ध्यान होगा व भावों में शुद्धता बढ़ेगी तब ही संवर व निर्जरा तत्त्व होगा। इसलिए यहाँ कहा कि व्रत संयम सहित होकर निर्मल आत्मा का ध्यान सिद्ध सुख का साधन है। व्यवहार चारित्र की इसलिए आवश्यकता है कि मन, वचन, काय को वश में रखने की जरूरत है। जब तक ये तीनों चचंल रहेंगे, तब तक आत्मा का ध्यान नहीं हो सकता।

आत्मा के ध्यान के लिये एकान्त स्थान में ठहर कर शरीर को निश्चल रखना होगा, वचनों का त्याग करना होगा, जगत के प्राणियों से वार्तालाप छोड़ना होगा, पाठ पढ़ना छोड़ना होगा, जप करना छोड़ना होगा, बिलकुल मौन में रहना होगा, मन का चिन्तवन छोड़ना होगा, यहाँ तक कि आत्मा के गुणों का विचार भी छोड़ना होगा। जब उपयोग मन, वचन, काय से हट करके केवल अपने ही शुद्धात्मा के भीतर श्रुतज्ञान के बल से या शुद्ध निश्चयनय के प्रताप से जमेगा तब ही मोक्ष का साधन बनेगा, तब ही स्वानुभव होगा, तब ही वीतरागता होगी, तब ही आत्मा कर्ममल से रहित होगा। ध्यान के समय मन के भीतर बहुत से विचार आ जाते हैं।

उनमें जो गृहस्थी सम्बन्धी बातों के विचार हैं वे महान् बाधक हैं। हिंसा असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह की चिन्ता, ध्यान में हानिकारक है। इसलिए साधुजन पाँचों पापों को पूर्णपने त्याग देते हैं, गृहस्थ का व्यापारादि कुछ नहीं करते हैं। साधु केवल धार्मिक व्यवहार करते हैं। जैसे - शास्त्र पठन, उपदेश, विहार, शिष्यों को शिक्षा, सन्बोष पूर्वक आहार। ध्यान के समय ये

शुभ कामों के विचार आ सकते हैं। ये विचार ध्यान के जमाने के लिये कभी- कभी निमित्त (साधक) हो जाते हैं, परन्तु इन विचारों के भी बन्द हुए बिना ध्यान नहीं होगा।

यदि कोई व्यवहार चारित्र को नहीं पाले, लौकिक व्यवहार में लगा रहे ते आत्मा के भीतर उपयोग स्थिर नही हो सकेगा। इसी कारण परिग्रह त्यागी निर्ग्रन्थ मुनि ही उत्तर धर्मध्यान तथा शुक्ल ध्यान कर सकते हैं। गृहस्थ को भी मन, वचन, काय की क्रिया को स्थिर करने के लिए बारह व्रतों का संयम जरूरी होता है। जितना परिग्रह कम होता है उतनी मन में चिन्ता कम होगी। केवल व्यवहार चारित्र से, मुनि व श्रावक के भेष से, मोक्ष का कुछ भी साधन नहीं होगा। मोक्ष तो आत्मा का पूर्ण स्वभाव है। तब उसका साधन उसी स्वभाव की भावना है, आत्मदर्शन है, निश्चय रत्नत्रय है, स्वानुभव है। स्वानुभव के लाभ के लिये निमित्त व्यवहार चारित्र है।

श्री समयसार में कहा है :-

णवि एस मोक्खमग्गो पाखंडी गिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ।।४३२।।
तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारि एहि वा गहिदे।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ।।४३३।।

भावार्थ- साधु के व गृहस्थ के भेष व व्यवहार चारित्र मोक्षमार्ग नहीं हैं, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र मोक्षामार्ग है, ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। इसलिए गृहस्थ के व साधु के भेष में या व्यवहार चारित्र में ममता त्याग कर अपने को निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षमार्ग में जोड़ दे।

श्री समयसार कलश में कहा है :-

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलम् ।।२४२।।

भावार्थ- जो मानव व्यवहार चारित्र में ही मूढ हैं उन ही से मोक्ष मानते हैं और परमार्थ या निश्चय रत्नत्रय या स्वानुभव को मोक्षमार्ग नहीं समझते हैं, वे पुरुष वैसे ही मूढ हैं जैसे जो तुष को तंदुल समझकर तुष को चावलों के लिये कूटें। वे कभी चावल का लाभ नहीं कर सकेंगे। व्यवहार चारित्र तुष है निश्चय चारित्र तंदुल है। तंदुल बिना तुष वृथा है, निश्चय चारित्र बिना व्यवहार चारित्र वृथा है।

दोहा ३१

अकेला व्यवहारचारित्र वृथा है

वयतवसंजमुसीलु जिय ए सव्वे अकइच्छु ।
जाण ण जाणइ इक्क परू सुद्धउ भाउ पवित्तु ।।

अन्वयार्थ- **(जिउ)** हे जीव ! **(जाव इक्क परू सुद्धउ पवित्तु भाउ ण जाणइ)** जब तक एक उत्कृष्ट शुद्ध वीतराग भाव का अनुभव न करे **(वय तव संजमु सीलु ए सव्वे अकइच्छु)** तब तक व्रत, तप, संयम, शील ये सर्व पालना वृथा है, मोक्ष के लिये नहीं हैं। पुण्य बाँधकर संसार बढ़ाने वाले हैं।

भावार्थ- व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्र के बिना निर्वाण के लिये व्यर्थ है। निर्वाण कर्मों के क्षय से होता है उसका उपाय वीतरागभाव है जो शुद्धात्मानुभव में प्राप्त होता है। निश्चय चारित्र स्वसमयरूप है, आत्मा ही का एक निर्मल भाव है। जहाँ इस भाव पर लक्ष्य नहीं, वह मोक्षमार्ग नहीं।

व्यवहार व्रतादि पालन में मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति होती है। शुभोपयोग या मन्द कषाय है। सम्यग्दर्शन के बिना मन्द कषाय को भी वास्तव में शुभोपयोग नहीं कह सकते हैं तो भी जहाँ मन्द कषाय से शुभ प्रवृत्ति है, दयाभाव से वर्तन है, परोपकार भाव है, शास्त्रों का विचार है, जीवादि तत्त्वों का मनन है, वहाँ अशुभ भाव न होकर शुभ भाव है जो पुण्यबंध का कारक है।

श्री द्रव्यसंग्रह में कहा है :-

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिण भणियं ।।४५।।

भावार्थ- अशुभ से छूटकर शुभ में प्रवृत्ति करना व्यवहारनय से जिनेन्द्र ने चारित्र कहा है - वह पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति रूप है। व्यवहार पराश्रित है। मन, वचन, काय के आश्रित है इसलिए वहाँ उपयोग परमुखाकार है, अपने आत्मा से दूर है इसलिए बन्ध का कारक है। निश्चय स्वाश्रय है, आत्मा ही में उपयोग सन्मुख है वही शुद्ध भावना है जो निर्वाण का कारण है यदि कोई सम्यग्दृष्टि नहीं है और वह केवल व्यवहार चारित्र से मोक्षमार्ग मान ले तो यह उसकी भूल है, संसार का ही मार्ग है।

बाहरी आलम्बन को या निमित्त को उपादान मानना मिथ्यात्व है। करोड़ों जन्मों में यदि कोई व्यवहार चारित्र पाले तब भी वह मोक्ष के मार्ग पर नहीं है। शुद्धात्मानुभव के प्रताप से अनादि का मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्ती व संयमी होकर उसी भव से निर्वाण का भागी हो सकता है।

समयसार कलश में कहा है :-

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥
वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

भावार्थ- आत्मा का ज्ञान स्वभाव से वर्तना, सदा आत्मीक ज्ञान में रहना है, यही मोक्ष का साधन है, क्योंकि यहाँ उपयोग एक ही आत्मा द्रव्य के स्वभाव में तन्मय है। शुभ क्रियाकांड में वर्तना आत्मा के ज्ञान में परिणमन नहीं है, यह मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि अन्य द्रव्यके स्वभाव पर यहां लक्ष्य है, आत्मा का ध्यान नहीं है।

श्री मोक्षपाहुड़ में कहा है :-

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू ।
मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ॥१५॥

भावार्थ- जो कोई आत्मा को छोड़कर परद्रव्य में रति करता है वह मिथ्यादृष्टि है। मिथ्या श्रद्धान से परिणमता हुआ दुष्ट आठों कर्मों को बांधता रहता है।

दोहा ३२

पुण्य पाप दोनों संसार है

पुण्णिं पावइ सग्ग जिउ पावइ णरयणिवासु ।
वे छंडिवि अप्पा मुणइ तउ लब्भइ सिववासु ॥

अन्वयार्थ- (जिउ पुण्णिं सग्ग पावइ) यह जीव पुण्य से स्वर्ग पाता है **(पावइ णरयणिवासु)** पाप से नरक में जाता है **(वे छंडिवि अप्पा मुणइ)** पुण्य पाप दोनों से ममता छोड़कर जो अपने आत्मा का मनन करे **(तउ सियवासु लब्भइ)** तो शिवमहल में वास पा जावे।

भावार्थ- पुण्य व पाप दोनों ही कर्म संसार भ्रमण के कारण है। दोनों ही प्रकार के कर्मों के बन्ध

के कारण कषायभाव हैं। मन्दकषाय से पुण्य कर्म का बन्ध होता है, तीव्र कषाय से पाप का बंध होता है। पुण्य कर्म सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र है। इनका बंध प्राणी मात्र पर दयाभाव, आहार, औषधि, अभय व विद्या चार प्रकार दान, श्रावक व मुनि का व्यवहार चारित्र, क्षमाभाव, सन्तोष, सन्तोषपूर्वक आरम्भ, अल्प ममत्व, कोमलता, समभव से कष्ट सहन, मन, वचन, काय का सरल कपटरहित वर्तन, परगुण प्रशंसा, आत्मदोष निन्दा, निरभिमानता आदि शुभ भावों से होता है। असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीचगोत्र व ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्म पाप कर्म हैं। उनका बन्ध ज्ञान के साधन में विघ्न करने से, दुःखित- शोकित होने से, रूदन करने से, पर को कष्ट देने से, पर का घात करने से, सच्चे देव गुरु धर्म की निन्दा करने से, तीव्र कषाय करने से, अन्याय पूर्वक आरम्भ करने से, बहुत मूर्च्छा रखने से, कपट से वर्तन करने से, मन, वचन, काय को वक्र रखने से, झगड़ा करने से, परनिन्दा व आत्म प्रशंसा से, अभिमान करने से, दानादि में विघ्न करने से, अन्य का बुरा चिंतवन से, कठोर व असत्य वचन से, पाँच पापों में वर्तन से होता है।

दोनों के फल से देव, मनुष्य, तिर्यंच, नरक गतियों में जाकर सांसारिक सुख व दुःख का भोग करना पड़ता है। व्रत, तप, शील, संयम के पालन में शुभ राग होता है , पुण्य का बन्ध होता है। उससे कर्म का क्षय नहीं हो सकता है इसलिए यहाँ कहा है कि पुण्य व पाप दोनों ही प्रकार के कर्मों को बेड़ी समझकर दोनों ही कारण भावों से राग छोड़कर एक शुद्ध आत्मीक भाव का अनुभव करना योग्य है।

मोक्ष का कारण एक शुद्धोपयोग है। पाप व पुण्य दोनों के बन्ध का कारण एक कषाय भाव है। दोनों का स्वभाव पुद्गल कर्म है। दोनों का फल सुख- दुःख है जो आत्मीक सुख का विरोधी है। दोनों ही बन्ध मार्ग है। ऐसा समझ कर ज्ञानी को सर्व ही पुण्य- पाप से पूर्ण वैराग्य रखना चाहिए। केवल एक अपने शुद्ध आत्मा का ही दर्शन करना चाहिए। परिणामों की थिरता न होने से यदि कदाचित् व्यवहार चारित्र पालना पड़े तो उससे मोक्ष होगा, ऐसा नहीं मानना चाहिए।

व्यवहार चारित्र को बन्ध का कारण जानकर उसको त्यागने योग्य समझना चाहिए। जैसे कोई सीढ़ी पर चढ़ता है उसे त्यागने योग्य समझ कर छोड़ता ही जाता है। निश्चय चारित्र पर पहुँच कर व्यवहार का स्मरण भी नहीं रहता है। जैसे कोठे के ऊपर पहुँच कर फिर सीढ़ी को कौन याद करता है ? सीढ़ी तो ऊपर आने का निमित्त थी। इसी तरह व्यवहार चारित्र का निमित्त निश्चय का साधक है।

निश्चय प्राप्त होने पर वह स्वयं भावों से छूट जाता है, व्यवहार चारित्र का राग नहीं रहता है।

श्री समयसार में कहा है :-

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाण सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१५२॥
सोवण्णियंपि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१५३॥
तम्हा दु कुसीलेहिं य रायं माकुणइ मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥१५४॥

भावार्थ- अशुभ कर्म कुशील है, शुभ कर्म सुशील है, अच्छा है ऐसा व्यवहारी लोग कहते हैं। आचार्य कहते हैं कि शुभ कर्म को सुशील हम नहीं कह सकते, क्योंकि यह संसार में भ्रमण कराता है। जैसे लोहे की बेड़ी पुरुष को बाँधती है वैसे ही सोने की बेड़ी बाँधती है। उसी तरह शुभ व अशुभ दोनों ही किये गये काम जीव को बाँधते ही हैं।

इसलिए पुण्य- पाप दोनों की कुशील व खोटे समझ कर उनसे राग व उनकी संगति करना योग्य नहीं है, क्योंकि कुशीलों की संगति से व राग से आत्मा की स्वाधीनता का नाश होता है।

श्री समयसार कलश में कहा है :-

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः ।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः ॥१०२॥

भावार्थ- पुण्य व पाप दोनों का हेतु, स्वभाव, फल व आस्रव एक रूप ही है, कुछ भेद नहीं है। दोनों ही बंध के मार्ग हैं, दोनों को सर्व को बंध का कारण जानना चाहिए।

दोहा ३३

निश्चय चारित्र ही मोक्ष का कारण है

वउतउसंजमुसील जिय इय सव्वइ ववहारू ।
मोक्खह कारण एक्क मुणि तो तइलोयहु सारू ॥

अन्वयार्थ- (जिय) हे जीव ! **(वउतउसंजमुसील इय सव्वइ ववहारू)** व्रत, तप, संयम, शील ये सब व्यवहार चारित्र हैं **(मोक्खह कारण एक्कु मुणि)** मोक्ष का कारण एक निश्चय

चारित्र को जानो **(जो तइलोयहु सारू)** जो तीन लोक में सार वस्तु है।

भावार्थ- तीन लोक में सार वस्तु मोक्ष है, जहाँ आत्मा अपना स्वभाव पूर्णपने प्रगट कर लेता है, कर्मबन्ध से मुक्त हो जाता है। परमानन्द का नित्य भोग करता है। मोक्ष का उपाय तीन लोक में सार है। वह उपाय भी अपने ही शुद्धात्मा का सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान व उसी में आचरण है। निश्चय रत्नत्रयरूप स्वसमय, स्वरूप संवेदन या आत्मानुभव है। यही एक ऐसा नियम रूप उपाय है। जैसा कार्य या साध्य होता है वैसा ही उसका कारण या साधन होता है। इस आत्मानुभव के लिये जो बाहरी साधन व्रत, तप आदि व्यवहार चारित्र किया जाता है वह मात्र व्यवहार है, निमित्त है। यदि कोई व्यवहार ही चारित्र पाले तो भ्रम है वह निर्वाण का साधन नहीं करता है।

आचार्य बार- बार इसी बात की प्रेरणा करते हैं कि हे योगी ! तू मन, वचन, काय की क्रिया को मोक्ष का उपाय मत जान। जहाँ किंचित् भी विकल्प है या कुछ भी परपदार्थ पर दृष्टि है वहाँ शुभ राग है, वह बन्ध का कारण है, कर्म की निर्जरा का कारण नहीं है। इसलिए तू सर्व प्रपंचजाल व चिंता छोड़कर निश्चल होकर एक अपने ही आत्मा की तरफ लौ लगा, उसी को ध्याकर, उसी का मनन कर, उसी में सन्तोष मानकर, एक शुद्ध आत्मा के अनुभव से उत्पन्न आनन्दामृत का पान कर।

व्यवहार चारित्र को व्यवहार मात्र समझ। बिना निश्चय चारित्र के उसका कोई लाभ मोक्षमार्ग में नही है। व्यवहार मुनि या श्रावक का संयम ठीक- ठीक शास्त्रानुसार पालकर भी यह अहंकार मत कर कि मैं मुनि हूँ, मैं क्षुल्लक श्रावक हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं धर्मात्मा गृहस्थ हूँ। ऐसा करने से उसके भेष में व व्यवहार में ही मुनिपना या गृहस्थपना मान लिया सो ठीक नहीं है। शुद्धात्मानुभव ही मुनिपना है। वही श्रावकपना है, वही जिनधर्म है, ऐसा समझकर ज्ञानी को शरीराश्रित क्रिया में अहंकार न करना चाहिए। जो निश्चयनय की प्रधानता से अपने को सिद्ध भगवान के समान शुद्ध तीन काल के सर्व कर्म रहित, विकल्प रहित, मतिज्ञानादि भेद रहित, एक सहज ज्ञान या आनन्द का समूह मानकर सर्व अन्य भावों से उदास हो जायेगा, वही निर्वाणमार्ग का आरूढ़ समझा जायेगा।

श्री भावपाहुड़ में कहा है :-

जीवविमुक्को सबओ दंसणमुक्को य होइ चलसबओ।
सबओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसबओ ।।१४३।।

जहा तारयाण चंदो मयराओ नयउलाण सव्वाणं ।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ।।१४४।।

भावार्थ- जीव रहित मुर्दा होता है आत्मदर्शन रूप सम्यक्त्व के बिना प्राणी चलता हुआ मुर्दा है। मुर्दा लोक में माननीय नहीं होता, जला दिया जाता है। चलने वाला व्यवहार चारित्रवान मुर्दा परमार्थ में अपूज्य है। जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा शोभता है, पशुओं में सिंह शोभता है वैसे मुनि व श्रावक दोनों केधर्म में सम्यग्दर्शन शोभता है। इस आत्मानुभव के बिना सर्व व्यवहार मलीन ही है।

श्री सारसमुच्चय में कहा है :-

ज्ञानभावनया जीवो लभते हितमात्मनः ।
विनयाचारसम्पन्नो विषयेषु पराङ्मुखः ।।४।।

भावार्थ- जो जीव पाँचों इन्द्रियों के विषयों से उदास होकर धर्म की विनय व धर्म के आचार से युक्त होकर आत्मज्ञान की भावना करता है, वही अपने आत्मा का हित कर सकता है।

दोहा ३४

आपसे आपको ध्याओ

अप्पा अप्पइ जो मुणइ जो परभाव चएइ ।
सो पावइ सिवपुरिगमणु जिणवर एउ भणेइ ।।

अन्वयार्थ- (जो परभाव चएइ) जो परभाव को छोड़ देता है **(जो अप्पइ अप्पा मुणइ)** व जो अपने से ही अपने आत्मा का अनुभव करता है **(सो सिवपुरिगमणु पावइ)** वही मोक्षनगर में पहुँच जाता है **(जिणवर एउ भणेइ)** श्री जिनेन्द्र ने यह कहा है।

भावार्थ- आत्मा को आत्मा के द्वारा ग्रहण कर जो निश्चल होकर आत्मा का अनुभव करता है वही आत्मा का दर्शन करता हुआ कर्म की निर्जरा करता है व मोक्षनगर में शीघ्र ही पहुँच जाता है। जब आत्मा अपने मूल स्वभाव को लक्ष्य में लेकर ग्रहण करता है तब सर्व ही पर भावों का सर्व त्याग हो जाता है। जैसे कोई स्त्री पर के घरों में जाया करती थी। जब वह अपने ही घर में बैठ गई, तब पर घरों का गमन स्वयं बन्द हो गया।

जितना कुछ प्रपंच या विकल्प परद्रव्यों के सम्बन्ध से होता है यह सब परभाव हैं। कर्मों के उदय से जो भावकर्म रागादि शुभ या अशुभ होता है व नोकर्म शरीरादि होते हैं वे सब परभाव

हैं। चौदह गुणस्थान व चौदह मार्गणाओं के भेद तब ही संभव है, जब कर्म सहित आत्मा को देखा जावे। अकेले कर्मरहित आत्मा में इन सबका दर्शन नहीं होता है। अपने आत्मा के सिवाय अन्य आत्माएँ संसारी व सिद्ध तथा सर्व ही पुद्गल परमाणु या स्कंध, तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु व आकाश ये सब परभाव है। मन के भीतर होने वाले मानसिक विकल्प भी परभाव है। आत्मा निर्विकल्प है, अभेद है, असंग है, निर्लेप है, निर्विकल्प भाव में ही ग्रहण होता है।

भूत, भविष्य, वर्तमान तीन काल सम्बन्धी सर्व कर्मों से व विकल्पों से आत्मा को न्यारा देखना चाहिए। यद्यपि आत्मा अनंतगुण व पर्यायों का समुदाय है तो भी ध्यान के समय उसके गुण गुणी भेदों का विचार भी बन्द कर देना चाहिए। आत्मा के स्वाद लेने में एकाग्र हो जाना चाहिए। बाहरी निमित्त इसलिए मिलाए जाते हैं कि मन की चंचलता मिटे, मन क्षोभित न हो। मन में चिन्ताएँ घर न करें। निर्ग्रन्थ साधु को ही शुद्धोपयोग की भले प्रकार प्राप्ति होती है, क्योंकि उनका मन परिग्रह की चिन्ता से व आरंभ के झंझट से अलग है। बिलकुल एकान्त सेवन, निरोग शरीर, शीत, उष्ण दंशमशक की बाधा का सहन, ये सब निमित्त कारण ध्यान में उपयोगी हैं। अभ्यासं प्रारम्भ करनेवालों को परीषह न आवे इस सम्हाल के साथ ध्यान करना होता है। जब अभ्यास बढ़ जाता है तब परीषहों के होने पर निश्चल रह सकता है। साधक को पूर्णपने अपने ही भीतर रमण करना चाहिए, यही निर्वाण का मार्ग है।

श्री समाधिशतक में कहा है :-

यदग्राह्य न गृहणति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्हम् ।।२०।।
येनात्मनाऽनुभूये ऽहमात्मनै वात्मनात्मनि
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहु ।।२३।।
यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः ।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ।।२४।।
क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः ।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ।।२५।।

भावार्थ- जो न ग्रहण करने योग्य परभाव हैं या परद्रव्य हैं उनको ग्रहण नहीं करता है व जो अपने

गुण का स्वभाव है जिनको सदा ग्रहण किया हुये हैं उनका कभी त्याग नहीं करता है, किन्तु जो सर्व प्रकार से सर्व को जानता है, वही मैं अपने से आप अनुभव करने योग्य हूँ। जिस आत्मीक स्वरूप से मैं अपने आत्मा को, आत्मा के भीतर, आत्मा के द्वारा, आत्मारूप ही अनुभव करता हूँ वही मैं हूँ। न पुरुष हूँ, न स्त्री हूँ, न नपुंसक हूँ, न एक हूँ, न दो हूँ, न बहुत हूँ। जिस स्वरूप को न जानकर मैं अनादि से सो रहा था व जिसको जानकर मैं अब जाग उठा हूँ। वह मैं अतीन्द्रिय, नाम रहित, केवल स्वसंवेदन योग्य हूँ। जब मैं यथार्थ तत्त्वदृष्टि से अपने को ज्ञान स्वरूप देखता हूँ तो वही सर्व रागादि क्षय हो जाते हैं, तब मेरा कोई शत्रु या मित्र नहीं होता है, समभाव छा जाता है।

दोहा ३५

व्यवहार में नौ पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है

छहदव्वह जे जिण कहिया णव पयत्थ जे तत्त ।
ववहारे जिणउत्तिया ते जाणियहि पयत्त ।।

अन्वयार्थ- (जिण जे छहदव्वह णव पयत्थ जे तत्त कहिया) जिनेन्द्र ने जो छः द्रव्य, नौ पदार्थ औ सात तत्त्व कहे हैं (ववहारे जिणउत्तिया) वे सब व्यवहारनय से कहे हैं **(पयत्त ते जाणियहि)** प्रयत्न करके उनको जानना योग्य है।

भावार्थ- निर्वाण का उपाय निश्चय से एक आत्मा के दर्शन या आत्मानुभव को बताया है। परन्तु उपाय तब ही किया जाता है जब यह निश्चय हो कि उपाय करने की क्यों आवश्यकता है ? इसलिए साधक को यह भले प्रकार जानना चाहिए कि वह निश्चय नय से शुद्ध है तथापि वह अनादि से कर्म बन्ध के कारण अशुद्ध हो रहा है।

यह अशुद्धता कैसे होती है व कैसे मिट सकती है, इस बात का विस्तार से कथन व्यवहारनय से जिनेन्द्र ने बताया है, क्योंकि पर के आश्रय को लेकर आत्मा का कथन व्यवहारनय से ही किया जाता है, तब छः द्रव्यों को, सात तत्त्वों को, नौ पदार्थों को भले प्रकार जानना चाहिए। इसलिए साधक को अध्यात्म शास्त्र में प्रवेश करने के पहले श्री तत्त्वार्थ सूत्र व उनकी टीकाएँ सर्वार्थसिद्धि, राजवातिक, श्लोकवार्तिक, गोमट्टसार आदि व्यवहार प्रधान ग्रन्थों को जानना जरूरी है। इनके श्रद्धान को ही व्यवहार सम्यक्त्व कहा गया है, जो आत्म प्रतीति रूप निश्चय

सम्यक्त्व के लिये निमित्त कारण है।

श्री गोम्मटसार जीवकांड में कहा है :-

छप्पंचणविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं ।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ।।५६०।।

भावार्थ- जिनेन्द्र भगवान के उपदेश के अनुसार छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, नव पदार्थों का श्रद्धान आज्ञा मात्र से या शास्त्रों के पठन- पाठन व न्याय की युक्ति से समझकर करना व्यवहार नय से सम्यक्त्व है।

उवजोगो वण्णचऊ लक्खणमिह जीवपोग्गलाणं तु ।
गदिठाणोग्गहवत्तणकिरियुवयारो दु धम्मचऊ ।।५६५।।

भावार्थ- ज्ञान- दर्शन उपयोग लक्षण का धारी जीवद्रव्य है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, लक्षणधारी पुद्गल द्रव्य है। जीव पुद्गल के गमन में उदासीन रूप से सहकारी धर्मद्रव्य है। जीवद्रव्य को ठहरने में सहकारी अधर्मद्रव्य है। सर्व द्रव्यों को स्थान देनेवाला आकाशद्रव्य है। द्रव्यों के पलटने में निमित्त कारण कालद्रव्य है। इस तरह छः द्रव्यों का भरा यह लोक है। जो सत् हो, सदा ही रहे उसको द्रव्य कहते हैं। जीवद्रव्य उपयोग सहित है, ज्ञाता दृष्टा है, यह बात प्रगट है।

शरीरादि पुद्गल रचित हैं, उनकी सत्ता भी प्रत्यक्ष प्रगट है। शेष चार द्रव्य अमूर्तिक हैं, इनकी सत्ता अनुमान से प्रगट है। जीव पुद्गल चार कार्य करते हैं, उनमें उपादान कारण वे स्वयं हैं, निमित्त कारण शेष चार द्रव्य हैं। गमन सहकारी लोकाकाश व्यापी धर्मद्रव्य है। ठहरने में सहकारी लोकाकाश व्यापी अधर्मद्रव्य है। अवकाश देनेवाला आकाशद्रव्य है। परिवर्तन कराने वाला कालाणु द्रव्य है जो असंख्यात हैं। एक- एक आकाश के प्रदेश पर एक- एक कालाणु है। जीव अनंत हैं, पुद्गल अनंत हैं, अनंत आकाश के मध्य लोक हैं। लोक में सर्वत्र शेष पांच द्रव्य हैं। सूक्ष्म पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति सर्वत्र है। बादर एकेन्द्रियादि कहीं- कहीं हैं। परमाणु व स्कंधरूप पुद्गल सर्वत्र है।

इन छः द्रव्यों का अस्तित्व कभी मिट नहीं सकता है, उनके भीतर संसारी जीव कर्मबंध सहित अशुद्ध हैं। उनको भी जब शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से देखा जावे तो वे शुद्ध ही झलकते हैं। इस दृष्टि से पुद्गलद्रव्य भी परमाणुरूप शुद्ध दिखता है। समताभाव लाने के लिये इन छहों द्रव्यों को मूल स्वभाव से शुद्ध अलग- अलग देखना चाहिए। तब राग व द्वेष नहीं रहेंगे।

श्री समाधिशतक में कहा है :-

यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत् ।
अत्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ।।६७।।

भावार्थ- यह चलता फिरता जगत भी जिसकी दृष्टि में शुद्ध निश्चयनय के बल से चलन रहित थिर, विकल्प रहित निर्विकल्प, क्रिया व भोग रहित निर्विकल्प दिखता है वह समभाव को प्राप्त करता है। मोक्षमार्ग पर चलने वाले के छः द्रव्यों की सत्ता का पक्का निश्चय होना चाहिए, तब भ्रम रहित ज्ञान होगा, तब परद्रव्य व परभावों से उदास होकर स्वद्रव्य में प्रवृत्ति हो सकेगी। सात तत्त्व हैं - जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव तत्त्व में सब अनन्त जीव आ गए। अजीव तत्त्व में शेष पांच द्रव्य आ गए। कालाणु एक एक प्रदेश पर होने से कायरहित हैं। शेष पांच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं परमाणु में मिलने की शक्ति है, इसलिए काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं।

कर्मवर्गणाओं के आने को आस्रव व कार्मण शरीर के साथ बन्धने को बन्ध कहते हैं। ये दोनों आस्रव व बन्ध एक साथ एक समय में होते हैं। इसलिए दोनों के कारण भाव एक ही है। मिथ्यादर्शन पांच प्रकार अविरति हिंसादि पांच प्रकार या पांच इन्द्रिय व मन को वश न रखना तथा छः काय की दया न पालना इस तरह बारह प्रकार, कषाय पच्चीस प्रकार, योग पन्द्रह प्रकार, सब सत्तावन आस्रव व बन्ध के कारण भाव हैं।

संक्षेप में योग व कषाय से आस्रव व बन्ध होते हैं। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से जब आत्मा के प्रदेश सकम्प होते हैं तब योगशक्ति से कर्मवर्गणाएं खिंचकर आती है तथा बंध जाती हैं। ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप बन्धन प्रकृतिबन्ध है। कितनी संख्या बन्धी सो प्रदेशबन्ध है। इन दो प्रकार के बन्ध का हेतु योग है। कर्मों में स्थिति पड़ना स्थिति बन्ध है। फलदान शक्ति पड़ना अनुभाग बन्ध है। ये दोनों बन्ध कषाय से होते हैं।

कर्मों के आस्रव के रोकने को संवर कहते हैं। उनका उपाय आस्रव विरोधी भावों का लाभ है। सम्यग्दर्शन, अहिंसादि पांच व्रत, कषाय रहित वीतरागभाव व योगों का स्थिर होना संवरभाव है।

पूर्व बाँधे हुए कर्मों का एक देश खिरना निर्जरा है। फल देकर खिरना सविपाक निर्जरा है। बिना फल दिये समय से पूर्व झड़ना अविपाक निर्जरा है। उसका उपाय तप या ध्यान है। संवर व

निर्जरा के द्वारा सर्व कर्मों से रहित हो जाना मोक्ष है। इन सात तत्त्वों में पुण्य पाप मिलाने से नौ पदार्थ हो जाते हैं। पुण्य- पाप आस्रव व बंध तत्त्वों में गर्भित हैं। व्यवहार नय से इन नौ पदार्थों में जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये चार ही ग्रहण करने योग्य हैं, शेष पाँच त्यागने योग्य हैं। निश्चयनय से एक अपना शुद्ध जीव ही ग्रहण करने योग्य है।

श्री समयसार में कहा है :-

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबन्धो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१५॥

भावार्थ- निश्चयनय से जाने हुए ये नौ पदार्थ सम्यक्त्व होते हैं अर्थात् ये नौ पदार्थ जीव-अजीव के संयोग से हैं। आस्रवादि सात पदार्थ जीव व कर्मवर्गणा के संयोग से होते हैं। इनमें एक जीव कर्म रहित ग्रहण करने योग्य है, ऐसा श्रद्धान निश्चय से सम्यक्त्व है।

दोहा ३६

सब पदार्थों में चेतनेवाला एक जीव ही है

सव्व अचेयण जाणि जिय एक्क सचेयण सारू ।
जो जाणेविण परममुणि लहु पावइ भवपारू ॥

अन्वयार्थ- (सव्व अचेयण जाणि) पुद्गलादि सर्व पाँचों द्रव्यों को अचेतन या जड़ जानो **(एक्क जिय सचेयण सारू)** एक अकेला जीव ही सचेतन है व सारभूत परम पदार्थ है **(परम मुणि जो जाणेविण लहु भवपारू पावइ)** जिस जीव तत्त्व को अनुभव करके परम मुनि शीघ्र ही संसार से पार हो जाते हैं।

भावार्थ- छः द्रव्यों में एक आत्मा ही सचेतन है, जो अपने को भी जानता है व सर्व जानने योग्य ज्ञेय पदार्थों को भी जानता है। पाँच पुद्गलादि द्रव्य चेतना रहित जड़ हैं। नौ पदार्थों में भी यदि शुद्ध निश्चयनय से देखा जावे तो एक आत्मा भिन्न ही दिख पड़ता है। जैसे शक्कर को अन्न के साथ मिलाकर नौ मिठाईयाँ बनाई जावें तो भी उनमें शक्कर को देखनेवाला शक्कर को जुदा देखता है।

ज्ञानी को उचित है कि वह अपने आत्मा को सर्व परद्रव्यों से भिन्न देखे। आठ कर्म भी जड़ हैं, शरीर भी जड़ है, कर्म के निमित्त से होने वाले औपाधिक विकारी भाव भी आत्मा का स्वभाव

नहीं। मतिज्ञानादि खण्ड व क्रमवर्ती ज्ञान भी कर्म के संयोग से होते हैं, ये भी आत्मा का स्वभाव नहीं। आत्मा द्रव्य को मात्र द्रव्य रूप अखण्ड सिद्ध भगवान के समान शुद्ध देखना चाहिए व ऐसा ही अनुभव करना चाहिए। परम मुनि ही शुद्धात्मा के ध्यान से शीघ्र ही भवसागर से पार हो जाते हैं।

मोक्ष के कारण कलाप में वज्रवृषभनाराच संहनन का होना जरूरी है। इसके बिना ऐसा वीर्य नहीं प्रगट होता कि क्षपकश्रेणी पर चढ़ सके व घातीयकर्म का क्षय करके केवलज्ञानी हो सके। परिग्रहत्यागी निर्ग्रन्थ मुनि ही मोक्ष के योग्य ध्यान कर सकते हैं। इसलिए २४ प्रकार के परिग्रह का उन्हें निषेध है। क्षेत्र, घर, धन, धान्य, चांदी, सुवर्ण, दासी, दास, कपड़े, बर्तन ये दश प्रकार के बाहरी परिग्रह हैं। ये बिलकुल पर हैं इनको त्यागा जा सकता है, तब बाहरी परिग्रह की चिंता मन को नहीं सताएगी। अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार है। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद। इनकी ममता बुद्धिपूर्वक छोड़ी जाती है।

कर्मोदय से यदि कोई विकार होता है तो उसको ग्रहण योग्य मान के ज्ञानी साधु स्वागत नहीं करते हैं, यही परिग्रह का त्याग है। बालक के समान नग्न रहकर जो साधु अप्रमत्त गुणस्थान के सातिशय भाव को प्राप्त होकर व क्षयिक सम्यक्त्व से विभूषित होकर क्षपकश्रेणी चढ़कर शुक्लध्यान ध्याते हैं वे ही उसी भव से निर्वाण लाभ कर लेते हैं। बाहरी चारित्र निमित्त हैं, शुद्ध अनुभव रूप परम सामायिक या यथाख्यात चारित्र उपादान कारण है। निमित्त के होने पर उपादान उन्नति करता है। परन्तु साधक की दृष्टि अपने ही उपादान रूप आत्मीक भाव पर ही रहती है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार सम्यक्त्व के कारणों में भी एक सारभूत अपने ही शुद्धात्मा का ग्रहण कार्यकारी है।

श्री समयसार कलश में कहा है :-

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं,
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं ,
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरूद्योतमानम् ॥८॥

भावार्थ- जैसे सोने की माला में सोना भिन्न झलकता है वैसे ही जीवों को उचित है कि वह

अनादिकाल से पदार्थों के भीतर छिपी हुई अपनी आत्मज्योति को अलग सदा ही पर से भिन्न व एक रूप प्रकाशमान हर एक पद में देखे - शुद्धात्मा का ही अपने भीतर दर्शन करे।

श्री मोक्षपाहुड़ में कहा है :-

होऊण दिढ़चरित्ते दिढ़सम्मत्तेण भावियमईओ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥४९॥
चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥५०॥

भावार्थ- योगी चारित्र में पक्का होकर पक्के निर्मल सम्यग्दर्शन की भावना करता हुआ जब अपने आत्मा को ध्याता है तो परमपद मोक्ष पाता है। आत्मा का धर्म या स्वभाव ही चारित्र है। आत्मा का धर्म आत्मा का समभाव है। वह समभाव राग द्वेष रहित जीव का अपना ही भाव है। इस भाव से ही मोक्ष होता है।

दोहा ३७

व्यवहार का मोह त्यागना जरूरी है

जइ णिम्मलु अप्पा मुणहि छंडवि सहु ववहारू।
जिण- सामिउ एमइ भणइ लहु पावहु भवपारू ॥

अन्वयार्थ- (जिणसामिउ एहउ भणइ) जिनेन्द्र भगवान ऐसा कहते हैं **(जइ सहु ववहारू छंडवि णिम्मलु अप्पा मुणहि)** यदि तू सर्व व्यवहार छोड़कर निर्मल आत्मा का अनुभव करेगा **(लहु भवपारू पावहु)** तो शीघ्र भव से पार होगा।

भावार्थ- यहाँ जिनेन्द्र भगवान की यही आज्ञा है व यही उपदेश बताया है कि निर्मल आत्मा का अनुभव करो। यह अनुभव तब ही होगा जब सर्व पर के आश्रित व्यवहार का मोह त्यागा जायेगा, पर पदार्थ का परमाणु मात्र हितकारी नहीं है। व्यवहार धर्म, व्यवहार सम्यग्दर्शन- ज्ञान- चारित्र का जितना विषय है वह सब त्यागने योग्य है। सम्यग्दृष्टि चाहे गृहस्थ हो या साधु, केवल अपने शुद्ध आत्मा को ही अपना हितकारी जानता है। शेष सर्व को त्यागने योग्य परिग्रह जानता है।

यद्यपि वह मन के लगाने को व ज्ञान की निर्मलता के लिये सात तत्त्वों का विचार करता है, जिनवाणी का पठन- पाठन, मनन, उपदेश करता है, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य,

परिग्रहत्याग पाँच व्रतों को एकदेश या सर्वदेश पालता है, मन्त्रों का जाप करता है, उपवास करता है, रस त्याग करता है तो भी इन सब कार्यों को व्यवहार धर्म जान के छोड़ने योग्य समझता है, क्योंकि व्यवहार के साथ राग करना कर्मबंध का कारण है केवल अपनी आत्मा की विभूति ज्ञानानन्द सम्पदा को अपनी मान के ग्रहण किये रहता है। सर्व चेतन, अचेतन व मिश्र परिग्रह को त्यागने योग्य समझता है। सिद्धों का ध्यान करता है तो भी सिद्धों को पर मान कर उनके ध्यान को भी त्यागने योग्य जानता है, क्योंकि वहाँ भी शुभ का अंश है। और तो क्या, गुणगुणी भेद का विचार भी परिग्रह है, व्यवहार है, त्यागने योग्य है, क्योंकि इस विचार में विकल्प है, जहाँ विकल्प है वहाँ शुद्ध भाव नहीं। यद्यपि इस विचार का आलम्बन दूसरे शुक्ल ध्यान तक है तथापि सम्यग्यदृष्टि इस आलम्बन को भी त्यागने योग्य जानता है।

सम्यक्त्वी का देव, गुरु, शास्त्र, घर, उपवन सबकुछ एक अपना ही शुद्धात्मा है, वही आसन है, वही शिला है, वही पर्वत की गुफा है, वही सिंहासन है, वही शय्या है, ऐसा असंग भाव व शुद्ध श्रद्धान जिसको होता है वही सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है, वही उस नौका पर आरूढ़ है जो संसार सागर से पार करनेवाली है। व्यवहार के मोह से कर्म का क्षय नहीं होगा जो अहंकार करे कि मैं मुनि, मैं तपस्वी, वह व्यवहार का मोही मोक्षमार्गी नहीं है। यद्यपि मुनि का नग्न भेष व श्रावक का सवस्त्र भेष निमित्त कारण है तथापि मोक्ष- मार्ग कारक रत्नत्रय धर्म ही है।

श्री समयसार में कहा है :-

मोत्तूण णिच्छयट्ठ ववहारे ण विदुसा पवट्ठन्ति।
परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि॥१६३॥

भावार्थ - ज्ञानीजन निश्चय पदार्थ को छोड़कर व्यवहार के भीतर नहीं प्रवर्तते हैं। व्यवहार से मोह नहीं रखते हैं क्योंकि जो साधु परमार्थ का या अपने शुद्धात्मा का आश्रय करते हैं, उन्हीं के कर्मों का क्षय होता है।

पांखडियलिंगेसु व गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं॥४१५॥

भावार्थ- जो साधु के भेष में या व्यवहार चारित्र में या नाना प्रकार के श्रावक के भेष में या व्यवहार चारित्र में ममता भाव करते हैं, उन्होंने समयसार जो शुद्धात्मा उसको नहीं जाना है।

श्री मोक्षपाहुड़ में कहा है :-

बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो ।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ।।६१।।

भावार्थ- जो बाहरी भेष व चारित्र सहित है परन्तु भीतरी आत्मानुभवरूप चारित्र से रहित है वह स्वचारित्र से भ्रष्ट होता हुआ मोक्षमार्ग का विनाशक है।

दोहा ३८

जीव अजीव का भेद जानो

जीवाजीवहँ भेउ, जो जाणइ तिं जाणियउ ।
मोक्खहँ कारण एउ, भणइ जोइ जाइहिं भणिउ ।।

अन्वयार्थ- (जोई) ये योगी ! **(जोइहिं भणिउ)** योगियों ने कहा है **(जीवाजीवहँ भेउ जो जाणइ)** जो कोई जीव तथा अजीव का भेद जानता है **(तिं मोक्खहँ कारण जाणियउ)** उसी ने मोक्ष का मार्ग जाना है। **(एउ भणइ)** ऐसा कहा गया है।

भावार्थ- बंध व मोक्ष का व्यवहार तब ही संभव है जब दो भिन्न- भिन्न वस्तुए हों, वे बँधती खुलती हों। गाय रस्सी से बँधी है, रस्सी छूट गई। यदि अकेली गाय हो या अकेली रस्सी हो तो गाय का बँधना व छूटना हो नहीं सकता, उसी तरह यदि लोक में जीव ही अकेला होता, अजीव न होता तो जीव कभी बँधता व खुलता नहीं।

संसार दशा में जीव- अजीव का बंध है तब मोक्ष दशा में जीव का अजीव से छूटना होता है। दो प्रकार के भिन्न- भिन्न द्रव्य यदि लोक में नहीं होते तो संसार व मोक्ष का होना संभव नहीं था। यह लोक छः द्रव्यों का समुदाय है। उनमें जीव चेतन है, शेष पाँच अचेतन या अजीव हैं। इनमें चार द्रव्य तो बन्ध रहित शुद्ध दशा में सदा मिलते हैं।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, काल व आकाश इनमें सदा स्वभाव परिणमन होता है। जीव व पुद्गल में ही विभाव परिणमन की शक्ति है। जीव पुद्गल के बंध में जीव में विभाव होते हैं। जीव के विभाव के निमित्त से पुद्गल में विभाव परिणमन होता है। पुद्गल स्वयं भी स्कंध बनकर विभाव परिणमन करते हैं। हर एक संसारी जीव- पुद्गल से गाढ़ बन्धन रूप हो रहा है। तैजस व कार्मण का सूक्ष्म शरीर अनादि से सदा ही साथ रहता है। इनके सिवाय औदारिक शरीर,

वैक्रियक शरीर व आहारक शरीर व भाषा व मन के पुद्गलों का संयोग होता रहता है।

यह जीव पुद्गल की संगति में ऐसा एकमेक हो रहा है कि यह अपने को भूल ही गया है। कर्मों के उदय के निमित्त से जो रागादि भावकर्म व शरीरादि नोकर्म होते हैं, उन रूप ही अपने को मानता रहता है। पुद्गल के मोह में उन्मत्त हो रहा है। इसी से कर्म का बंध करके बंधन को बढ़ाता है व कर्मों के उदय से नाना प्रकार फल भोगता है। सुख रंचमात्र है, दुःख बहुत है।

जन्म, मरण, जरा, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग का अपार कष्ट है, तृष्णा की दाह का अपार दुःख है। जब श्री गुरु के प्रसाद से या शास्त्र के प्रवचन से इसको यह भेदविज्ञान हो कि **मैं तो (जीव) द्रव्य हूँ, मेरा स्वभाव परम शुद्ध, निरंजन, निर्विकार, अमूर्तिक, पूर्ण ज्ञानदर्शनमयी व आनंदमयी है,** मेरे साथ पुद्गल का संयोग मेरा रूप नहीं है, मैं निश्चय से पुद्गल से व पुद्गल कृत सर्व रागादि विकारों से बाहर हूँ, पुद्गल का सम्बन्ध दूर करना योग्य है, मोक्ष प्राप्त करना योग्य है। इस तरह जब भेदविज्ञान हो व पुद्गल से पक्का वैराग्य हो, तब मोक्ष का उपाय हो सकता है। तब यह दृढ़ बुद्धि हो कि कर्मों के आस्रवों व बंध दुःख के मूल हैं। इनको छोड़ना चाहिये व मोक्ष के कारण, संवर व निर्जरा हैं, इनका उपाय करना चाहिए। ऐसी प्रतीति होने पर ही मोक्ष का उपाय हो सकेगा। जो यह पक्का जानेगा कि (पर्यायदृष्टि से) मैं रागी हूँ, रोग का कारण यह है, वही रोग के कारणों से बचेगा व विद्यमान रोग के निवारण के लिये औषधि का सेवन करेगा। इसलिए मूलसूत्र में कहा है कि जीव- अजीव के भेद का ज्ञान मोक्ष का कारण है।

श्री तत्त्वानुशासन में कहा है :-

तापत्रयापतप्तेभ्यो भव्येभ्यः शिवशर्मणे ।
तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाभ्यधादसौ ।।३।।
बंधो निबंधनं चास्य हेयमित्युपदर्शितं ।
हेयं स्याद्दुःखसुखयोर्यस्माद्बीजमिदं द्वयं ।।४।।
मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतं ।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ।।५।।

भावार्थ- जन्म, जरा, मरण तीन प्रकार के सन्ताप से दुःखी होकर भव्य जीवों को परमानन्दमय मोक्षसुख का लाभ हो इसलिए सर्वज्ञदेव ने हेय या उपादेय दो प्रकार तत्त्व कहा है। बन्ध व उसके कारण मिथ्यात्वादि आस्रव भाव त्यागने योग्य हैं, क्योंकि ये ही त्यागने योग्य सांसारिक दुःख

सुख के बीज हैं। मोक्ष व उसके कारण संवर व निर्जरा भाव ग्रहण योग्य है सो प्रगट होगा।

श्री समयसार कलश में कहा है :-

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं,
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तं ।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं,
मोहस्तु तत्कथमहो वत नानटीति ।।४३।।

भावार्थ- जीव से अजीव लक्षण से ही भिन्न है इसलिए ज्ञानी जीव अपने को सर्व रागादि से व शरीरादि से भिन्न ज्ञानमय प्रकाशमान एक रूप अनुभव करता है। आश्चर्य व खेद है कि अज्ञानी जीव में अनादिकाल से यह मोहभाव क्यों नाच रहा है, जिससे यह अजीव को अपना तत्त्व मान रहा है। **दो द्रव्यों को न्यारे- न्यारे नहीं देखता है इसी से संसार है।**

दोहा ३९

आत्मा केवलज्ञान स्वभावधारी है

केवल- णाण- सहाउ सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ ।
जइ चाहहि सिव- लाहु भणइ जोइ जोइहिं भणिउँ ।।

अन्वयार्थ- **(जोइ)** हे योगी ! **(जोइहिं भणिऊँ)** योगियों ने कहा है कि **(तुहुँ केवल-णाण-सहाउ सो अप्पा जीव मुणि)** तू केवलज्ञान स्वभावी जो आत्मा है उस ही को जीव जान **(जइ सिय-लाहु चाहहिं)** यदि तू मोक्ष का लाभ चाहता है **(भणइ)** ऐसा कहा है।

भावार्थ- हर एक आत्मा को जब निश्चयनय से या पुद्गल के स्वभाव से देखा जावे तब देखनेवाले के सामने अकेला एक आत्मा सर्व पर के संयोग रहित खड़ा हो जायेगा। तब वहाँ न तो आठों कर्म दिखेंगे, न शरीरादि नोकर्म दिखेंगे, न राग- द्वेषादि भावकर्म दिखेंगे। सिद्ध परमात्मा के समान हर एक आत्मा दिखेगा। यह आत्मा वास्तव में अनुभव से पर है। तथापि समझने के लिये कुछ विशेष गुणों के द्वारा अचेतन द्रव्यों से जुदा करके बताया गया है। छः विशेष गुण ध्यान देने योग्य है।

(1) ज्ञान - जिस गुण के द्वारा यह आत्मदीपक के समान आपको तथा सर्व जानने योग्य द्रव्यों की गुण पर्यायों को एक साथ क्रम रहित जानता है, इसी को केवलज्ञान स्वभाव कहते हैं, इन्द्रियों

की व मन की सहायता बिना होने से सकल प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान आवरण रहित सूर्य की भाँति प्रकाशता है। उसके द्वारा अन्य गुणों का प्रतिभास होता है। इसी को सर्वज्ञपना कहते हैं। हर एक आत्मा स्वभाव से सर्वज्ञ है।

(2) दर्शन - जिस गुण के द्वारा सर्व पदार्थों के सामान्य स्वभाव को एक साथ देखा जा सके वह केवलदर्शन स्वभाव है। वस्तु सामान्य विशेष रूप है। सामान्य अंश को ग्रहण करनेवाला दर्शन है, विशेष को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है।

(3) सुख - जिस गुण के द्वारा परम निराकुल अद्वितीय आनंदामृत का निरन्तर स्वाद लिया जावे। हर एक आत्मा अनन्त सुख का सागर है, वहाँ कोई सांसारिक नाशवंत पर के द्वारा होने वाला सुख व ज्ञान नहीं है। जैसे लवण की डली खार रस से व मिश्री की डली मिष्टरस से पूर्ण है वैसे ही हर एक आत्मा परमानन्द से पूर्ण है।

(4) वीर्य- जिस शक्ति से अपने गुणों का अनन्त काल तक भोग या उपभोग करते हुए खेद व थकावट न हो, निरन्तर सहज ही शान्तरस में परिणमन हो, अपने भीतर किसी बाधंक का प्रवेश न हो। हर एक आत्मा अनन्तवीर्य का धनी है। पुद्गल में भी वीर्य है, परन्तु आत्मा का वीर्य उससे अनन्तगुणा है, क्योंकि कर्मों का क्षय करके परमात्मा पद आत्मवीर्य से ही होता है।

(5) चेतनत्व - चेतनपना, अनुभवपना "चैतन्यं अनुभवनं" (आलापपद्धति) अपने ज्ञान स्वभाव का निरन्तर अनुभव करना, कर्म का व कर्मफल का अनुभव नहीं करना। संसारी आत्मा सगी- द्वेषी होते हैं, अतएव राग द्वेष पूर्वक शुभ व अशुभ काम करने में तन्मय रहते हैं या कर्म के फलों को भोगते हुए सुख दुःख में तन्मय हो जाते हैं। कर्म रहित शुद्ध आत्मा में मात्र एक ज्ञानचेतना है, ज्ञानानन्द का ही अनुभव है।

(6) अमूर्तत्व - यह आत्मा यद्यपि असंख्यात प्रदेशी एक अखंड द्रव्य है तथापि यह स्पर्श, रस, गंध वर्ण से रहित अमूर्तिक है। इन्द्रियों के द्वारा देखा नहीं जा सकता है। आकाश के समान निर्मल आकारधारी ज्ञानाकार है। इन छः विशेष गुणों से यह आत्मा पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु व आकाश, इन पांच अचेतन द्रव्यों से भिन्न झलकता है। हर एक आत्मा स्वभाव से परम वीतराग शांत निर्विकार है, अपनी ही परिणति का कर्ता व भोक्ता है, पर का कर्ता व भोक्ता नहीं है। हर एक आत्मा परम शुद्ध परमात्मा परम समदर्शी है।

इस तरह जो अपने आत्मा को या पर की आत्माओं को अर्थात् विश्व की सर्व आत्माओं

को देखता है, वहां पूर्ण स्वाभाविक समभाव झलकता है। यही समभाव चारित्र है, ध्यान है, भाव संवर है, भाव निर्जरा है, यही कर्म क्षयकारी भाव है, यही निर्जरा का उपाय है। योगियों ने परम ऋषियों ने व अरहंतो ने स्वयं अनुभव करके यही बताया है। मुमुक्षु को सदा ही अपने आत्मा का ऐसा शुद्ध ज्ञान रखना चाहिए।

श्री समयसार कलश में कहा है :-

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ।।४१।।

भावार्थ- यह जीव अनादि से अनंतकाल तक रहनेवाला है, चंचलता रहित निश्चल है, स्वयं चेतनमयी है, स्वानुभवगोचर है, सदा ही चमकने वाला है।

श्री तत्त्वानुशासन में कहा है :-

स्वरूपं सर्वजीवानां स्वपरस्य प्रकाशनं ।
भानुमंडलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनं ।।२३५।।
न मुह्यति न संशेते स्वार्थान्नध्यवस्यति ।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतु स्वथ्यः प्रतिक्षणं ।।२३७।।

भावार्थ- सर्व जीवों का स्वभाव आत्मा का व परपदार्थों का सूर्यमण्डल की तरह बिना दूसरे की सहायता से प्रकाश करना है। हर एक आत्मा स्वभाव से संशयवान नहीं होता है, अनध्यवसाय या ज्ञान के आलस्य भाव को नहीं रखता है, न मोह या विपरीत भाव को रखता है, संशय, विमोह, अनध्यवसाय रहित है, न तो राग करता है, न द्वेष करता है। किन्तु प्रतिसमय अपने ही भीतर मगन रहता है।

दोहा ४०

ज्ञानी को हर जगह आत्मा ही दिखता है

को सुसमाहि करउ को अंचउ, छोपु-अछोपु करिवि को वंचउ।
हल सहि कलहु केण समाणउ, जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ।।

अन्वयार्थ- **(को सुसमाहि करउ)** कौन तो समाधि करे **(को अंचउ)** कौन अर्चा या पूजन करे **(छोपु- अछोपु करिवि)** कौन स्पर्श अस्पर्श करके **(को वंचउ)** कौन वंचना या मायाचार

करे **(केण सहि हल कलहु समाणउ)** कौन किसके साथ मैत्री व कलह करे **(जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ)** जहाँ कहीं देखो वहां आत्मा ही आत्मा दृष्टिगोचर होता है।

भावार्थ- इस चौपाई में बताया है कि निश्चयनय से ज्ञानी जब देखता है तब उसे अपना आत्मा परम शुद्ध दिखता है, वैसे ही विश्वभर में भरे सूक्ष्म व बादर शरीरधारी आत्माएँ भी सब परम शुद्ध दिखती है। इस दृष्टि में नर नारक, देव पशु के नाना प्रकार के भेद नहीं दिखते हैं, एक आत्मा ही आत्मा दिखता है। ऐसा उन ज्ञानी के भावों में समभाव झलक गया है। एक अद्वैत आत्मा का ही अनुभव आ रहा है। अनुभव के समय तो आप में ही लीन है।

अनुभव की माता भावना है। भावना के समय उसे शुद्धदृष्टि से शुद्धात्मा ही दिखाता है। इसका अभिप्राय है यह नहीं लेना कि पुद्गलादि पाँच द्रव्यों का अभाव हो जाता है। जगत छः द्रव्यों का समुदाय है। वे द्रव्य सत् पदार्थ हैं, उनका कभी लोप नहीं हो सकता। तथापि आत्मदर्शक का लक्ष्यविन्दु एक आत्मा ही आत्मा है। इसलिए आत्मा ही आत्मा दिखता है। जैसे कोई खेत में जावे और देखनेवाले की चने की दृष्टि दाने की तरफ हो तो वह चने के खेत में चनों को हीं देखता है और कहता है कि इस खेत में पाँच मन चना निकलेगा।

बहुत से सुवर्ण के गहने मणिजड़ित हों, जौहरी के पास बेचने को ले जाओ तब वह केवल मणियों को देखता है, सुवर्ण को ध्यान में नहीं लेता, मणियों की ही कीमत करता है। उसी ही गहने को सर्राफ के पास ले जाओ तो वह मात्र सुवर्ण को ही देखकर सुवर्ण की कीमत लगाता है। इसी तरह आत्मज्ञानी को हर जगह आत्मा ही दिखता है, यही भाव सामायिक चारित्र है, यही श्रावक का सामायिक शिक्षाव्रत है।

जब आप परम शांत समभावी हो गए, तब साक्षात् कर्म के क्षय का कारण उपाय बन गया फिर वहाँ और कल्पनाओं का स्थान नहीं रहा, न यह चिंता रही कि समाधि भाव प्राप्त करना है, न यह चिंता रही कि पूजन पाठ करना है, न वह विचार ही कि शुद्ध भोजन करना है अशुद्ध नहीं करना है, अमुक के हाथ का स्पर्शित करना है, अमुक के हाथ का स्पर्शित नहीं करना है। राग द्वेष रूप भाव व्यवहार से करना पड़ता है। यह व्यवहार निश्चय की अपेक्षा असत्य है, मायारूप है, मिथ्याभिमान है।

जब सर्व जीवों को समान देख लिया , तब किस के साथ मैत्री करें व किस के साथ कलह करें। राग- द्वेष तो नाना भेद रूप दृष्टि में ही हो सकते हैं। सर्व को शुद्ध एकाकार देख लिया, तब

शत्रु व मित्र की कल्पना ही न रही। सर्व व्यवहार धर्म- कर्म से दूर हो गया। व्यवहार निमित्त साधन के द्वारा जो भाव प्राप्त करना था, सो प्राप्त कर लिया। समभाव ही चारित्र है, समभाव ही धर्म है, समभाव ही परम तत्त्व है सो मिल गया। वह भव्यजीव कृतार्थ हो गया, बँध की परिपाटी से छूट गया, निर्जरा के मार्ग में आरूढ़ हो गया।

श्री सर्वार्थसिद्धि में कहा है :-

एकत्वेन प्रथम गमन समयः समय एव सामायिकं,
समये प्रवर्तमानमस्येति वापिगृहत्य सामायिकं। अ.७ सू.२१।

भावार्थ- आत्मा के साथ एकमेक हो जाना, आत्मामय हो जाना सामायिक है।

श्री सारसमुच्चय में कहा हैं :-

समता सर्वभूतेषु यः करोति सुमानसः ।
ममत्वभावनिर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम् ।।२१३।।

भावार्थ- जो सुबुद्धि सर्व प्राणीमात्र से समभाव रखता है व ममता से छूट जाता है, वही अविनाशी पद को पाता है।

श्री समाधिशतक में कहा है :-

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते ।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ।।४४।।

भावार्थ- मूर्ख अज्ञानी इस दिखनेवाले जगत को स्त्री, पुरुष, नपुंसक रूप तीन लिंगमय देखता है। ज्ञानी इस जगत को शब्द रहित परम शांत देखता है।

दोहा ४१

अनात्मज्ञानी कुतीर्थों में भ्रमता है

ताम कुतित्थिइँ परिभमइ धुत्तिम ताम करेइ ।
गुरूहु पसाएं जाम णवि अप्पा- देउ मुणेइ ।।

अन्वयार्थ- (गुरूहु पसाएं जाम अप्पादेउ णवि मुणेइ) गुरु महाराज के प्रसाद से जब तक एक अपने आत्मारूपी देव को नहीं पहचानता है **(ताप कुतित्थिइँ परिभमइ)** तब तक मिथ्या तीर्थों में घूमता है **(ताम धुत्तिम करेइ)** तब ही तक धूर्तता करता है।

भावार्थ- जब तक यह जीव अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, संसारासक्त है, तब तक इसको इष्ट इन्द्रियों की प्राप्ति की कामना रहती है व बाधक कारणों के मिटाने की लालसा रहती है। मिथ्यामार्ग के उपदेशकों के द्वारा जिस किसी की भक्ति व पूजा से व जहाँ कहीं जाने से विषयों के लाभ में मदद होनी जानता है, उसकी भक्ति व पूजा करता है व उन स्थानों में जाता है। मिथ्या देवों की, मिथ्या गुरुओं की, मिथ्या धर्मों की, मिथ्या तीर्थों की खूब भक्ति करता है। नदी व सागर में स्नान से पाप नाश कर इष्टलाभ मान लेता है। खेल तमाशों में फंसा रहता है।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है :-

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ।।२२।।

भावार्थ- नदी व सागर में स्नान से, बालू व पत्थरों के ढेर लगाने से, पर्वत से गिरने से, आग में जलकर मरने से भला होगा मानना, पाप क्षय, पुण्य लाभ या मुक्ति मानना लोकमूढ़ता है।

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ।।२३।।

भावार्थ- लौकिक फल की इच्छा से आशावान होकर जो राग द्वेष से मलीन देवताओं को पूजना सो देवमूढ़ता है।

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम् ।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ।।२४।।

भावार्थ- परिग्रह धारी, आरंभ व हिंसा करनेवाले, संसार रूपी चक्र में वर्तन कराने वाले साधुओं का आदर सत्कार करना सो पाखण्ड मूढता है।

लौकिक जन इन तीन प्रकार की मूढताओं से ठगे गये संसारासक्त बने रहते हैं। इनके लिए तन, मन, धन अर्पण करके बड़ी भक्ति करते हैं। धन, स्त्री, निरोगता आदि लाभ के लोभ से पशुबलि तक देवी देवताओं के नाम पर करते हैं। यह अज्ञानी धूर्तता व खोटे पापबन्धक नदी सागरादि तीर्थों में भ्रमण तब तक करता रहता है, जब तक इसको सम्यग्दर्शन का प्रकाश नहीं है।

अपने ही आत्मा को परमात्मा देव मानना व परमानन्द का प्रेमी होना, संसार के विषयों से वैराग्य होना, इन्द्र चक्रवर्ती आदि लौकिक पदों को पर समझकर इनसे उदास होना, आत्मानुभव

को ही निश्चय धर्म मानना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टि मुख्यता से अपने आत्मादेव की आराधना करता है, जब राग के उदय से आत्मशक्ति नहीं होती है तब वीतरागता के ही उद्देश्य से अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पांच परमेष्ठियों की भक्ति करता है, शास्त्र का मनन करता है, वैराग्यदायक व आत्मज्ञान जागृत करनेवाले उत्तम तीर्थों की यात्रा करता है।

संसार से पार होनेवाले मार्ग को तीर्थ व पार होने का मार्ग बताने वालों की तीर्थंकर कहते हैं। ये तीर्थंकर या उन ही के समान अन्य मोक्षगामी महात्मा जहाँ जन्मते हैं, तप करते हैं, केवलज्ञान उपजाते हैं व निर्वाण जाते हैं वे सब पवित्र स्थान आत्मधर्म रूपी तीर्थ को स्मरण कराने के निमित्त होने से तीर्थ कहलाते है। जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर, कांपिल्या, बनारस, सम्मेदशिखर, गिरनार, राजगृह, पावापुर इत्यादि। जहाँ कहीं विशेष ध्यानाकार प्राचीन प्रतिमा होती है, वह भी वैराग्य के निमित्त होने से तीर्थ माना जाता है। जैसे श्रवणबेलगोला के श्री गोम्मटस्वामी, चांदनगांव के महावीरजी, सजोत के श्री शीतलनाथ जी आदि।

आत्मज्ञानी ऐसे तीर्थों का निमित्त मिलाकर आत्मानुभव की शक्ति बढ़ाता है। निश्चय तीर्थ तो अपना आत्मा ही है, व्यवहार तीर्थ पवित्र क्षेत्र है।

दोहा ४२

निज शरीर ही निश्चय से तीर्थ व मंदिर है

तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि वुत्तु।
देहादेवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरूत्तु ।।

अन्वयार्थ- **(सुइकेवलि इम वुत्तु)** श्रुतकेवली ने ऐसा कहा है कि **(तित्थहिं देविल देउ णवि)** तीर्थक्षेत्रों में व देवमंदिर में परमात्मदेव नहीं है **(णिरूत्तु एहउ जाणि)** निश्चय से ऐसा जान कि **(देहादेवलि जिणु देउ)** शरीररूपी देवालय में जिनदेव हैं।

भावार्थ- निश्चय से या वास्तव में यदि कोई परमात्मा श्री जिनेन्द्र का दर्शन का साक्षात्कार करना चाहे तो उसको अपने शरीर के भीतर ही अपने ही आत्मा को शुद्ध ज्ञानदृष्टि से शुद्धस्वभावी सर्व भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म रहित देखना होगा। कोई भी इस जगत में परमात्मा को अपनी चर्म चक्षु से कहीं भी नहीं देख सकता है। न मंदिर में, न तीर्थक्षेत्र में, न गुफा में, न पर्वत पर, न

नदी तीर पर, न किसी गुरु के पास, न किसी शास्त्र के वाक्यों में। अब तक जिसने परमात्मा को देखा है अपने ही भीतर देखा है अपने भी भीतर देखा है। वर्तमान में परमात्मा का दर्शन करनेवाले भी अपनी देह के भीतर ही देखते हैं, भविष्य में भी जो कोई परमात्मा को देखेगा वह अपने शरीररूपी मंदिर में ही देखेंगे।

जब ऐसा निश्चय सिद्धांत है तब फिर मंदिर में जाकर प्रतिमा का दर्शन क्यों करते हैं व तीर्थक्षेत्रों पर जाकर पवित्र स्थान पर क्यों मस्तक नमाते हैं ? इसका समाधान यह है कि ये सब निमित्त कारण हैं, जिनकी भक्ति करके अपने ही भीतर आत्म- देव को स्मरण किया जाता है। जो उच्च स्थिति पर पहुँच गए हों कि हर समय आत्मा का साक्षात्कार हो वे तो सातवें से आगे आठवें नवमें दसवें आदि गुणस्थानों में अर्न्तमुहूर्त में चढ़कर केवलज्ञानी हो जाते हैं। जो सविकल्प नीची अवस्था में हैं, जिनके भीतर प्रमाद जनक कषाय का तीव्र उदय संभव है, ऐसे देशसंयम गुणस्थान तक श्रावक गृहस्थ तथा प्रमत्तविरत गुणस्थान धारी साधु - इन सब का मन चञ्चल हो जाता है, तब बाहरी निमित्तों के मिलने पर फिर स्वरूप की भावनाएँ दृढ़ हो जाती। श्री जिनमन्दिर में प्रतिमा का दर्शन व तीर्थक्षेत्रों की वन्दना आत्मानुभव या आत्मीक भावना के लिये निमित्त हो जाते हैं।

यहाँ पर बताया है कि कोई मूढ़ ऐसा समझ ले कि प्रतिमा में ही परमात्मा है या तीर्थक्षेत्र में परमात्मा विराजमान है, उनके लिये यहाँ खुलासा किया है कि प्रतिमा में परमात्मा की स्थापना है या क्षेत्रों पर निर्वाणादि के पदों की स्थापना है। स्थापना साक्षात् पदार्थ को नहीं बताती है किन्तु उसका स्मरण कराती है व उसके गुणों का भाव चित्र से झलकाती है जिसकी वह मूर्ति है। कोई बुद्धिमान यह नहीं मान सकता है कि ऋषभदेव की प्रतिमा में ऋषभदेव हैं या महावीर की प्रतिमा में महावीर हैं। वह यही मानेगा कि वे प्रतिमाएं ऋषभ या महावीर के ध्यानस्थ स्वरूप को झलकाती हैं, उनके वैराग्य की मूर्ति हैं।

इन मूर्तियों के द्वारा उन ही का स्मरण होता है व मूर्ति को वन्दना करने से व पूजन करने से जिसकी मूर्ति है उसी की वन्दना या पूजा समझी जाती है, क्योंकि भक्ति का लक्ष्य उन पर रहता है, जिनकी वह मूर्ति है। लौकिक में भी बड़े पुरुषों के चित्र का आदर उन ही का आदर व उन चित्रों का अनादर उन ही का अपमान समझा जाता है जिनका वह चित्र है। दर्शक के परिणाम भी मूर्ति के निमित्त से बदल जाते हैं। वीतराग, तपदर्शक मूर्ति वैराग्य भाव व रागवर्द्धक मूर्ति रागभाव

उत्पन्न कर देती है। छठे गुणस्थान तक के भव्यजीव प्रतिमाओं की व तीर्थक्षेत्र की भक्ति करते हैं। उनकी भक्ति के बहाने व सहारे से अपने ही आत्मा की भक्ति पर पहुँच जाते हैं।

जो सम्यग्दृष्टि हैं, आत्मज्ञानी हैं, जो अपनी देह मे अपने ही आत्मा को परमात्मा रूप देख सकते हैं उनके लिये मन्दिर, प्रतिमा, तीर्थक्षेत्र आत्माराधन में प्रेरक हो जाते हैं। जैसे ज्ञान की वृद्धि में शास्त्रों के वाक्य प्रेरक हो जाते हैं। ये सब बुद्धिपूर्वक प्रेरक नहीं है, किन्तु उदासीन प्रेरक निमित्त हैं।

श्री तत्त्वार्थसार में स्थापना का स्वरूप कहा है :-

सोऽयमित्यक्षकाष्ठादेः सम्बन्धेनान्यवस्तुनि ।
यद्यवस्थापनामात्रं स्थापना साभिधीयते ॥११-१॥

भावार्थ- लकड़ी की गोठ में या अन्य वस्तु में किसी को मान लेना कि यह अमुक है सो स्थापना निक्षेप है। जिसकी स्थापना करनी हो उसके उसभाव को वैसा ही दिखानेवाली मूर्ति बनाना तदाकार स्थापना है। किसी भी चिन्ह में किसी को मान लेना अतदाकार स्थापना है। जैसे चित्रपट में किसी लकीर को नदी, किसी बिन्दु को पर्वत, किसी घेरे को नगर आदि समान लेते हैं। स्थापना केवल संकेत करती है। कोई मूढ़ स्थापना को साक्षात् मानकर नदी की स्थापना रूप लकीर से पानी लेना चाहे तो पानी नहीं मिलेगा, क्योंकि लकीर में साक्षात् नदी नहीं है।

कोई साधु की मूर्ति को देखकर प्रश्न करना चाहे तो उत्तर नहीं मिल सकता, क्योंकि वहां साक्षात् साधु नहीं है, साधु का आकार प्रदर्शक चित्र है। तात्पर्य यह है कि मंदिर व तीर्थ में साक्षात् परमात्मा का दर्शन नहीं होगा। परमात्मा जिनदेव का दर्शन तो अपने ही आत्मा को आत्मरूपयथार्थ देखने से होगा।

श्री परमात्मप्रकाश में भी कहा है :-

देहा देउलि जो वसइ, देव अणाइ अणंतु ।
केवलणाण फुरंत तणु सो परमप्पु भणंतु ॥३३॥

भावार्थ- देहरूपी देवालय में जो अनादि से अनंतकाल रहनेवाला केवल ज्ञानमयी प्रकाशमान शरीरधारी अपना आत्मा है वही निः संदेह परमात्मा है।

अण्णुजि तित्थ म जाहि जिय, अण्णुजि गुरउ म सेवि ।
अण्णुजि देव म चित्त तुहुं अप्पा विमल मुएवि ॥९५॥

भावार्थ- और तीर्थ में मत जा, और गुरु की सेवा न कर, अन्य देव की चिंता न कर, एक अपने निर्मल आत्मा का ही अनुभव कर, यही तीर्थ है, यही गुरु है, यही देव है, अन्य तीर्थ, गुरु व देव केवल व्यवहार निमित्त हैं।

दोहा ४३

देवालय में साक्षात् देव नहीं है

देहा-देवलि देउ जिणु देवलिहिं णिएइ ।
हासउ महु पडिहाइ इह सिद्धे भिक्ख भमेइ ।।

अन्वयार्थ- **(जिणु देउ देहादेवलि)** श्री जिनेन्द्रदेव देहरूपी देवालय में हैं **(जणु देवलिहिं णिएइ)** अज्ञानी मानव मंदिरों में देखता फिरता है **(महु हाउस पडिहाइ)** मुझे हंसी आती है **(इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ)** जैसे इस लोक में धनादि की सिद्धि होने पर भी कोई भीख मांगता फिरे।

भावार्थ- यहाँ इस बात पर लक्ष्य दिलाया है कि जो लोग केवल जिनमंदिरों की बाहरी भक्ति से ही संतुष्ट होते हैं व अपने को धर्मात्मा समझते हैं, इस बात का बिलकुल विचार नहीं करते हैं कि यह मूर्ति क्या सिखाती है व हमारे दर्शन करने का व पूजन करने का क्या हेतु है, वे केवल कुछ शुभ भाव से पुण्य बांध लेते हैं, परन्तु उनको निर्वाण का मार्ग नहीं दिख सकता है। अन्तरंग चारित्र के बिना बाहरी चारित्र होता है- यह बालू में से तेल निकालने के समान प्रयोग है। सम्यग्दर्शन बिना सर्व ही शास्त्र का ज्ञान व सर्व ही चारित्र मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र है।

अपने आत्मा के सच्चे स्वभाव का विश्वास ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के प्रकाश से अपने आत्मा को कर्मकृत विकारवश रागी, द्वेषी, संसारी मानने का अज्ञान अंधकार मिट जाता है, तब ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को अपने शरीर में व्यापक आत्मा का परमात्मा रूप ही श्रद्धान जम जाता है। वह सदा अपने शरीर रूपी मंदिर में अपने आत्मारूपी देव का निवास मानता है तथा अपने आत्मा के द्वारा ही सच्चा धर्म मानता है। वह सम्यक्ती कभी भ्रम मे नहीं पड़ता है। वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप जानता है। वह जिनमंदिर में जिन प्रतिमा का दर्शन, पूजन अपने आत्मीक गुणों का लक्ष्य जाने के लिये व अपने भीतर आत्मदर्शन करने के लिए ही करता है। वह जानता है कि मूर्ति जड़ है, केवल स्थापना रूप है। ध्यान का चित्र है उसमें साक्षात् जिनेन्द्र नहीं है। जो भूतकाल में तीर्थंकर या अन्य अरहंत हो गए हैं वे अब सिद्धक्षेत्र में है। वर्तमान में इस भरत क्षेत्र

में इस पंचम काल में नहीं है। यदि होते भी व समवशरण या गंधकुटी में उनका होता दर्शन होता भी तो आंखो से तो केवल उनका शरीर ही दिखता, आत्मा नहीं दिखता। उनका आत्मा कैसा है इस बात के जानने के लिये तब भी अपने शरीर में ही विराजित अपने आत्मा देव को ध्यान में लाना पड़ेगा। वास्तव में जो अपने आत्मा के स्वभाव को पहचानता है, वही जिनेश्वर की आत्मा को पहचानता है।

अपने आत्मा का आराधन ही उनका सच्चा आराधन है। जो अपने आत्मा को नहीं समझते व बाहर आत्मा देव को ढूंढते हैं उनके लिये हास्य का भाव ग्रंथकार ने बताया है व यह मूर्खता प्रगट की है कि धन का स्वामी होकर भी कोई भीख माँगता फिरता है।.

एक मानव बहुत लोभी था, धन को गाड़ कर रखता था, बाहर से दीन दिखता था। अपने पुत्र को भी धन का पता नहीं बताया। केवल उसका एक पुराना मित्र ही इस भेद को जानता था कि इसके प्रचुर धन अमुक स्थान में रखा है। कुल काल पीछे वह मर जाता है। पुत्र अपने को निर्धन समझ कर दीन- हीन वृत्ति करके पेट भरता है। एक दिन पुराने मित्र ने पता किया कि क्यों दुःखी होते हो ? तेरे पास अटूट धन है। वह अमुक स्थान में गड़ा है। सुनकर प्रसन्न होता है। उस स्थान पर खोदकर धन का स्वामी हो जाता है। फिर भी यदि वह दीन वृत्ति करे तो हास्य का स्थान है। इसी तरह जिसने आत्मा देव को शरीर के भीतर पा लिया उसको फिर बाहरी क्रिया में मोह नहीं हो सकता। कारण वश अशुभ से बचने के लिये बाहरी क्रिया करता है, तो भी उसे निर्वाण मार्ग नहीं मानता। निर्वाण मार्ग तो आत्मा के दर्शन को ही मानता है।

श्री समयसार में कहा है :-

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं विमोक्खहेदुं अयाणंता ।।१६१।।

भावार्थ- जो परमार्थ से बाहर हैं, निश्चय धर्म को नहीं समझते व मोक्ष को नहीं जानते हुए अज्ञान से संसार भ्रमण के कारण पुण्य को ही चाहते हैं, पुण्य बंध कारक क्रिया को निर्वाण का कारण मान लेता है।

श्री समयसार कलश में कहा है :-

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः,
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरं।

साक्षान्मोक्षमिदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं,
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

भावार्थ- कोई बहुत कठिन मोक्षमार्ग से विरूद्ध असत्य व्यवहार रूप क्रियाओं को करके कष्ट भोगो अथवा कोई चिरकाल जैनों के महाव्रत व तप के भार से पीड़ित होते हुए कष्ट भोगो तो भोगो, परन्तु मोक्ष नहीं होगा; क्योंकि मोक्ष एक निराकुल पद है, ज्ञानमय है, स्वयं अनुभव गोचर है, ऐसा मोक्ष बिना आत्मज्ञान के और किसी भी तरह प्राप्त नहीं किया जा सकता।

दोहा ४४

समभाव से अपने देह में जिनदेव को देख

मूढा देवलि देउ णवि सिलि लिप्पइ चित्ति ।
देहा-देवलि देउ जिणु सो बुज्झहि समचित्ति ॥

अन्वयार्थ- **(मूढा)** हे मूर्ख ! **(देउ देवलि णवि)** देव किसी मन्दिर में नहीं है **(सिलि लिप्पइ चित्ति णवि)** न देव किसी पाषाण लेप या चित्र में है **(जिणु देउ देहा- देवलि)** जिनेन्द्रदेव परमात्मा शरीररूपी देवालय में हैं **(समचित्ति सो बुज्झहि)** उस देव को समभाव से पहचान या उसका साक्षात्कार कर।

भावार्थ- यहाँ फिर भी दृढ़ किया है कि परमात्मा देव ईंट व पाषाण,.के बने हुए मन्दिर में नहीं मिलेगा, परमात्मा का दर्शन न किसी पाषाण या धातु कि या मिट्टी की मूर्ति में होगा, न किसी चित्र में होगा। **अपना आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा जिनदेव है।** उसका दर्शन यह ज्ञानी प्रायः अपने भीतर कर सकता है। यदि यह राग- द्वेष को छोड़ दे, शुभ या अशुभ राग त्याग दे, वीतराग होकर अपने को आठ कर्म रहित, शरीर रहित, रागादि विकार रहित देखे।

मंदिरों का निर्वाण निराकुल स्थान में इसलिए किया जाता है कि गृहस्थी या अभ्यासी साधु वहाँ बैठकर सांसारिक निमित्तों से बचें, चित्त को बुरी वासनाओं से रोक सकें व मन्दिर में निराकुल हो कर आत्मा का ही दर्शन सामायिक द्वारा, आध्यात्मिक शास्त्र पठन या मनन द्वारा, ध्यानमय मूर्ति के दर्शन द्वारा किया जा सके। इसी तरह पाषाण या धातु की प्रतिमा का निर्माण ध्यानमय व वैराग्यपूर्ण भाव का स्मरण कराने के लिए किया जाता है। आत्मा का दर्शक अपना शरीर है।

शरीर में आत्मदेव विराजमान है जिसको इस बात का पक्का श्रद्धान है कि उसकी धारणा को जगाने के लिये ध्यानमय मूर्ति का दर्शन व उसके सामने गुणानुवाद रूप पूजन निमित्त कारण है। निमित्त उपादान को जगाने में प्रबल कारण होते हैं। रागकारी निमित्त रागभाव व वीतरागी निमित्त वीतरागभाव जागृत कर देते हैं। अभ्यासी साधक को सदा ही भावों की निर्मलता के लिये निर्मल निमित्त मिलाने चाहिए, बाधक निमित्तों से बचना चाहिए।

श्री तत्त्वानुशासन में कहा है :-

सङ्गत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं ।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ।।७५।।

भावार्थ- परिग्रह का त्याग, कषायों का निरोध, अहिंसादि व्रतों की धारण, मन व इन्द्रियों की विजय, ये चार बातें ध्यान की उत्पत्ति के लिए सामग्री है।

स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत् ।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।।८१।।

भावार्थ- शास्त्र का मनन करते- करते ध्यान में चढ़ जाओ। ध्यान में मन न लगे तो स्वाध्याय में आ जाओ। ध्यान और स्वाध्याय के लाभ के द्वारा परमात्मा का प्रकाश होता है।

शून्यागारे गुहायां वा दिवा वा यदि वा निशि ।
स्त्रीपशुक्लीबजीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे ।।९०।।
अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रशस्ते प्रासुके समे ।
चेतनाऽचेतनाऽशेषध्यानविघ्नविवर्जिते ।।९१।।
भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा ।
सममृज्वायतं गात्रं निःकंपाऽवयवं दधत् ।।९२।।
नासाऽग्रन्यस्तनिष्पंदलोचनो मंदमुच्छवसन् ।
द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः ।।९३।।
प्रत्याहृत्याऽक्षलुंटाकांस्तदर्थेभ्यः प्रयत्नतः ।
चिंतां चाऽकृष्य सर्वेभ्यो निरूध्य ध्येयवस्तुनि ।।९४।।
निरस्तनिद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरन्तरं ।
स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदंतर्विशुद्धये ।।९५।।

भावार्थ- दिन हो या रात, सूने स्थान में, गुफा में , स्त्री, पशु, नपुंसक जीवों के व क्षुद्र जंतुओं के अगोचर स्थान में या किसी शुभ, जीवरहित, समतल स्थान में, जहाँ चेतन व अचेतन सर्व प्रकार के विघ्नों का नाश हो, भूमि में या शिला पर सुखासन में बैठकर या खड़े होकर सीधा निष्कम्प समतोल रूप शरीर को धारण करके निश्चल बने, नासाग्र दृष्टि मंद- मंद श्वास लेता हुआ बत्तीस कायोत्सर्ग के दोषों से रहित होकर व प्रयत्न करके इन्द्रिय रूपी लुटेरों को विषयों से रोक कर व चित्त को सब भावों से रोककर ध्येयवस्तु में जोड़कर, निद्रा को जीतता हुआ, भय रहित हो, आलस्य रहित हो, निरंतर अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप को या पर सिद्धों के स्वरूप को अंतरंग की शुद्धि के लिये ध्यावे।

श्री समाधिशतक में कहा है :-

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः ॥३५॥

भावार्थ- जिस ध्यानी का अनुराग द्वेषादि की लहरों से चञ्चल नहीं होता है वही आत्मा के स्वभाव को अनुभव करता है, रागी- द्वेषों अनुभव नहीं कर सकता है।

दोहा ४५

ज्ञानी ही शरीर मंदिर में परमात्मा को देखता है

तित्थइ देउलि देउ जिणु सव्वु वि कोई भणेइ ।
देहा- देउलि जो मुणइ सो बुहु को वि हवेइ ॥

अन्वयार्थ- **(सव्वु वि कोइ भणेइ)** सब कोई कहते हैं **(तित्थइ देउलि देउ जिणु)** कि तीर्थ में या मंदिर में जिनदेव है **(जो देहा- देउलि मुणइ)** जो कोई देहरूपी मन्दिर में जिनदेव को देखता है या मानता है **(सो को वि बुहु हवेइ)** सो कोई ज्ञानी ही होता है।

भावार्थ- जगत में व्यवहार को ही सत्य माननेवाले बहुत हैं। सब कोई यही कहते हैं कि घड़े को कुम्हार ने बनाया। घड़ा मिट्टी का बन है, ऐसा कोई नहीं कहता है। असल में घड़े में मिट्टी की ही शकल है, मिट्टी का ढेला ही घड़े के रूप में बदला है। कुम्हार के योग व उपयोग मात्र निमित्त हैं इसी तरह तीर्थ स्वरूप जिन प्रतिमाएँ केवल निमित्त हैं, उनके द्वारा अपने शुद्ध आत्मा के सदृश परमात्मा अरहंत या सिद्ध का स्मरण हो जाता है। वास्तव में वे क्षेत्र, प्रतिमा व मन्दिर सब

अचेतन जड़ हैं। तो भी चेतन के स्मरण कराने के लिए प्रबल निमित्त हैं, इसलिए उनकी भक्ति के द्वारा परमात्मा की भक्ति की जाती है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी विचार नहीं करता है कि असली बात क्या है। वह मंदिर व मूर्ति को ही देव मानकर पूजता है इससे आगे विचार नहीं करता है कि प्रतिमा तो अरहन्त व सिद्धपद के ध्यानमय भाव का चित्र है। उस भाव की स्थापना है। साक्षात् देव यह नहीं है।

तथा भक्ति करते हुए भी वह भक्त उन्हीं के गुणानुवाद करता है जिनकी वह मूर्ति है। वह कभी भी पाषाण की या धातु की प्रशंसा नहीं करता है तो भी अन्तरंग में विचार यही करता है कि जिसकी स्तुति कर रहा हूँ वह देव कहाँ है। वह इस रहस्य तक नहीं पहुँचता है कि उसी का आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा है। तीन शरीरों के भीतर यही साक्षात् देव विराजमान हैं। मैं ही परमात्मा हूँ। यह ज्ञान यह श्रद्धान व ऐसा ही परिणमन बेचारे मिथ्यादृष्टि जीव को नहीं होता है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि सदा ही जानता है व सदा ही अनुभव करता है कि जब मैं अपने भीतर शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से देखता हूँ तो मुझे मेरा आत्मा ही परमात्मा जिनदेव दिखता है। मुझे अपने ही भीतर आपको आप से ही देखना चाहिए। यही आत्मदर्शन निर्वाण का उपाय है। कोई सिंह की मूर्ति को साक्षात् सिंह मानकर भय करे कि यह सिंह मुझे खा जायेगा तो उसको अज्ञानी ही कहा जायेगा। ज्ञानी जानता है कि सिंह की मूर्ति सिंह का आकार, उसकी क्रूरता व भयंकरता दिखाने के लिये मात्र साधन है, साक्षात् सिंह नहीं है, इससे भय करने की जरूरत नहीं है। जहाँ साक्षात् सिंह का योग नहीं है वहाँ सिंह का स्वरूप दिखाने को सिंह की मूर्ति परम सहायक है। शिष्यों को जो सिंह के आकार से व उसकी भयंकरता से अनभिज्ञ हैं, सिंह की मूर्ति सिंह का ज्ञान कराने के लिये प्रयोजनवान है।

इसी तरह जब तक अपने भीतर परमात्मा का दर्शन न हो तब तक यह जिन- मूर्ति परमात्मा का दर्शन कराने के लिए निमित्त कारण है। मूर्ति को मूर्ति मानना, परमात्मा न मानना ही यथार्थ ज्ञान है। व्यवहार के भीतर जो मगन रहते हैं वे मूल तत्त्व को नहीं पहचानते हैं। यहाँ पर आचार्य ने मूलतत्त्व पर ध्यान दिलाया है कि 'हे योगी भीतर देख, निश्चित होकर भीतर ध्यान लगा। तुझे राग- द्वेष के अभाव होने पर व समभाव की स्थिति प्राप्त होने पर परमात्मा का लाभ होगा।' व्यवहार वास्तव में अभूतार्थ व असत्यार्थ है जैसा मूल पदार्थ है वैसा नहीं कहता है।

व्यवहार में जीव नारकी, पशु, मनुष्य, देव कहलाता है। निश्चय से यह कहना असत्य

है। आत्मा न तो नारकी है, न पशु है, न मनुष्य है, न देव है। शरीर के संयोग से व्यवहारनय के व्यवहार चलाने को भेद कर दिये हैं। जैसे तलवार लोहे की होती है। सोने की म्यान में तो सोने की तलवार, चाँदी की म्यान में चाँदी की तलवार, पीतल की म्यान में पीतल की तलवार कहलाती है - यह कहना सत्य नहीं है। सब तलावारें एक ही हैं। उनमें भेद करने के लिये सोना, चांदी व पीतल की तलवार ऐसा कहना पड़ता है, जो भेदरूप कथन सुनकर भी तलवार को एक रूप ही देखता है। सोना, चांदी व पीतल को नहीं देखता है। सोना, चांदी, पीतल की तो म्यान देखता है वही ज्ञानी है। इसीतरह जो अपने देह मन्दिर में विराजमान परमात्मा देव को ही आप देखता है, आपको मानस्वरूप नहीं देखता है। मानव तो शरीर है आत्मा नहीं है। वही ज्ञानी है।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है :-

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ।।५।।
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।।७।।

भावार्थ- निश्चयनय यथार्थ वस्तु को कहता है, व्यवहार नय वस्तु को यथार्थ नहीं कहता है, इसलिए सर्वज्ञदेव निश्चय को भूतार्थ व व्यवहार को अभूतार्थ कहते हैं। बहुधा सर्व ही संसारी इस भूतार्थ निश्चय के ज्ञान से दूर हैं। जिस बालक ने सिंह नहीं जान है वह बिलाव को ही सिंह जान लेता है, क्यों बिलाव देखकर उसे सिंह कहा गया था, उसी तरह जो निश्चयतत्त्व को नहीं जानता है वह व्यवहार ही को निश्चय मान लेता है। वह कभी भी सत्य को नहीं पाता है।

दोहा ४६

धर्म रसायन को पीने से अमर होता है

जइ जर- मरण- करालियउ तो जिय धम्म करेहि ।
धम्म- रसायणु पियहि तुहुँ जिम अजरामर होहि ।।

अन्वयार्थ- **(जिय)** हे जीव ! **(जइ जर- मरण- करालियउ)** यदि तू जरा व मरण के दुःखों से भयभीत है **(तो धम्म करेहि)** तो धर्म कर **(तुहुँ धम्मरसायणु पियहि)** तू धर्म रसायन को पी **(जिम अजरामर होहि)** जिससे तू अजर- अमर हो जावे।

भावार्थ- मनुष्य गति को लक्ष्य में लेकर कहा है कि यहाँ जरा व मरण के भयानक दुःख हैं। जब जरा आ जाती है, शरीर शिथिल हो जाता है, अपने शरीर की सेवा स्वयं करने को असमर्थ हो जाता है, इन्द्रियों में शक्ति घट जाती है, आँख की ज्योति कम हो जाती है, कानों की सुनने की शक्ति कम हो जाती है, दाँत गिर जाते हैं, कमर टेढ़ी हो जाती है, हाथ- पाँव हिलने लगते हैं, खाने- पीने में कष्ट पाता है, चलने- बैठने में पीड़ा पाता है।

इच्छानुसार समय पर भोजन पान नहीं मिलता है। अपने कुटुम्बीजन भी आज्ञा उल्लघंन करने लग जाते हैं। शरीर में विषयों के भोग करने की शक्ति घट जाती है, परन्तु भोग की तृष्णा बढ़ जाती है। तब चाह की दाह से जलता है, गमन नहीं कर पाता है, रात- दिन मरण की भावना भाता है। जरा महान दुःखदायी मरण की दूती है, शरीर की दशा क्षणभंगुर है, युवावय थोड़े काल रहती है। फिर अचानक बुढ़ापा आ घेरता है तब एक- एक दिन वर्ष के बराबर बीतता है।

मरण का दुःख भी भयानक होता है। मरने के पहले महान कष्टदाई रोग हो जाता है तब महान वेदना भोगता है। असमर्थ होकर कुछ भी कह सुन नहीं सकता है। जब तक शरीर का ग्रहण है तब तक जन्म- जरा- मरण के भयानक दुःखों को सहना पड़ेगा। मानव जन्म के दुःखों से पशुगति के महान दुःख हैं, जहाँ सबलों के द्वारा निर्बल बध किये जाते हैं। पराधीनपने एकेन्द्रियादि जन्तुओं को महान शारीरिक पीड़ा सहनी पड़ती है।

आगम के द्वारा नरक के असहनीय कष्ट तो विदित ही है। देवगति मे मानसिक कष्ट महान है, ईर्षाभाव बहुत है, देवियों की आयु बहुत अल्प होती है तब देवों को वियोग कर घोर कष्ट सहना पड़ता है। विषय भोग करते हुए तृष्णा की दाह बढ़ाकर रात- दिन आकुलित रहते हैं, चारों ही गतियों में कर्म का उदय है। इन गतियों में भ्रमण से रहित होने के लिये कर्म के क्षय करने की जरूरत है। विवेकी मानव को भले प्रकार निश्चय कर लेना चाहिए कि संसार- सागर भयानक दुखरूपी खारे पानी से भरा है; उससे पार होना ही उचित है। कर्मों का क्षय करना ही उचित है, आत्मा का भ्रमण रोकना ही उचित है। पंचमगति मोक्ष प्राप्त करना ही उचित है, अजर- अमर होना ही उचित है, इस श्रद्धान के होने पर ही मुमुक्षु जीव संसार के क्षय के लिये धर्म का साधन करता है।

धर्म उसे ही कहते हैं जो संसार के दुःखों से निकालकर मोक्ष के परम पद में धारण करें। वह धर्म रत्नत्रय स्वरूप हैं। रत्नत्रय के भाव से ही नवीन कर्मों का संवर होता है व पुरातन कर्मों की

अविपाक निर्जरा होती है। यह रत्नत्रय निश्चय से एक आत्मीक शुद्धभाव है, आत्म- तल्लीनता है, स्वसंवेदन है, स्वानुभव है, जहाँ अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वभाव का श्रद्धान है, ज्ञान है व उसमें ही थिरता है। इसको आत्मदर्शन कहते हैं, यही एक धर्म रसायन है, अमृतरस का पान है, जिसके पीने से स्वाधीनपने परमानन्द का लाभ होता है, कर्म कटते हैं और यह शीघ्र ही कर्म से मुक्त हो, शुद्ध, पवित्र, निर्मल, पूर्ण, निज स्वभावमय होकर सदा ही वीतरागभाव में गमन रहता है फिर राग, द्वेष, मोह के न होने से पाप- पुण्य का बन्ध नहीं होता है, इससे फिर चार गति में से किसी भी गति में नहीं जाता है, सदा के लिए अजर- अमर हो जाता है।

शुद्धोपयोग धर्म है। कषाय के उदय सहित शुभोपयोग धर्म नहीं है। अशुभ से बचने के लिये शुभोपयोग करना पड़ता है तथापि उसे बन्ध का कारण मानना चाहिए। मोक्ष का उपाय एकमात्र स्वानुभवरूप शुद्धोपयोग है। कषाय की कणिका मात्र भी बन्ध की कारक है।

श्री बृहत् सामायिक पाठ में कहा है :-

पापाऽनोकुहसंकुले भववने दुःखादिभिर्दुर्गमे,
यैरज्ञानवशः कषायविषयैस्त्वं पीडितोऽनेकधा।
रे तान् ज्ञानमुपेयं पूतमधुना विध्वंसयाऽशेषतो,
विद्वांसो न परित्यजंति समये शत्रूनऽहत्वा स्फुटं ॥६५॥

भावार्थ- यह संसार वन दुःखों से भरा है, उसका पार पाना कठिन है। पाप के वृक्षों से पूर्ण है। यहाँ कषाय विषयों से तू अज्ञानी अनेक प्रकार से पीड़ित किया जा रहा है, अब तू शुद्ध आत्मज्ञान पाकर उन कषाय विषयों को पूर्णपने नाश कर डाल। विद्वान लोग अवसर पाकर शत्रुओं को बिना मारे नहीं छोड़ते हैं।

श्री पद्मनन्दि धम्मरसायण में कहते हैं :-

बुहजणमणोहिरामं जाइजरामरणदुक्खणासयरं
इहपरलोयहिज (द) त्थं तं धम्मरसायणं वोच्छं ॥२॥

भावार्थ- मैं उस धर्मरसायण को बताऊँ जिसके पीने से ज्ञानी जीवों के मन में आनन्द होगा व जन्म, मरण के दुखों का क्षय होगा व इस लोक और परलोक दोनों में हित होगा यह जब तक जीवेगा परमानन्द भोगेगा, परलोक में शीघ्र ही सिद्ध होकर सदा सुखी रहेगा।

दोहा ४७

बाह्य क्रिया में धर्म नहीं है

धम्मु ण पढियइँ होइ धम्मु ण पोत्था- पिच्छियइँ ।
धम्मु ण मढिय- पएसि धम्मु ण मत्था- लुचियइँ ।।

अन्वयार्थ- (पढियइँ धम्मु ण होइ) शास्त्रों के पढ़ने मात्र से धर्म नहीं हो जाता **(पोत्था- पिच्छियइँ धम्मु ण)** पुस्तक व पीछी रखने मात्र से धर्म नहीं होता **(मढिय- पएसि धम्मु ण)** किसी मठ में रहने से धर्म नहीं होता **(मत्था- लुचियइँ धम्मु ण)** केशलोंच करने से भी धर्म नहीं होता।

भावार्थ- जिस धर्म से जन्म, जरा, मरण के दुःख मिटें, कर्मों का क्षय हो यह जीव स्वाभाविक दशा को पाकर अजर- अमर हो जावे, वह धर्म आत्मा का निज स्वभाव है। जो सर्व परपदार्थों से वैराग्यवान होकर अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा व उसका ज्ञान रखकर उसी के ध्यान में एकाग्र होगा वही निश्चय रत्नत्रयमयी धर्म को या स्वानुभव को या शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त करेगा।

जो कोई उस तत्त्व को ठीक- ठीक न समझ करके बाहरी क्रिया मात्र व्यवहार को ही करे व माने कि मैं धर्म का साधन कर रहा हूँ, उस को समझाने के लिए यहाँ कहा है कि ग्रन्थों के पढ़ने से ही धर्म न होगा। ग्रन्थों का पठन- पाठन इसलिए उपयोगी है कि जगत के पदार्थों का, जीव व अजीव तत्त्व का ठीक- ठीक ज्ञान हो जावे तथा भेदविज्ञान की प्राप्ति से अपने भीतर शुद्ध तत्त्व की पहचान हो जावे।

इस कार्य के लिये शब्दों का मनन आवश्यक है। यदि शुद्धात्मा का लाभ न करे और केवल शास्त्रों का पाठी महान विद्वान व वक्ता होकर धर्मात्मा होने का अभिमान करे तो यह सब मिथ्या है। इसी तरह कोई बहुत पुस्तकों का संग्रह करे या पीछी रखकर साधु य क्षुल्लक श्रावक हो जावे या केशों में लोंच करे या एकांत मठ में या गुफा में बैठे परन्तु शुद्धात्मा की भावना न करे, बाहरी मुनि या श्रावक के भेष को ही धर्म मान ले तो यह मानना मिथ्या है। शरीर के आश्रय भेष केवल निमित्त है, व्यवहार हैं, धर्म नहीं है।

व्यवहार क्रियाकांड से या चारित्र से रागभाव या शुभभाव होने से पुण्यबंध का हेतु है,

परन्तु कर्म की निर्जरा व संवर का हेतु नहीं है। जहाँ तक भावों में शुद्ध परिणमन नहीं होता है वहाँ तक धर्म का लाभ नहीं है। मुमुक्षु जीव को यह बात दृढ़ता से श्रद्धान में रखनी चाहिए कि भाव की शुद्धि ही मुनि या श्रावक धर्म है। बाहरी त्याग या वर्तन अशुभ भावों से व हिंसादि पांच पापों से बचने के लिये है व मन को चिंता से रहित निराकुल करने के लिये है।

अतएव कितना भी ऊँचा बाहरी चारित्र कोई पाले व कितना भी अधिक शास्त्र का ज्ञान किसी को हो तो भी वह निश्चय धर्म के बिना सार रहित है, चावल रहित तुषमात्र है, पुण्यबंध कराकर संसार भ्रमण बढ़ानेवाला है। जितने अंश वीतराग- विज्ञानमयी भाव का लाभ हो उतना ही यथार्थ धर्म हुआ समझना चाहिए। बाहरी मन वचन काय की क्रिया से सन्तोष मानकर धर्मात्मापने का अहंकार नहीं करना चाहिए।

श्री समयसारकलश में कहा है :-

एवं ज्ञानस्य सुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ।।२३८।।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ।।२३९।।

भावार्थ- शुद्ध ज्ञान आत्मा का है, उसके यह पुद्गलमय देह नहीं है, इसलिए ज्ञाता पुरुष का देह के आश्रित भेष व व्यवहार चारित्र मोक्ष का कारण नहीं है। दर्शन ज्ञान चारित्र तीन रूप ही एक ही आत्मा का तत्त्व है, अतः मोक्ष के अर्थी को सदा ही एक स्वरूप मोक्षमार्ग ही सेवन करने योग्य है।

श्री बृहत् सामायिक पाठ में कहते हैं :-

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाऽधिकश्रीरहं,
मान्योऽहं गुणवानहं विभुरहं पुसामहमग्रणीः ।
इत्यात्मन्नपहायदुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनां,
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्त्वममलं नैःश्रेयसी श्रीर्यतः ।।६२।।

भावार्थ- हे आत्मन् ! तू इस पाप बंधकारक कल्पना को छोड़, यह अहंकार न कर कि मैं शूर हूँ, बुद्धिमान हूँ, चतुर हूँ, सर्व से अधिक लक्ष्मीवान हूँ, माननीय हूँ, गुणवान हूँ, समर्थ हूँ या सर्व मानवों में अग्र हूँ, मुनिराज हूँ, और निरन्तर निर्मल आत्मतत्त्व का ही ध्यान कर इसी से अनुपम मोक्ष लक्ष्मी का लाभ होगा ।।

दोहा ४८

राग- द्वेष त्याग कर आत्मस्थ होना धर्म है

राय- रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ ।
सो धम्मु वि जिण- उत्तियउ जो पंचम गइ णेइ ।।

अन्वयार्थ- (राय-रोस बे परिहरिवि) राग- द्वेष दोनों को छोड़कर वीतराग होकर **(जो अप्पाणि वसेइ)** जो अपने भीतर आत्मा में वास करता है, आत्मा में विश्राम करता है **(सो धम्मु जिण वि उत्तियउ)** उसी को जिनेन्द्र ने धर्म कहा है **(जो पंचम गइ णेइ)** यही धर्म पंचमगति मोक्ष में ले जाता है।

भावार्थ- धर्म आत्मा का निज स्वभाव है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमय आत्मा का यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान तथा उसी में थिरता अर्थात् एक स्वात्मानुभव धर्म है। राग द्वेष की पवनों से जब उपयोग चंचल होता है, तब स्वभाव विकारी हो जाता है।

इसलिए यहाँ यह उपदेश है कि राग द्वेष को त्यागकर अपने ही आत्मा के भीतर विश्राम करो, आत्मा ही में मग्न रहो, आत्मा के ही उपवन में रमण करो तब वहाँ बन्धनाशक, परमानन्द दायक, मोक्षकारक धर्म स्वयं मिल जायेगा। धर्म अपने ही पास है, कहीं बाहर नहीं है जहाँ से इसे ग्रहण किया जावे। अतएव पर से उदासीन होकर, वीतराग होकर, समभावी होकर अपनी आत्मा में इसे देखना चाहिए।

राग- द्वेष के मिटाने का एक उपाय तो यह है कि जगत को व्यवहार दृष्टि से देखना बंद कर निश्चय दृष्टि से देखना चाहिए तब जीवादि छहों द्रव्य सब अपने- अपने स्वभाव में दिखेंगे, निश्चल दिखेंगे, सर्व ही जीव एक समान शुद्ध दिखेंगे। तब किसी जीव में राग व किसी में द्वेष करने का कारण ही मिट जायेगा। व्यवहार दृष्टि में शरीर सहित अशुद्ध आत्माएं विचित्र प्रकार की दिखती है तब मोही जीव जिनसे अपने विषय कषाय पुष्ट होते हैं उनको राग भाव से व जिनसे विषय कषायों के पोषने में बाधा होती है उनको द्वेष भाव से देखता है, परन्तु जब आप भी वीतरागी व सर्व पर आत्माएं भी वीतरागी दिखती हों, तब समभाव स्वयं आ जाता है।

पुद्गल की रचना को जब व्यवहार से देखा जावे तब नगर, ग्राम, मकान, वस्त्र, आभूषण आदि नाना प्रकार के दिख पड़ेंगे, परन्तु जब निश्चयनय से पुद्गल को देखा जावे तो वे सब

परमाणुरूप एकाकार दिखेंगे, तब वीतरागी देखनेवाले के भीतर राग- द्वेष के हेतु नहीं हो सकते। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि राग द्वेष के विकार मेटने में परम सहायक है। इसलिए राग- द्वेष मेटने का यह उपाय है कि व्यवहार रूप विचित्र जगत को साक्षीभूत होकर ज्ञाता दृष्टा होकर देखा जावे।

सर्व ही द्रव्य अपने- अपने स्वभाव में परिणमन करते हैं। अशुद्ध आत्माएँ आठ कर्मों के उदय को भोगते हुए नाना प्रकार सुख या दुःखमय या नाना प्रकार राग- द्वेषमय परिणमन करते हैं, कर्मचेतना व कर्मफल- चेतना में उलझे दिखते हैं, तब उनको कर्म को उदय के आधीन देखकर राग- द्वेष नहीं करना चाहिए। कर्मों के संयोग से अपनी भी विभाव दशा को देखकर विपाक- विचय धर्म ध्यान करना चाहिए व अन्य संसारी जीवों की दशा देखकर वैसा ही कर्म का नाटक विचारना चाहिए। सुख व दुःख अपने में व दूसरों में देखकर हर्ष व विवाद नहीं करना चाहिए। समभाव से कर्म के विचित्र नाटक रूप जगत को देखने का अभ्यास करना चाहिए।

तीसरा उपाय यह है कि सम्यग्दर्शन के प्रताप से विषय भोगों की कांक्षा या उनमें उपादेय बुद्धि मिटा देनी चाहिए। आत्मानन्द का प्रेमी होकर उसी के लिये अपने स्वरूप की भावना में लगे रहना चाहिए। कर्म के उदय से सुख या दुख आ जाने पर समभाव से या हेय बुद्धि से, अनासक्ति से भोग लेना चाहिए। सम्यग्ज्ञान ही राग द्वेष के विकार के मिटाने का उपाय है।

राग- द्वेष कषाय के उदय से होते हैं, तब सत्ता में बन्ध प्राप्त कषाय की वर्गणाओं का अनुभाग सुखाने के लिए निरन्तर आत्मानुभव का व वैराग्य का मनन करते रहना चाहिए तब उदय मन्द होता जायेगा, राग- द्वेष की कालिमा घट ही जायेगी। इस तरह ज्ञानी को उचित है कि जिस तरह हो वीतराग होने का व समभाव पाने का उपाय करना चाहिए।

श्री तत्त्वसार में देवसेनाचार्य कहते हैं :-

रायादिया विभावा बहिरंतर दुहवियप्प मुत्तूणं।
एयग्गमणो झायहि णिरञ्जणं णिययअप्पाणं ॥१८॥

भावार्थ- रागादि विभावों को व बाहरी व भीतरी दोनों प्रकार के विकल्पों को त्यागकर एकाग्र मन हो, सर्व कर्ममल रहित निरञ्जन अपने ही आत्मा को ध्यावे।

श्री आत्मानुशासन में कहा है :-

मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥१७७॥

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान् मूलांकुराविव ।
तस्मात् ज्ञानाग्निना दाहचं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा।।१८२।।

भावार्थ- सम्यग्ज्ञान का बार- बार विचार कर, पदार्थों को जैसे वे हैं वैसा ही उनको देखकर प्रीति व अप्रीति मिटाकर, आत्मज्ञानी मुनि आत्मा को ध्यावे। जैसे बीज से मूल व अंकुर होते हैं वैसे मोह के बीज से राग- द्वेष होते हैं इसलिए जो राग द्वेष को जलाना चाहें, उसे ज्ञान की अग्नि से इस मोह को जलाना चाहिए।

दोहा ४९

आशा- तृष्णा ही संसार भ्रमण का कारण है

आउ गलइ णवि मणु गलइ णवि आसा हु गलेइ ।
मोहु फुरइ णवि अप्प- हिउ इम संसार भमेइ ।।

अन्वयार्थ - (आउ गलइ) आयु गलती जाती है **(मणु णवि गलइ)** परन्तु मन नहीं गलता है **(आसा णवि गलेइ)** और न आशा तृष्णा ही गलती है **(मोहु फुरइ)** मोहभाव फैलता रहता है **(अप्पहिउ णवि)** किन्तु अपने आत्मा का हित करने का भाव नहीं होता है **(इम संसार भमेइ)** इस तरह यह जीव संसार में भ्रमण किया करता है।

भावार्थ- यहाँ आचार्य ने संसार भ्रमण का कारण बताया है। यह मानव शरीर आयुकर्म के आधीन रहता है। जबसे यह जीव इस मनुष्य गति में आता है, तब से पूर्व बाँधा मनुष्य आयुकर्म समय- समय झड़ता रहता है। सो जब सब झड़ जाता है तब जीव को मानव देह छोड़ना पड़ता है।

चारों गतियों में मानव गति बहुत उपयोगी है क्योंकि निर्वाण के योग्य संयम, तप, ध्यानादि इसी मानव गति से ही हो सकते हैं, तो भी अज्ञानी मोही जीव आत्मा का भला नहीं करता है। यह प्राणी रात- दिन शरीर के मोह में फँसा रहता है। मैंने ऐसे ऐसे भोग भोगे थे, ऐसा भोग भोग रहा हूँ, ऐसे भोग भोगने हैं, इन्द्रियों के विषयों को इकट्ठा करने की रक्षा करने की चिंता मन में सदा रहती है। इष्ट विषयों के वियोग से शोक होता है। जो स्त्री, पुत्र, मित्र हैं, विषयों के भोग हैं, सहायक हैं उनके बने रहने की व अपनी आज्ञा में चलाने की भावना भाता है। जो कोई विषयों के भोग के बाधक हैं उनके बिगाड़ने की मन में चिन्ता रहती है। रात दिन मन इष्ट वियोग, अनिष्ट

संयोग, पीड़ा, निदानजनित आर्तध्यान में या हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी, परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान में मगन रहता है।

मन को थिर करके मोही यह विचार नहीं करता है कि मेरा सच्चा हित क्या है। आशा तृष्णा का रोग विषयों के भोग करते रहने पर भी दिन पर दिन बढ़ता जाता है। बहुत से प्राणियों के पाप के उदय से इच्छित भोगों का लाभ नहीं होता है। इससे तृष्णा कभी नहीं मिटती। जिनको पुण्य के उदय से इच्छित भोगों का लाभ व भोग हो जाता है उनके भीतर कुछ देर सन्तोष मालूम होता है। शीघ्र ही चाह की मात्र और अधिक हो जाती है।

चक्रवर्ती के समान संपदा धारी मानव भी नित्य इच्छित भोग भोगते हुए भी कभी सन्तोषी व तृप्त नहीं होता है। जैसे- जैसे शरीर पुराना पड़ता जाता है वैसे वैसे तृष्णा बढ़ती जाती है। संसार का मोह सदा बना रहता है। परलोक में सुन्दर भोग मिलें, स्वर्ग में जाऊँ, मनोज्ञ देवियों के साथ कल्लोल करूँ ऐसी तृष्णा को धरकर मोही मानव दान, पूजा, जप, तप आदि साधु का या श्रावक का चारित्र पालता है। मिथ्यात्व के विष को न त्यागता हुआ संसार का प्रेमी जीव मरकर पुण्य के उदय से देव या मानव, पाप के उदय से तिर्यंच या नारकी हो जाता है। वहाँ फिर तृष्णा से प्रेरित हुआ राग, द्वेष, मोह करता है। आयु पूरी कर नवीन आयु बाँधी थी, उसके अनुसार फिर दूसरी गति को चला जाता है।

इस तरह अज्ञान व तृष्णा के कारण यह अनादि से चार गतिरूप संसार में भ्रमण करता आया है व जब तक आत्महित को नहीं पहिचानेगा, जबतक सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं करेगा, तब तक भ्रमण ही करता रहेगा। इसलिए बुद्धिमान मानव को अपने आत्मा के ऊपर करूणाभाव लाकर उसको जन्म जरा मरणादि दुखों से बचाने के लिये धर्म का शरण धारणा करना चाहिए। धर्म ही उद्धार करनेवाला है, परम सुख का देने वाला है।

श्री स्वयंभूस्तोत्र में कहा है :-

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा -
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्त,
मित्यात्मवान्विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥८२॥

भावार्थ- तृष्णा की ज्वालाएँ जलती रहती हैं, इच्छित इन्द्रियों के भोगों के भोगने पर भी उनकी

शांति नहीं होती है, किन्तु ज्वालाएं बढ़ती हैं। कुछ शरीर ताप भोगने से उस समय मिटता है, परन्तु शीघ्र ही बढ़ जाता है। यों समझकर आत्मज्ञानी स्वामी कुन्थुनाथ भगवान इन्द्रियों के विषय सुख से विरक्त हो गये।

श्री आत्मानुशासन में कहा है :-

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि ।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छति जीवितम् ।।१६९।।

भावार्थ- मनुष्य सदा ही शरीर को पोषते हैं व विषय भोगों को भोगते रहते हैं। इससे बढ़कर और खोटा कृत्य क्या होगा। वे विष पीकर जीवन चाहते हैं। वे भव- भव में कष्ट पायेंगे।

दोहा ५०

आत्मप्रेमी ही निर्वाण का पात्र है

जेहउ मणु विसयहँ रमइ तिसु जइ अप्प मुणेइ ।
जोइउ भणइ हो जोइयहु लहु णिव्वाणु लहेइ ।।

अन्वयार्थ- **(जोइउ भणइ)** योगी महात्मा कहते हैं **(हो जाइयहु)** हे योगीजनो ! **(मणुजेहउ विसयहँ रमइ)** मन जैसा विषयों में रमण करता है। **(जइ तिसु अप्प मुणेइ)** यदि वैसा यह मन आत्मा के ज्ञान में रमण करे तो **(लहु णिव्वाणु लहेइ)** शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर ले।

भावार्थ- योगीन्द्राचार्य योगीगणों को कहते हैं कि मन को गाढ़ भाव से अपने आत्मा के भीतर रमाना चाहिए। तब वीतरागता के प्रकाश से शीघ्र ही निर्वाण का लाभ होगा। आत्मवीर्य के प्रयोग से ही हर एक काम का पुरुषार्थ होता है। अज्ञानी जीव पाँचों इन्द्रियों के विषयों के भीतर जैसी आसक्ति से रमण करता है वैसी आसक्ति से ज्ञानी जीव अपने आत्मा के रमण में करता है, विषयों के रमण से मन को बिल्कुल फेर लेता है

स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत हो हाथी उन्मत्त हो जाता है, पकड़ा जाता है तो भी विषय की आसक्ति को नहीं छोड़ता है। रसना इन्द्रिय के वश हो मत्स्य जाल में पकड़ लिया जाता है। घ्राण इन्द्रिय के वश हो भ्रमर कमल में बन्द होकर प्राण दे देता है। चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत होकर पतंग दीपक की ज्योति में भस्म हो जाता है। कर्ण इन्द्रिय के वश हो मृग जंगल में पकड़ लिया जाता है। जैसी आसक्ति इन जीवों को इन्द्रियों के भोगों में होती है वैसी आसक्ति ज्ञानी को आत्मा के

रमण में रखनी चाहिए। दिन- रात आत्मा का ही स्मरण करना चाहिए। आत्मा का ही स्वाद लेना चाहिए। विषय- कषाय का स्वाद नहीं लेना चाहिए।

आत्मा के रस में ऐसा रसिक हो जाना चाहिए कि मान- अपमान, लाभ- अलाभ, कांच- कंचन, स्त्री- पुरुष, जीवन- मरण, दुःख- सुख में समान भाव बना रहे। जैसे धतूरा खानेवाला हर स्थान में पीत रंग देखता है, वैसे आत्मप्रेमी हर स्थान में आत्मा को ही देखता है। शुद्धनिश्चयनय से उसे जैसे अपना परमात्मरूप शुद्ध दिखता है, वैसे हर एक आत्मा परमात्मरूप शुद्ध दिखता है। उसकी तीक्ष्णदृष्टि से भेदज्ञान के प्रयत्न से पुद्गलादि पाँच द्रव्यों का दर्शन छिप जाता है, केवल आत्मा ही लोक भर में दिखता है तब यह लोक एक शुद्ध आत्मीक सागर बन जाता है। उसी आत्मसागर का वह आत्मज्ञानी एक महामत्स्य हो जाता है। उसी आत्मसागर में वास करता है, उसी में कल्लोल करता है, उसी आत्मीक जल का पान करता है, उसी के आनन्द में मगन रहता है।

ज्ञानी जीव ऐसा आत्मरसिक हो जाता है कि तीन लोक की विषय सम्पदा इसको जीर्ण तृण के समान दिखती है। यह कारण है जो बड़े- बड़े सम्राट राज्यविभूति व स्त्री - पुत्रादि सब कुटुम्ब का त्याग कर परिग्रह के संयोग से रहित हो, एकाकी वन मे निवास करते हैं, और निर्मोही हो, बड़े प्रेम व उत्साह से आत्मीक रस के स्वाद में तन्मय हो जाते हैं, विषयों की तरफ से परम उदासीन हो जाते हैं। मन को सर्व ओर से रोककर आत्मा के रस में ऐसा मगन कर देते हैं कि वह मन उसी तरह लोप हो जाता है जैसे पानी डूबकर लवण की डली लोप हो जाती है, मन मर जाता है, केवल आत्मा ही आत्मा रह जाता है। ऐसा आत्मस्थ योगी परिषहों के पड़ने पर भी विचलित नहीं होता है। शीघ्र ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपकश्रेणी पर चढ़कर घातीय कर्मों का एक अन्तर्मुहूर्त में क्षय करके केवलज्ञानी हो जाता है। उसी शरीर से शरीररहित होकर सिद्धपद का लाभ कर लेता है।

इष्टोपदेश में पूज्यपाद महाराज कहते हैं :-

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत् ।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ।।४९।।
संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः ।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितं ।।२२।।

परीषहाद्यविज्ञानादास्त्रवस्य निरोधिनी ।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ।।२४।।

भावार्थ- अज्ञान से रहित श्रेष्ठ ज्ञानमयी महान ज्योति भीतर प्रकाशमान है। मोक्ष के अर्थी को उचित है कि उसी आत्मज्योति के सम्बन्ध में प्रयत्न करे, उसी की चाह करे व उसी का दर्शन करे। पाँच इन्द्रियों के समूह को संयम में लाकर चित्त को एकाग्र कर आमज्ञानी को उचित है कि वह आत्मा में ही स्थित होकर आत्मा ही के द्वारा अपने आत्मा का ध्यान करे। जब अभ्यास करते- करते आत्मीक योग इतना बढ़, जाये क्षुधा, तृषा, दंशमशकादि परिषहों की तरफ लक्ष्य ही न रहे, तब आस्रव का निरोध होकर शीघ्र ही कर्मों की निर्जरा होने लगती है और वह योगी कर्मरहित परम पुरुष होता है।

दोहा ५१

शरीर को नरक - घर जानो

जेहउ जज्जरू णरय- धरू तेहउ बुज्झि शरीरू ।
अप्पा भावहि णिम्मलउ लहु पावहि भवतीरू ।।

अन्वयार्थ- **(जेहउ णरय- धरू जज्जरू)** जैसा नरक का वास आपत्तिओं से जर्जरित है- पूर्ण है **(तेहउ सरीरू बुज्झि)** तैसे ही शरीर के वास को समझ **(णिम्मलउ अप्पा भावहि)** निर्मल आत्मा की भावना कर **(लहु भवतीरू पावहि)** जिससे शीघ्र ही संसार से पार हो।

भावार्थ- शरीर को नरक की उपमा दी है। जैसे नरक में सर्व अवस्था खराब व ग्लानिकारक होती है, मूत्र दुर्गंध मय, पानी खारा, हवा अंगछेदक, वृक्ष के पत्ते तलवार की धार के समान, वन विकराल, नारकी परस्पर दुःखदायी है। नरकवास में क्षण मात्र भी साता नहीं। भूख, प्यास की बाधा मिटती नहीं। आकुलता का प्रवाह सदा बहता है। नरक का वास किसी भी तरह सुखकारी नहीं है। नारकी हर समय नरकवास से निकलना चाहते हैं परन्तु वे असमर्थ हैं। कर्माधीनपने नरकवास में आयु पर्यंत रहना पड़ता है, छेदन, मारन, पीड़न सहना पड़ता है।

मानव का यह शरीर भी नरक के बराबर है। भीतर मांस, चरबी, खून, हड्डी, वीर्य, मलमूत्र से भरा है। अनेक कीड़े बिलबिला रहे हैं। शरीर के ऊपर से त्वचा को हटा दिया जावे तो स्वयं को इस शरीर से घृणा हो जावे, मक्खियों से व मांसाहारी जन्तुओं से यह वेष्ठित हो जावे। इस शरीर

के भीतर से नव द्वारों के द्वारा मल ही निकलता है। करोड़ों रोम के छेदों से भी मल निकलता है। करोड़ों रोगों का स्थान है। निरन्तर भूख- प्यास से पीड़ित रहता है। भोजन- पानी मिलते हुए भी भूख प्यास का रोग शमन नहीं होता है। शरीर ऐसा गंदा व अशुचि है कि सुन्दर व पवित्र पुष्पमाला, वस्त्राभूषण जलादि शरीर की संगति पाते ही अशुचि हो जाते हैं। शरीर में पाँचों इन्द्रियां होती है, उनको अपने अपने विषय भोगने को भी बड़ी भारी तृष्णा होती है।

इच्छा के अनुसार भोग मिलते नहीं। यदि मिलते हैं तो बराबर बने नहीं रहते हैं। उनके वियोग होने पर कष्ट होता है। नए- नए विषयों की चाहना पैदा होती रहती है। तृष्णा की ज्वाला बढ़ती ही रहती है। उसकी दाह से यहप्राणी निरन्तर कष्ट पाता है। कुटुम्बीजन व स्वार्थी मित्रगण सब अपना अपना ही मतलब साधना चाहते हैं। मतलब के बिना माता- पिता, भाई, पुत्र- पुत्री, भानजे आदि कुटुम्बीजनों का स्नेह नहीं होता है। सब एक दूसरे से सुख पाने की आशा रखते हैं विषयों के भोग में परस्पर सहायता चाहते हैं। यदि उनका स्वार्थ सिद्ध नहीं होता है तो वे ही बाधक व घातक हो जाते हैं।

शरीर में बालकपना पराधीनपने बड़े ही कष्ट से बीतता है। युवापने में घोर तृष्णा को मिटाने के लिये धर्म की भी परवाह न करके उद्यम किया करता है। वृद्धावस्था में असमर्थ होकर घोर शारीरिक व मानसिक वेदना सहता है। इष्टवियोग व अनिष्ट संयोग के घोर कष्ट सहने पड़ते हैं। रात- दिन चिंताओं की चिता में जला करता है। नारकी के समान यह मानव इस शरीर में सदा क्षुभित व दुःखी रहता है।

नरक में विषय भोग की सामग्री नहीं है। मानवगति में विषयों की सामग्री मिल जाती है। उनके भोग के क्षणिक सुख के लोभ में यह अज्ञानी मानव नरक के समान इस शरीर में रहना पसन्द करता है तथा ऐसा उद्यम नहीं करता है जो फिर यह शरीर ही प्राप्त न हो। परोपकारी आचार्य शिक्षा देते हैं कि इस नरकवास के समान शरीर- निवास में मोह करना मूर्खता है।

इस नरदेह से ऐसा साधन हो सकता है जो फिर कहीं भी देह का धारण न हो। निर्वाणरूपी पद का लाभ जिस संयम व ध्यान से होता है वह संयम व ध्यान नरदेह ही में हो सकता है। नारकी जीव संयम का पालन नहीं कर सकते। इसलिए उचित है कि इस शरीर का मोह त्यागा जावे।

इस शरीर को नौकर की भांति योग्य भोजन- पान देकर अपने काम में सहायता योग्य बनाए रखना चाहिए और इसके द्वारा धर्म का साधन करना चाहिए। निज आत्मा को पहचानना

चाहिए। उसके मूल स्वभाव का श्रद्धान करके उसी का निरन्तर मनन करना चाहिए, तब यह कुछ ही काल में उसी भव में या कुछ भवों में मुक्त हो जायेगा, शरीर रहित शुद्ध हो जायेगा। फिर कभी शरीर का संयोग नहीं होगा।

श्री स्वयंभूस्तोत्र में कहा है :-

अजंगमं जगमनेययन्त्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथाऽत्रेति हितं त्वमाख्यः ॥२॥

भावार्थ- हे सुपार्श्वनाथ स्वामी ! आपने यह हितकारी शिक्षा दी है कि यह शरीर जीव का चलाया चलता है, जैसे एक थिर यंत्र किसी मानव के द्वारा चलाने से चलता है। यह घृणा का स्थान भयप्रद है, अशुचि है, नाशवन्त है, दुःखों के ताप को देनेवाला है। इस शरीर से स्नेह करना निरर्थक है, स्वयं आपत्तियों का सामना करना है।

श्री आत्मानुशासन में कहा है :-

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि,
श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलै ।
कर्मारातिभिरायुरूर्ध्वनिगलालग्नं शरीरालयं,
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥५९॥

भावार्थ- हे मूर्ख ! यह तेरा शरीररूपी घर दुष्ट कर्म- शत्रुओं से बनाया हुआ एक कैदखाना है, इन्द्रियों के मोटे पिंजरों से घड़ा गया है, नसों के जाल से वेढ़ा है, रूधिर व मांस से लिप्त है, चर्म से ढका हुआ गुप्त है, आयुकर्म की बेड़ी से जकड़ा पड़ा है। ऐसे शरीर को कारागार जान वृथा ही प्रीति करके पराधीनता के कष्ट न उठा, इससे निकलने का यत्न कर।

दोहा ५२

जगत - प्रपंचो में उलझा प्राणी आत्मा को नहीं पहचानता

धंधइ पडियउ सयल जगि णवि अप्पा हु मुणंति ।
तहिं कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति ॥

अन्वयार्थ- (सयल जगि धंधइ पडियउ) सब जग के प्राणी अपने- अपने धन्धों में, लोक-व्यवहार में फँसे हुए है, तल्लीन हैं **(अप्पा हु णवि मुणंति)** इसलिए निश्चय से आत्मा को नहीं

मानते हैं **(तहिं कारणि ए जीव णिव्वाणु ण हु लहंति फुडु)** यही कारण है जिससे ये जीव निर्वाण को नहीं पाते- यह बात स्पष्ट हैं।

भावार्थ- सकल संसार, शरीर में प्राप्त इन्द्रियों के विषयों के तथा भूख प्यास के शमन हेतु आधीन होकर दिन- रात वर्तन किया करता है। अपने अपने शरीर की रक्षा के धंधे में सब मगन हो रहे हैं। एकेन्द्रिय से चार- इन्द्रिय प्राणी तक मनरहित होते हैं तो भी दिन- रात आहार की खोज में रहते हैं, दूसरों से भयभीत रहते हैं, मैथुन भाव में वर्तते हैं, परिग्रह या मूर्छा अपने- अपने शरीर से रहती है। चार संज्ञाएँ आहार, भय, मैथुन, परिग्रह सर्व प्राणियों में पाई जाती है।

मन रहित पँचेन्द्रिय के हित- अहित के विचार करने की शक्ति नहीं है। इन्द्रियों की तृष्णा के प्रेरे हुए व निरन्तर वर्तते रहते हैं। मन सहित पँचेन्द्रियों के भीतर आत्मा व अनात्मा के विवेक होने की शक्ति है, परन्तु ये सैनी प्राणी भी सांसारिक धन्धों में इतने फंसे रहते हैं कि मैं कौन हूँ, मेरा क्या कर्तव्य है इस प्रश्न पर ध्यान ही नहीं देते हैं।

नारकी जीवों का यही धन्धा है कि मार खाना व दूसरों को मारना। वे परस्पर पीड़ा देने में ही लगे रहते हैं। देवगति वाले रागभाव में ऐसे फँसे रहते हैं कि उन्हें नाच, गाना, बजाना, देवियों के साथ रमण, इन रागवर्द्धक धंधों में फँसे रहने के कारण विचार का अवकाश नहीं मिलता हैं। पंचेन्द्रिय सैनी तिर्यंच भी असैनी के समान चार संज्ञाओं के भीतर लगे रहते हैं। पेट की ज्वाला शान्त करने का उद्यम किया करते हैं। मनुष्यों की दशा प्रत्यक्ष प्रगट हैं। वे असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प या विद्याकर्म, सेवाकर्म, पशुपालन आदि अनेक धंधों में लगकर अपने व अपने कुटुम्ब के लिये पैसा कमाते हैं। भोजन- पान का प्रबन्ध करते हैं। स्त्री के साथ रमण करके सन्तानों को जन्म देते हैं। फिर उनके पालन में, उनके पढ़ाने, में उनके विवाहों में, उनके रोगादि निवारण में लगे रहते हैं।

मान कषाय की तीव्रता से मनुष्यों को अपनी नामवरी करने की तीव्र चाह होती है। इसलिए धनादि को संग्रह करके नाना प्रकार के व्यवहार से अपना यश फैलाना चाहते हैं। मानवों में पाँचों इन्द्रियों के भोग की तृष्णा बहुत प्रबल होती है। उनकी तृप्ति के लिये नित्य नये- नये भोग चाहते हैं। उनके लिये अनेक कपट करके भी धन संग्रह करते हैं। धन की व परिग्रह की रक्षा में चिंतित रहते हैं। स्त्री के सम्बन्ध के कुटुम्ब के सम्बन्ध बहुत बढ़ जाते हैं। सम्बन्धियों के जीवन- मरण में व विवाहादि कार्यों में लगे रहते हैं। इतने अधिक कार्यों की चिंता मनुष्यों को रहती है कि एक

दिन के चौबीस घण्टे पूरे नहीं पड़ते हैं। दिन- रात मोह के जाल में फँसे हुए व्याकुल रहते हैं। कभी भी मन को शांत करके मैं कौन हूँ। इस बात पर गम्भीरता से विचार नहीं करते।

कोई परोपकारी गुरु आत्मा के हित की बात सुनाना चाहते हैं तो उनकी तरफ ध्यान नहीं देता है। त्याग की व वैराग्य की बात कटु भासती है। अर्थ व काम पुरुषार्थ में व इन्हीं के लिये पुण्य के लोभ से व्यवहार धर्म के करने में इतना तन्मय रहता है कि निश्चय धर्म की तरफ विचारने का एक मिनट के लिए अवकाश नहीं पाता है। इस तरह प्रायः सारा ही संसार बावला होकर कर्मों को बाँध कर चारों गतियों में भ्रमण किया करता है। संसार से पार होने का उपाय जो आत्मदर्शन है उसका लाभ कभी नहीं कर पाता है।

श्री आत्मानुशासन में कहा है :-

बाल्ये बेत्सि न किञ्चिदप्यपरिपूर्णांगो हितं वाहितं ,
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन्वने यौवने ।
मध्ये वृद्धतृषार्जितुं वसुपशुः क्लिश्नासि कृष्यादिभि,
वृद्धो वार्द्धमृतः क्व जन्मफलिते धर्मो भवेन्निर्मलः ।।८९।।

भावार्थ- बालवय में अंग ही पूरे नहीं बनते तब अज्ञानी होकर अपने हित या अहित का विचार नहीं कर सकता है। जवानी में काम से अन्धा होकर स्त्रीरूपी वृक्ष से भरे वन में भटकता रहता है। मध्यकाल में तृष्णा की वृद्धि करके अज्ञानी प्राणी खेती आदि धन्धों से धन को कमाने में कष्ट पाया करता है। इतने में बुढ़ापा आ जाता है तब अधमरा हो जाता है। भला हम मानव जन्म को सफल करने के लिये निर्मल धर्म को कहाँ करें ? मानव अपना अमूल्य जीवन विषयों के पीछे गमा देता है। आत्महित नहीं करके भव भ्रमण में ही दुःख उठाता है।

दोहा ५३

आत्मज्ञान बिना शास्त्रपाठ निष्फल है

सत्थ पढंतह ते वि जड अप्पा जे णं मुणंति ।
तहिं कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति ।।

अन्वयार्थ- (सत्थ पढंतह जे अप्पा ण मुणंति ते वि जड) शास्त्रों को पढ़ते हुए जो आत्मा को नहीं पहचानते हैं वे भी अज्ञानी हैं **(तहिं कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति)** यही

कारण है कि ऐसे शास्त्रपाठी जीव भी निर्वाण को नहीं पाते हैं, यह बात स्पष्ट है।

भावार्थ- कितने ही विद्वान या स्वाध्याय करनेवाले व्याकरण, न्याय, काव्य, वैद्यक, ज्योतिष, धर्मशास्त्र आदि अनेक विषय के शास्त्र जानते हैं, परन्तु शुद्धनिश्चयनय के विषय पर लक्ष्य नहीं देते, अध्यात्मज्ञान से बाहर रहते हैं। आत्मा ही निश्चय से परमात्मदेव है ऐसा अनुभव उनको नहीं होता है, अतएव वे भी जड़ ही के समान आत्मज्ञान रहित हैं। वे मोक्षमार्ग को पाकर निर्वाण का लाभ भी नहीं कर सकते हैं। जिनवाणी पढ़ने का फल निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करने का प्रयास है। इसी के लिये चारों अनुयोगों के ग्रन्थों को पढ़कर शास्त्रीय विषय को जानकर मुख्यता से यह जानना चाहिए कि यह जगत जीवादि छः द्रव्यों का समुदाय है। हर एक द्रव्य नित्य है तो भी पर्याय की पलटन की अपेक्षा अनित्य है।

जगत भी नित्य - अनित्य स्वरूप अनादि अनंत है। इन छः द्रव्यों में से धर्म, अधर्म, आकाश, काल सदा ही शुद्ध, उदासीन व निश्चल रहते हैं। शुद्ध आत्माएँ भी निश्चल व उदासीन रहती है। संसारी आत्माएँ कर्म- पुद्गलों से संयोग रखती हुई अशुद्ध हैं। कर्मों के उदय से ही चार गतियों में नाना प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं। कर्मों के उदय से ही औदारिक, वैक्रियक आदि शरीर बनते हैं। यह जीव स्वयं ही मन, वचन या काय के वर्तन से कर्मों को ग्रहण करके कषायों के अनुसार उन्हें बाँधता है।

आप ही अपनी राग- द्वेष- मोह की परिणति के निमित्त से एक तरफ बँधता रहता है, दूसरी तरफ कर्मों का फल भोगकर निर्जरा करता रहता है। इस तरह पाप- पुण्य के फल को भोगता हुआ संसार में जन्म, जरा मरण, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग के घोर कष्ट पाता है। इस कष्ट के छूटने का उपाय रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति है जिससे संवर हो, नवीन कर्मों का आना रूके व पुरातन बँधे कर्मों की अविपाक निर्जरा हो। समय के पहले ही बिना फल दिये झड़ जावें, जिससे यह आत्मा कर्म के संयोग से बिलकुल छूटकर मुक्त हो जावे। इस तरह व्यवहारनय से विस्तार रूप जीवादि सात तत्त्वों को भले प्रकार बुद्धि में निर्णय करके उनका स्वरूप श्रद्धा में लावे व यह मान दृढ़ करे कि मुझे शुद्ध होना है। फिर यह समझे कि निश्चय से या द्रव्यदृष्टि से यह मेरा आत्मा शुद्ध है, जल और दूध के समान कर्मों से एकमेक हो रहा है, तथापि जल, दूध दोनों जैसे भिन्न हैं वैसे आत्मा भी सर्व कर्मों से, शरीरों से व रागादि विभावों से भिन्न है।

भेदविज्ञान की कला को प्राप्त करके निश्चय सम्यग्दर्शन के लाभ के लिये नित्य भेदविज्ञान

का मनन करे। एकान्त में बैठकर जगत को व अपने को द्रव्यदृष्टि से देखकर छहों द्रव्यों को अलग अलग शुद्ध देखे, वीतरागता बढ़ाने का उद्यम करे, समभाव लाने का उपाय करे, निरन्तर अध्यात्म का ही मनन करे। बहुत अभ्यास से यह जीव करणलब्धि को पाकर अनन्तानुबन्धी चार कषाय व मिथ्यात्वादि तीन दर्शन मोहनीय को उपशम करके सम्यग्दृष्टि हो सकेगा। तब भीतर से आत्मा का साक्षात्कार हो जायेगा। आत्मानन्द का अनुभव होगा, तब ही मोक्षमार्ग का पता चलेगा। सर्व शास्त्रों के पढ़ने का हेतु सम्यग्दर्शन का लाभ है। यदि इसे नहीं पाया तो, शास्त्रों का पढ़ना कार्यकारी नहीं हुआ।

अनेक जीव व्यवहार शास्त्र में कुशल होकर विद्या का मद करके उन्मत्त हो जाते हैं, कषाय की मलीनता को बढ़ा लेते हैं। वे ख्याति, पूजा या लाभ के प्रेमी होकर सांसारिक विषय- कषाय की पुष्टि के लिये ही ज्ञान का उपयोग करते हैं, वे कभी आध्यात्मिक ग्रन्थों को नहीं पढ़ते हैं, न कभी वे आत्मा के शुद्ध स्वरूप का मनन करते हैं। उनके भीतर संसार का मोह कम होने की अपेक्षा अधिक होता जाता है। वे आत्मज्ञान के प्रकाश को न पाकर अज्ञान के अन्धकार में ही जीवन बिताकर मानव जन्म का फल नहीं पाते हैं। शास्त्रों का ज्ञान उनके लिये संसारवर्द्धक हो जाता है, निर्वाण के मार्ग से उनको दूर ले जाता है।

इसलिए श्री योगीन्द्राचार्य उपदेश करते हैं कि शास्त्रों के पठन- पाठन द्वारा अपने आत्मा के शुद्धस्वभाव की रूचि प्राप्त करो। शुद्धात्मानुभव मोक्षमार्ग है। उसका लाभ करो, जिससे इस जीवन में भी सच्चा सुख मिले व आगामी मोक्ष का मार्ग तय होता जावे व निर्माण का लाभ हो सके।

श्री सारसमुच्चय में कहा है :-

एतज्ज्ञानफलं नाम यच्चारित्रोद्यमः सदा ।
क्रियते पापनिर्मुक्तैः साधुसेवापरायणैः ॥११॥
सर्वद्वन्द्वं परित्यज्य निभृतेनान्तरात्मना ।
ज्ञानामृतं सदा पेयं चित्तालादनमुत्तमम् ॥१२॥

भावार्थ- शास्त्रों के ज्ञान का यही फल है जो पापों से बचकर व साधुओं की सेवा करके चारित्र पालने का सदा उद्यम करे। अंतरात्मा या सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी होकर सर्व रागादि विकल्पों को छोड़कर निश्चिन्त होकर परमानन्दकारी आत्मज्ञान रूपी अमृत का पान सदा किया जावे।

दोहा ५४

इन्द्रिय व- मन के निरोध से सहज ही आत्मानुभव

मणु- इंदिहि वि छोडियइ बहु पुच्छियइ ण कोइ ।
रायहँ पसरू णिवारियइ सहज उपज्जइ सोइ ।।

अन्वयार्थ- **(बहु मणु इंदिहि वि छोडियइ)** यदि बुद्धिमान मन व इन्द्रियों से छुटकारा पा जावे **(कोइ ण पुच्छियइ)** तब किसी से कुछ पूछने की जरूरत नहीं है **(रायहँ पसरू णिवारियइ)** जब राग का फैलाना दूर कर दिया जाता है **(सहज सोइ उपज्जइ)** तब यह आत्म ज्ञान सहज ही पैदा हो जाता है।

भावार्थ- शास्त्रों के रहस्य के ज्ञाता को जो व्यवहार -निश्चयनय से या द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय से छः द्रव्यों के स्वरूप को भले प्रकार जानता हो व जिसको अपने आत्मा में रमण करने की गाढ़ रूचि पैदा हो गई हो व जो कर्ममल से आत्मा को छुड़ाना चाहता हो, आत्माधीन निश्चयचारित्र के लाभ के लिए उपयोग को मन व इन्द्रिय से रोकना चाहिए।

इन्द्रियों के विषयों की चाह मिटानी चाहिए तथा इन्द्रियों के द्वारा स्पर्श करने, रस लेने, सूंघने, देखने व सुनने की बुद्धिपूर्वक क्रिया बंद करनी चाहिए। विषयभोग क्षणिक तृप्तकारी हैं व आगामी तृष्णा के वर्द्धक हैं, ऐसा जानकर सर्व इन्द्रियों के भोगों से पूर्ण विरक्त रहना चाहिए। अबुद्धिपूर्वक यदि वस्तु स्वभाव से इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान में पदार्थ आ जावे तो वीतराग भाव से जान कर छोड़ देना चाहिए, उनका स्वागत नहीं करना चाहिए। ध्यान के समय तो उपयोग को इन्द्रियों के विषयों से दृढ़ता पूर्वक हटाना चाहिए।

मन को भी थिर करने की जरूरत है। मन द्वारा पिछले भोगों का स्वरूप व आत्मा की कांक्षा हो सकती है। वैराग्य द्वारा उसके इस संकल्प- विकल्प को या चिंतवन को रोके। आत्मज्ञान में रमण का उपाय यह है कि पहले व्यवहारनय से बारह भावनाओं को चिन्तवन करके मन को शांत करे, फिर निश्चयनय के द्वारा जगत के द्रव्यों को मूल स्वभाव में पृथक्- पृथक् देखे। समभाव लाने का प्रयास करे, फिर अपने ही आत्मा के स्वरूप की शुद्ध भावना भावे।

भावना करते- करते एक दम से मन का उपयोग आत्मरूप हो जायेगा व आत्मा में रमण प्राप्त हो जायेगा। अल्पज्ञानी छद्मस्थ का उपयोग अंतर्मुहूर्त के भीतर कुछ ही देर स्थिर रहेगा, फिर

निश्चयनय के द्वारा आत्मा की भावना में आ जाना चाहिए। अपने आत्मज्ञान में रमण के लिये दूसरों से पूछताछ करने की जरूरत नहीं है। स्वयं पुरुषार्थी होकर राग के प्रसार को मिटाने की जरूरत है। तत्त्वज्ञानी छः द्रव्यों को मूल स्वभाव में देखकर वैरागी हो जाता है। वास्तव में जिसको अनुभव करना है वह आप ही है। जिसने अपने आत्मा के स्वरूप का भले प्रकार निश्चय सहित ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसके भीतर आत्मा का दर्शन या अनुभव राग- द्वेष के मिटते ही सहज में हो जाता है।

जैसे सरोवर का निर्मल पानी जब पवन के द्वारा डांवाडोल होता है तब उसमें अपना मुख नहीं दिखता है परन्तु जब तरंग रहित निश्चल होता है तब अपना मुख दिख जाता है। इसी प्रकार राग- द्वेष की चंचलता मिटते ही अपना आत्मा आपको स्वयं दिख जाता है, आत्मा का अनुभव हो जाता है। उपयोग की चंचलता बाधक है। जब उपयोग को वैराग्य की रज्जू से बाँधकर स्थिर किया जाता है तब सहज ही आत्मा का प्रकाश हो जाता है।

श्री समाधिशतक में कहा है :-

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विन : ।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥३९॥
यत्र काये मुनिः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम् ।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

भावार्थ- जब तपस्वी के मन में राग- द्वेष उठ आवे तब वह शांत भाव से क्षणभर के लिये अपने आत्मा में स्थिर होकर आत्मा के शुद्ध स्वभाव की ही भावना करे। जिस शरीर में मुनि को राग हो जावे, उस शरीर से अपने आत्मा के भाव को हटाकर अपने आत्मा के उत्तम ज्ञानमय शरीर में उस भाव को जोड़ देवे, तब राग का क्षय हो जायेगा।

दोहा ५५

पुद्गल व जगत के व्यवहार से आत्मा को भिन्न जाने

पुग्गल अण्णु जिअण्णु जिउ अण्णु जि सहु ववहारू।
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ लहु पावहि भवपारू ॥

अन्वयार्थ- **(पुग्गलु अण्णु जि)** पुद्गल मूर्तिक का स्वभाव जीव से अन्य है **(जिउ अण्णु)**

जीव का स्वभाव पुद्गलादि से न्यारा है **(सहु ववहारू अण्णु जि)** तथा और सब जगत का व्यवहार प्रपंच भी अपने आत्मा से न्यारा है **(पुग्गलु चयहि वि जिउ गहहि)** पुद्गलादि को त्यागकर यदि अपने आत्मा को निरालाग्रहण करे **(लहु भवपारू पावहि)** तो शीघ्र ही संसार से पार हो जावे।

भावार्थ- संसार से पार होने का उपाय एक अपने ही आत्मा का सर्व परद्रव्यों से तथा परभावों से भिन्न ग्रहण करके उसी का अनुभव करना है। ज्ञानी यह विचारता है कि हर एक द्रव्य की सत्ता भिन्न - भिन्न है। मूल में एक द्रव्य दूसरे से मिलकर एकरूप नहीं होता, न एक द्रव्य के खण्ड हो करके दो या अनेक द्रव्य बनते हैं। सर्व ही द्रव्य अपने अनंत गुणों को व पर्यायों को लिये हुए बने रहते हैं, तब मेरे आत्मा का द्रव्य प्रगटपने अन्य सर्व संसारी तथा सिद्ध आत्माओं से भिन्न हैं।

अन्य आत्माओं का ज्ञान, सुख, वीर्य, चारित्र भिन्न हैं। मेरे आत्मा का ज्ञान, सुख, वीर्य चारित्र भिन्न है। निश्चय से सर्व आत्मायें सदृश हैं, गुणों में समान हैं तथापि सर्व की सत्ता निराली है। अनुभव सबका अपना- अपना है तथा यह मेरा आत्मा सर्व जगत के अणु व स्कंधरूप पुद्गलों से निराला है। पुद्गल मूर्तिक अचेतन है, मैं अमूर्तिक चेतन हूँ। इसी तरह यह मेरा आत्मा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व असंख्यात कालाणुओं से भिन्न है क्योंकि ये चारों ही द्रव्य अमूर्तिक अचेतन है।

मेरे साथ जिनका अनादि से सम्बन्ध चला आ रहा है ऐसा तैजस व कार्मण शरीर मेरे से भिन्न हैं, क्योंकि वे पुद्गलमय तैजस और कार्माण वर्गणाओं से बने हैं। उनका स्वरूप अचेतन है, मेरा स्वरूप चेतन है। मैंने चारों गतियों में औदारिक व वैक्रियक शरीर बार- बार धारण किये हैं व छोड़े हैं। ये भी पुद्गलमय आहारक वर्गणाओं से रचित अचेतन हैं। मेरे से भाषा का निकलना भाषा वर्गणाओं के उपादान कारण से होता है व मन का बनना मनोवर्गणाओं के उपादान करण से होता है ये सब पुद्गलमय अचेतन हैं। कर्म के उदय से जो मेरे भीतर क्रोध, मान, माया, लोभ भाव होते हैं व अज्ञान भाव हैं या वीर्य की कमी है सो अब आवरण का दोष है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीयं, अन्तराय इन चार घातीय कर्मों के उदय से मेरे में विकार झलकता है। जैसे कीच के मिलने से जल में विकार दिखे। निश्चय से जैसे कीच से जल अलग है, वैसे मैं आत्मा सर्व रागादि विकारों से अलग परमज्ञानी व परम वीतरागी हूँ। मेरा एक स्वाभाविक भाव जीवत्व है या शुद्ध सम्यग्दर्शन, शुद्ध चारित्र, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध दान,

शुद्ध लाभ, शुद्ध भोग, शुद्ध उपभोग, शुद्ध वीर्य है। उपशम सम्यक्त व उपशम चारित्र, मतिज्ञानादि चार ज्ञान व तीन अज्ञान, चक्षु आदि तीन दर्शन, क्षयोपशम दानादि पाँच लब्धियाँ, क्षयोपशम सम्यक्त, क्षयोपशम चारित्र, देश संयम ये सब बीस प्रकार के औपशमिक व क्षायोपशमिक भाव मेरे शुद्ध स्वभाव से जुड़े हैं। मैं तो एक अखण्ड व अभेद शुद्ध गुणों का धारी द्रव्य हूँ। कर्मबन्ध की रचना को लेकर मेरे में आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष तत्त्वों का तथा पुण्य का व्यवहार है।

मेरा शुद्धस्वभाव इन पाँच तत्त्व व सात पदार्थों के व्यवहार से निराला है। नर, नारक, देव, तिर्यंच गति के भीतर कर्मों के उदय वश नाना प्रकार के बननेवाले भेष व उनमें नाना प्रकार की अशुद्ध काय, वचन का या मन की संकल्प- विकल्प रूप क्रियाएँ सब मेरे शुद्ध आत्मीक परिणमन से भिन्न हैं। जगत का सर्व व्यवहार मन- वचन- काय तीनों योगों से या शुभ या अशुभ उपयोगों से चलता है, मेरे शुद्ध उपयोग में व निश्चल आत्मीक प्रदेशों में इनका कोई संयोग नहीं है इसलिए मैं इन सबसे जुदा हूँ। न मेरा कोई मित्र है, न कोई शत्रु है, न मेरा कोई स्वामी है, न मैं किसी का स्वामी हूँ, न किसी का सेवक हूँ, न कोई मेरा सेवक है, न मैं किसी का ध्यान करता हूँ, न किसी का पूजन करता हूँ, न किसी को दान देता हूँ। मैं ध्यान पूजा दानादि कर्म से निराला हूँ।

अशुद्ध निश्चयनय से कहे जाने वाले रागादि भावों से, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से कहे जानेवाले कार्मणादि शरीरों के सम्बन्ध से उपचरित असद्भूत व्यवहार से कहे जाने वाले स्त्री पुत्रादि चेतन व धन गृहादि अचेतन पदार्थों से मैं भिन्न हूँ। सद्भूत व्यवहार नय से कहे जानेवाले गुण- गुणी के भेदों से भी मैं दूर हूँ।

मैं सर्व व्यवहार की रचना से निराला एक परम शुद्ध आत्मा हूँ। ज्ञायक एक प्रकाशमान, परम निराकुल, परम वीतरागी, अखंड द्रव्य हूँ, मेरे में बंध व मोक्ष की भी कल्पना नहीं है। सदा ही तीन काल में एक अबाधित नित्य परम निर्मल चेतन द्रव्य हूँ। इस तरह मनन करके जो अपने आत्मारूपी रत्न को ग्रहण करके उसी के स्वामीपने में सन्तोषी हो जाता है, वही आत्मा का दर्शन करता हुआ निर्वाण का स्वामी हों जाता है।

श्री समयसारकलश में कहा है :-

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान्कर्तृभोक्तादिभावान्,
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्ते ।

शुद्धः शुद्धस्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि,
ष्टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥१९३॥

भावार्थ - ज्ञान का समूह यह आत्मा अपनी स्थिर प्रकाशमान प्रतिमा को धरता हुआ सदा उदित रहता है। यह परम शुद्ध है, शुद्ध आत्मीक रस से पूर्ण व पवित्र व निश्चल तेज का धारी है। कर्ता-भोक्ता आदि के भावों को पूर्णपने अपने भीतर से दूर किये हुए है। यह अपनी हर एक परिणति में एकाकार है, बंध तथा मोक्ष की कल्पना से दूर है।

श्री समयसार में कहा है :-

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥

भावार्थ- जो जीव शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है वह शुद्धात्मा हो जाता है व जो अपने को अशुद्ध जानता है वह अशुद्ध आत्मारूप ही रहता है।

दोहा ५६

आत्मानुभवी ही संसार से मुक्त होता है

जे णवि मण्णहिं जीव फुडु से णवि जीउ मुणंति ।
ते जिण- णाहहँ उत्तिया णउ संसार मुंचंति ॥

अन्वयार्थ- **(जे फुडु जीव णवि मण्णहिं)** जो स्पष्टरूप से अपने आत्मा को नहीं जानते हैं **(जे जीउ णवि मुणंति)** व जो अपने आत्मा का अनुभव नहीं करते हैं **(ते संसार णउ मुंचंति)** वे संसार से मुक्त नहीं होते **(जिण णाहहं उत्तिया)** ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

भावार्थ- श्री जिनेन्द्र भगवान ने दिव्यवाणी से यही उपदेश किया है कि अपने आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान तथा ध्यान निश्चय रत्नत्रय स्वरूप स्वात्मानुभव ही वह मसाला है जिसके प्रयोग से वीतरागता की आग भड़कती है, जो कर्म ईंधन को जलाती है।

बिना आत्मीक ध्यान के कोई कभी कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता है। पर-पदार्थों से ये मोह बन्ध का मार्ग है, तब पर से वैराग्य व भिन्न आत्मीक तत्त्व में संलग्नता मोक्ष का मार्ग है। तत्त्वज्ञानी को इसलिए सर्व विषय-कषायों से पूर्ण वैराग्यवान होना चाहिए। इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों को जान करके समभाव रखना चाहिए, राग- द्वेष नहीं करना चाहिए।

उनके भीतर रागभाव से रंजायमान होना व द्वेषभाव से हानि करना उचित नहीं है। विषयभोग विष के समान हानिकारक व अन्धकारकवर्द्धक हैं। ऐसा दृढ़ विश्वास असंयत सम्यक्त्वी को भी होता है। यद्यपि वह अप्रत्याख्यानादि कषायों के उदय से व अपने आत्मवीर्य की कमी से पाँचों इन्द्रियों के भोग करता है, तथापि भावना यही रहती है कि कब वह समय आवे जब मैं केवल आत्मीक रस का ही वेदन करूँ। ज्ञान- चेतना रूप ही वर्तूं, कर्मफल- चेतना व कर्म- चेतना रूप न वर्तूं।

त्यागने योग्य बुद्धि से वह उनमें आसक्त नहीं होता है। जितनी जितनी कषाय की मन्दता होती जाती है, विषय विकार की कलुषता मिटती जाती है, देशसंयमी श्रावक होकर विषयभोग से बहुत निर्लिप्त हो जाता है। जब प्रत्याख्यान कषाय का उदय नहीं रहता है, तब संयमी होकर पूर्ण विरक्त हो जाता है। परिग्रह के प्रपंच से हटकर निज आत्मा के स्वाद का इतना प्रेमी हो जाता है कि एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक आत्मीक रमणता से विमुख नहीं रहता है। निरन्तर आत्मीक मनन में लगा रहता है।

वास्तव में आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है। सम्यक्त्वी बाहरी चरित्र, भेष या वर्तन को मोक्षमार्ग नहीं जानता है, एक ही निश्चय आत्मा के अनुभव को मोक्षमार्ग जानता है। अनुभव के समय वृत्ति आत्मामय हो जाती है तब बहुत कर्मों की निर्जरा होती है। मोहनीय कर्म की शक्ति घटती है, अधिक बल बढ़ता है। आत्मानुभव ही धर्म ध्यान है, आत्मानुभव ही शुक्लध्यान है, इसी के प्रताप से चारों घातिया कर्म क्षय हो जाते हैं, तब आत्मा परमात्मा हो जाता है। अपने आत्मा को द्रव्यरूप पर के संयोग रहित परम वीतराग, परमानन्दमय, परमज्ञानी, परमदर्शी, अमूर्तिक, अविनाशी, निर्विकार, निरंजन, अनन्तबली, परम निश्चल, एकाकी, परम शुद्ध, परमात्मा रूप निरन्तर देखना चाहिए। जगत की आत्माओं को भी द्रव्यदृष्टि से ऐसा ही देखना चाहिए तब समभाव का प्रकाश होगा।

भावना के समय शुद्ध निश्चयनय से आपको व पर आत्माओं को सबको परमशुद्धरूप मनन करना चाहिए, फिर अपने में ही एकाग्र होकर आत्मीक रस का पान करना चाहिए। रात-दिन आत्मीक रस का रसीला हो जाना चाहिए। निज आत्मा में ही रहना ज्ञानी का घर है। आत्मा की शिला ही ज्ञानी का आसन है, निज आत्मीक तत्त्व ही ज्ञानी का वस्त्र है, निजात्मीक रस ही ज्ञानी का भोजन पान है। निजात्मीक शय्या ही ज्ञानी की शय्या है। जिस ज्ञानी को सर्व कर्मजनित

पद अपद भासते हैं। वही ज्ञानी निजपद का प्रेमी होकर निज स्वभाव में रमण करता हुआ मोक्ष मार्ग को तय करता है व एक दिन परमात्मा हो जाता है। वास्तव में यह अनुभव कि मैं बन्ध मोक्ष की रचना से रहित स्वयं पद में वीर्यवान परम निर्मल हूँ, स्वयं आत्मा को आत्मा मय दर्शाता हूँ। बँध से विराग ही बंध के क्षय का कारण है!

श्री आत्मानुशासन में कहा है :-

समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः,
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः,
कथमिंह न विमुत्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥२२६॥

भावार्थ- जो सर्व द्रव्यों को जानते हैं, सर्व पापों से दूर हैं, आत्मा के हित में चित्त के धारी हैं, पवित्र शांत भाव के प्रचारक हैं, स्व पर हितकारी वाणी के कहने वाले हैं, सर्व संकल्प से रहित हैं, ऐसे महात्मा विरक्तजन क्यों मोक्ष के पात्र होंगे ?

दोहा ५७

आत्मा के ज्ञान के लिये नौ दृष्टांत हैं

रयण दीउ दिणयर दहिउ दुध्दु घीव पाहाणु ।
सुण्णउ रूउ फलिहउ अगिणि णव दिट्ठंता जाणु ॥

अन्वयार्थ- रत्न, दीप, सूर्य, दही- दूध- घी, पाषाण, सुवर्ण, चांदी, स्फटिक, आग- इन नौ दृष्टान्तों से जीव को जानना चाहिए।

भावार्थ- इनका विस्तार जैसा समझ में आया किया जाता है। आत्मतत्त्व अपने शरीर में व्यापक है, आप ही है, प्रगट ही है। तथापि समझने के लिये नौ दृष्टान्तों का कथन है :-

(1) रत्न - आत्मा रत्न के समान जगत में एक अमूल्य द्रव्य है, परम धन है, आत्मज्ञानी रत्न का स्वामी सम्यग्दृष्टि ज़ौहरी है, जो पहचानता है कि आत्मा परम शुद्ध है, अभेद है, सदा ही ज्ञानज्योति से प्रकाशमान है, अविनाशी है, स्वयं सम्यग्दर्शन रत्नमय, सम्यग्ज्ञान रत्नमय व सम्यक्चारित्र रत्नमय, रत्नत्रय स्वरूप है, एक अनुपम रत्न है।

(2) दीप - आत्मा दीपक के समान स्व-पर प्रकाशमान है। एक ही काल में यह आत्मा अपने

को भी जानता है व सर्व द्रव्यों को व उनके गुण व पर्यायों को जानता है तो भी परज्ञेयों से भिन्न हैं। यह आत्मा अनुपम दीपक कभी नहीं बुझनेवाला है। इस आत्मा दीपक को किसी तेल की जरूरत नहीं है, न कोई पवन इसे बुझा सकता है। यह दीपक सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों को एक साथ झलकाने वाला है।

(3) सूर्य - आत्मा सूर्य के समान प्रकाशमान व प्रतापवान है। सर्व लोकालोक का ज्ञाता दृष्टा है व परम वीर्यवान है व परम शान्त है। इसलिए यह एक अनुपम सूर्य है। कभी छिपता नहीं है। किसी मेघ या राहू से ग्रसित नहीं होता है। स्वयं परमानन्दमय है। जो इस आत्मा सूर्य को देखता है उसको भी आनन्द दाता है। यह सदा निरावरण है, एक नियमित स्वक्षेत्र में या असंख्यात प्रदेशी होकर किसी देह में या देह के आकार का होते हुए भी लोकालोक का प्रकाशक है।

(4) दूध- दही- घी - के समान यह आत्मा है। आत्मा के दूध सदृश शुद्धस्वभाव के मनन करने से आत्मा की भावना दृढ़ होती है। आत्मा की भावना की जागृति ही दही का बनना है। फिर जैसे दही के बिलाने से घी सहित मक्खन निकलता है वैसे आत्मा की भावना करते- करते आत्मानुभव होता है, जो परमानन्द देता हुआ आत्मा को घी के समान दिखता है। आप ही दूध है, आप ही दही है, आप ही घी है। मुमुक्षु को निज आत्मारूपी गोरस का ही निरन्तर पान करना चाहिए। परम वीर्यवान न सन्तोषी रहना चाहिए।

(5) पाषाण - आत्मा पत्थर के समान दृढ़ व अमिट है। अपने भीतर अनन्त गुणों को रखता है उनको कभी कम नहीं करता है। न किसी अन्य गुण को स्थान देता है। अगुरूलघु सामान्य गुण के द्वारा यह अपनी मर्यादा में बना रहता है। आठ कर्मों के संयोग से संसार पर्याय में रहता है तो भी कभी अपने स्वभाव को त्यागकर आत्मा से अनात्मा नहीं होता है। निश्चल परम दृढ़ सदा रहता है।

(6) सुवर्ण - आत्मा शुद्ध सुवर्ण या कुन्दन के समान परम प्रकाशमान ज्ञान धातु से निमित्त अमूर्तिक एक अद्भूत मूर्ति है। संसारी आत्मा खान से निकले धातु-पाषाण सुवर्ण की तरह अनादि से कर्मरूपी कालिमा से मलीन है। अग्नि आदि के प्रयोग से जैसे सोने की वस्तु पाषाण से अलग करके शुद्ध कुन्दन कर लिया जाता है वैसे ही आत्मध्यान की आग से आत्मा को कर्मों की कालिमा से शुद्ध सिद्धसमान कर लिया जाता है।

(7) चाँदी - आत्मा शुद्ध चाँदी के समान परम निर्मल है। कर्मो के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप

संयोग होने पर भी कभी अपने शुद्धस्वभाव को त्यागता नहीं है। इस आत्मा में ज्ञान का परम प्रकाश है। वीतरागता की सफेदी है या स्वच्छता है। जो ज्ञानी आत्मारूपी चाँदी का सदा व्यवहार करते हैं, आत्मा के भीतर रमण करते हैं वे कभी परमानन्दरूपी धन से शून्य नहीं होते हैं।

(8) स्फटिकमणि- यह आत्मा स्फटिकमणि के समान निर्मल है व परिणमनशील है। कर्मों के उदय का निमित्त न होने पर यह सदा अपने शुद्ध आत्मीक गुणों में ही परिणमन करता है। संसार अवस्था में कर्मों के उदय के निमित्त होने पर यह स्वयं राग, द्वेष, मोहरूप व नाना प्रकार के विभावरूप परिणमन करता है। जैसे स्फटिक मणि लाल, पीले, नीले वस्तु के सम्पर्क से लाल, पीला, नीला रंगरूप परिणमन कर जाता है तो भी निर्मलता को खो नहीं बैठता है, केवल ढक देता है, इसी तरह आत्मा सराग दशा में रागद्वेषरूप, परिणमता हुआ भी वीतरागता का लोप नहीं कर देता है, केवल ढक देता है, निमित्त न आने पर यह सदा स्फटिक के समान शुद्ध वीतरागभाव में ही झलकता है।

(9) अग्नि - यह आत्मा अग्नि के समान सदा जलता रहता है। किन्हीं भी विषयों को व पर के आक्रमण को नहीं होने देता है। जब यह संसार पर्याय में होता है तब यह स्वयं ही अपने आत्मीक ध्यान की अग्नि जलाकर अपने कर्ममल को भस्म करके शुद्ध हो जाता है। यह आत्मा अनुपम अग्नि है जो कर्म ईंधन की दाहक है, आत्मीक बल की पोषक है व सदा ज्ञान के द्वारा स्व-पर के प्रकाशक है।

इन नौ दृष्टांतों से आत्मा को समझकर पूर्ण विश्वास प्राप्त करना चाहिए।

श्री समयसार में कहा है :-

जह फलियमणि सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहि।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादियेहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

भावार्थ- जैसे स्फटिक मणि शुद्ध है; स्वयं लाल पीला आदि नहीं होता है, परन्तु जब लाल, पीले आदि द्रव्यों का संयोग होता है तब वह लाल, पीला आदि हो जाता है। इसी तरह ज्ञानस्वरूपी आत्मा स्वयं कभी रागादि भावों मे परिणमन नहीं करता है। यदि मोहनीयकर्म की रागादि प्रकृतियों का उदय होता है तब ही रागादि रूप परिणमता है। यह स्फटिक के समान स्वच्छ

परिणमनशील है।

दोहा ५८

देहादिरूप मैं नहीं हूँ- यही ज्ञान मोक्ष का बीज है

देहादिउ जो परू मुणइ जेहउ सुण्णु अयासु ।
सो लहु पावइ बंभु परू केवलु करइ पयासु ।।

अन्वयार्थ- (जेहउ अयासु सुण्णु) जैसे आकाश पर- पदार्थों के साथ सम्बन्धरहित है, असंग अकेला है **(देहादिउ जो परू मुणइ)** वैसे ही शरीरादि को जो अपने आत्मा से पर जानता है **(सो परू बंभु लहु पावइ)** वही परम ब्रह्मा स्वरूप का अनुभव करता है **(केवल पयासु करइ)** व केवलज्ञान का प्रकाश करता है।

भावार्थ- जैसे आकाश के भीतर एक ही क्षेत्र में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, असंख्यात कालाणु, अनंत जीव, अनन्तानंत पुद्गलद्रव्य रहते हैं तथापि उनकी परिणति से आकाश में कोई विकार या दोष नहीं होता है, आकाश उनसे बिल्कुल शून्य, निर्लेप, निर्विकार बना रहता है, कभी भी उनके साथ तन्मय नहीं होता है।

आकाश की सत्ता अलग व आकाश में रहे हुए चेतन- अचेतन पदार्थों की सत्ता अलग रहती है। वैसे ही ज्ञानी को समझना चाहिए कि आत्मा आकाश के समान अमूर्तिक है, आत्मा के सर्व असंख्यातप्रदेश अमूर्तिक हैं। मेरी आत्मा के आधार में रहनेवाले तैजस शरीर, कार्माण शरीर, औदारिक शरीर व शरीर के आश्रित इन्द्रियाँ, मन व वचन तथा उनके परिणमन सब मेरे आत्मा से भिन्न हैं।

बंधप्राप्त कर्मों के उदय से होने वाले तीव्रकषाय या मंदकषाय के सर्व ही अशुभ व शुभ भाव मेरे आत्मा के शुद्ध स्वभाव से भिन्न हैं। मेरा कोई सम्बन्ध मन, वचन, काय की क्रियाओं से नहीं हैं। मैं बिल्कुल पर के मोह से शून्य हूँ। मैं परम वीतरागी व निर्मल हूँ। जगत में मेरे आत्मा के न कोई माता- पिता है, न कोई पुत्र है, न मित्र है, न कोई स्त्री है, न भगिनी है, न पुत्री है, न कोई मेरे आत्मा का स्वामी है, न कोई सेवक है, न मेरा ग्राम है, न धाम है, न कोई वस्त्र है, न आभूषण है।

मेरा कोई सम्बन्ध किसी भी परवस्तु से रंचमात्र भी नहीं है। मेरे में सब पर का अभाव है,

सब पर में मेरा अभाव है। विश्व की अनन्त सांसारिकसिद्ध आत्माएँ अपने मूल स्वभाव में मेरे स्वभाव के बराबर हैं, तथापि मेरी सत्ता निराली, उनकी सत्ता निराली। मेरे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र, चेतना आदि गुण निराले, मेरा परिणमन निराला। इन सर्व आत्माओं का परिणमन निराला। मैं अनादिकाल से एकाकी ही रहा व अनंतकाल तक एकाकी ही रहूँगा।

अनादि संसार- भ्रमण में मेरे साथ अनन्त पुद्गलों का संयोग हुआ, परन्तु वे सब मुझसे दूर ही रहे, वे कर्म- नोकर्म पुद्गल मेरे किसी भी गुण या स्वभाव का सर्वथा अभाव नहीं कर सके। आवरण कर्मों का होने पर भी मैं उसी तरह निरावरण रहा। जैसे सूर्य के ऊपर मेघ आने पर भी सूर्य अपने तेज में प्रकाशमान रहता है। संसार अवस्था में मैंने अनेकों माता, पिता, भाई, पुत्र, मित्र से सम्बन्ध पाए, परन्तु वे सब निराले ही रहे, मैं उनसे निराला ही रहा। चारों गतियों में बहुत- से शरीर धारे व बहुत सी पर पदार्थों की संगति पायी, परन्तु वे मेरे नहीं हुए, मैं उनका नहीं हुआ। अतएव मुझे यही पक्का श्रद्धान रखना चाहिए कि मैं सदा ही रागादि विकारों से शून्य रहा व अब भी हूँ व आगामी काल में भी रहूँगा।

मुझे सर्व मन के विकारों को बंद करके व सर्व जगत के पदार्थों से विरक्त होकर अपने उपयोग को अपने ही भीतर सूक्ष्मता से ले जाना चाहिए तब मुझे यही दिख जायेगा कि मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँ, यही आत्मदर्शन, यही आत्मानुभव केवलज्ञान का प्रकाशक है।

श्री परमात्मप्रकाश में कहा है :-

मुत्तिविहूणउ णाणमउ, परमानंद सहाउ ।
णियमे जोइय अप्पु सिच्चु णिरंजण भाउ ॥१४३॥

भावार्थ- हे योगी ! निश्चय से तू आत्मा को आमूर्तिक, ज्ञानमय, परमानंद स्वभावधारी, नित्य, निरंजन पदार्थ जान।

श्री तत्त्वानुशासन में कहा है :-

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता दृष्टा सदाप्युदासीन ।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्त्तः ॥१५३॥

भावार्थ- मैं अपनी सत्ता को रखने वाला एक निराला द्रव्य हूँ, स्वानुभव रूप हूँ, ज्ञाता व दृष्टा हूँ, सदा ही वीतराग हूँ, अपने शरीर में व्यापक हूँ तो भी शरीर से भिन्न, आकाश के समान अमूर्तिक हूँ।

दोहा ५९

आकाश के समान होकर भी मैं सेचतन हूँ

जेहउ सुद्ध अयासु जिय तेहउ अप्पा वुत्तु ।
आयासु वि जडु जाणि जिय अप्पा चेयणुवंतु ।।

अन्वयार्थ- **(जिय)** हे जीव ! **(जेहउ अयासु सुद्ध तेहउ अप्पा वुत्तु)** जैसा आकाश शुद्ध है वैसा रही आत्मा कहा गया है **(जिय आयासु वि जडु जाणि)** हे जीव ! आकाश को जड़ अचेतन जान तथा **(अप्पा चेयणुवंतु)** आत्मा को सचेतन जान।

भावार्थ- आकाश भी द्रव्य है, आत्मा भी द्रव्य है तथा पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल ये भी द्रव्य हैं, छहों ही द्रव्य, द्रव्य पने की अपेक्षा समान हैं। सब द्रव्यों में छः सामान्य गुण पाये जाते हैं।

(1) **अस्तित्व** - सत्ता का होना। सब ही द्रव्य सदा से हैं व सदा बने रहेंगे।

(2) **वस्तुत्व** - कार्यकारी होना। सब ही द्रव्य अपने अपने कार्य को स्वतंत्र करते हैं।

(3) **द्रव्यत्व** - परिणमनशीलपना। सब ही द्रव्य अखण्ड रहते हुए भी अपनी- अपनी पर्यायों में परिणमन करते हैं। स्वभाव या विभाव दशाएँ उनमें होती रहती हैं .

(4) **प्रमेयत्व** - जानने योग्य होना। सब ही द्रव्यों सर्वज्ञों के द्वारा जानने योग्य हैं।

(5) **अगुरूलघुत्व** - अपनी मर्यादा में रहना। सब ही द्रव्य अपने अपने गुण- पर्यायों को ही अपने में रखते हैं, परद्रव्यों के गुण पर्यायों को ग्रहण नहीं करते हैं।

(6) **प्रदेशत्व** - आकार रखना। सर्व द्रव्य आकाश में रहते हैं व जगह घेरते हैं।

कितने ही स्वभाव सब द्रव्यों में सामान्य से पाये जाते हैं जैसे :-

(1) **अस्ति स्वभाव** - अपने स्वभाव को रखते हुए सब द्रव्य भावपने को रखते हैं।

(2) **नास्ति स्वभाव** - परद्रव्यों के स्वभावों का परस्पर अभाव है। दूसरों की सत्ता दूसरों में नहीं है।

(3) **नित्य स्वभाव** - द्रव्य अपने अपने द्रव्य स्वभाव को सदा ही रखते हैं। कभी द्रव्य का नाश नहीं होता ।

(4) **अनित्य स्वभाव** - अपनी-अपनी पर्यायों के बदलने की अपेक्षा सब द्रव्य क्षणिक व नाशवंत हैं।

(5) एकत्व स्वभाव - सब द्रव्य अनेक गुणी- पर्यायों में एक एक अखण्ड रूप हैं।

(6) अनेक स्वभाव - सब द्रव्य अनेक स्वभावों को रखने से अनेकरूप हैं।

(7) भेद स्वभाव - गुण गुणी में संज्ञा लक्षणादि के भेद रखने से अनेक भेद स्वभावी हैं।

(8) अभेद स्वभाव - सर्व द्रव्यों के गुण स्वभाव द्रव्यों में सर्वाङ्ग अखण्ड रहते हैं। एक- एक ही प्रदेश में सर्व गुण होते हैं, इससे अभेद स्वभाववान है।

(9) भव्य स्वभाव - सर्व ही द्रव्य अपने स्वभाव के भीतर ही परिणमन करने की योग्यता रखते हैं।

(10) अभव्य स्वभाव - सर्व ही द्रव्य परद्रव्य के स्वभावरूप कभी नहीं हो सकते।

(11) परम स्वभाव- सर्व ही द्रव्य शुद्ध पारिणामिक भाव के धारी हैं।

इन सामान्य गुण व स्वभावों की अपेक्षा जीवादि छहों द्रव्य समान हैं। परन्तु विशेष गुणों की अपेक्षा उनमें अन्तर है। अमूर्तिक गुण की अपेक्षा पुद्गल को छोड़कर पाँच द्रव्य समान है। पुद्गल में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ये विशेष साधारण गुण हैं। धर्म द्रव्य में जीव, पुद्गल की स्थिति को कारण होना विशेष गुण है। आकाश मे सर्व को अवकाश देने का विशेष गुण है।

काल में सर्व को बरताने का व परिणमन में सहायी होने का विशेष गुण है। सब जीव द्रव्यों में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतना, सम्यक्त्व, चारित्र ये मुख्य विशेष गुण हैं, जो आकाशादि पाँच द्रव्यों में नहीं पाए जाते हैं। वे सब आकाशादि पाँच द्रव्य जड़ अचेतन हैं, आत्मा सचेतन द्रव्य है। मूल स्वभाव से सर्व ही द्रव्य शुद्ध हैं। आकाश जैसे निर्मल है वैसे यह आत्मा निर्मल है। ज्ञानी को उचित है कि वह अपने आत्मा को परम शुद्ध निर्विकार परमानन्दमय एक रूप अविनाशी जानकर उसी में आचरण करे, स्वानुभव प्राप्त करे, यही निर्वाण का उपाय है।

श्री समयसारकलश में कहा है :-

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं,
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमद्यत् ।
इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेकः,
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२॥

भावार्थ- हे जगत के प्राणियों ! अब तो अनादिकाल से आए हुए मोहभाव या अज्ञान को छोड़ो और आत्मरसिकों को रसीले ऐसे प्रकाशमान शुद्धज्ञान का स्वाद लो। इस लोक में कभी भी, किसी तरह भी आत्मा अनात्मा के साथ मिल कर एकमेक नहीं होता है। सदा ही आत्मा अपने

स्वभाव से पर से जुदा ही रहता है।

दोहा ६०

अपने भीतर ही मोक्षमार्ग है

णासग्गिं अब्भिंतरहँ जे जोवहिं असरीरू ।
बाहुडि जम्मि ण संभवहिं पिवहिं ण जणणी- खीरू ।।

अन्वयार्थ- (जे णासग्गिं अब्भिंतरहं असरीरू जीवहिं) जो ज्ञानी नासिका पर दृष्टि रखकर भीतर शरीरों से रहित शुद्ध आत्मा को देखते हैं **(बाहुडि जम्मि ण संभवहिं)** वे फिर बारम्बार जन्म नहीं पाएँगे **(जणणी खीरू ण पिवहिं)** वे फिर माता का दूध नहीं पियेंगे।

भावार्थ- आत्मा शरीरों से रहित अमूर्तिक है। वह इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जाता, मन भी केवल विचार कर सकता है, ग्रहण नहीं कर सकता। आत्मा का ग्रहण आत्मा ही के द्वारा होता है। इसके ग्रहण का बाहरी साधन ध्यान का अभ्यास है।

साधक को उचित है कि वह एकान्त में जावे जहाँ क्षोभ व आकुलता न हो, मानवों के शब्द नहीं आते हों। उपवन, पर्वत, वन, जिन- मन्दिर, शून्य गृह, नदीतट आदि स्थानों को चुनना चाहिए। ध्यान सिद्धि का समय अत्यन्त प्रातः काल सूर्योदय के पूर्व है, फिर मध्यान्हकाल व सायंकाल है व रात्रि का समय है। ध्यान करनेवाला निश्चिंत होकर बैठे, शरीर पर वस्त्र न हों या जितने कम सम्भव हों उतने वस्त्र होवें।

शरीर में रोगादि की पीड़ा न हो, बहुत भूख न हो, न मात्रा से अधिक भोजन किए हुए हो, शरीर को आसनरूप में किसी चटाई, पाट, शिला या भूमि पर रखें, पद्मासन, अर्द्धपद्मासन या कायोत्सर्ग आसन से स्थिर सीधा नासाग्र दृष्टि में तिष्ठे, सर्व चिन्ताओं से रहित होकर व सर्व इन्द्रियों से बुद्धिपूर्वक देखना, सुनना आदि बन्द करके केवल इस भावना को लेकर बैठे कि मुझे भीतर विराजित आत्मारूपी निरंजनदेव का दर्शन करना है।

जगत के प्राणियों से वार्तालाप को छोड़े, मन को चिन्तवन में लगावे। पहले तो व्यवहार नय से अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ व धर्म - इन बारह भावनाओं का श्रद्धा व भावपूर्वक विचार करे, फिर सात तत्त्वों का स्वरूप विचारे। उनके विचार में यह देखे कि जीव तो मैं स्वभाव से शुद्ध हूँ परन्तु अनादि काल

से कर्मबन्ध होने के कारण अशुद्ध हूँ। कर्म जड़- पुद्गल के सूक्ष्म स्कंधों से बने हैं।

उन कार्माण वर्गणाओं को मैं ही अपनी मन, वचन, काय की क्रिया से घसीटता (आकर्षित करता) हूँ व राग, द्वेष, मोह के वश बाँधता हूँ। यदि वीतरागी होकर आत्मत्व की भावना करूँ तो नवीन कर्मों के आने को रोक दूँ तथा पुराने कर्मों को समय के पहले तप द्वारा दूर करूँ। इस तरह सर्व कर्मरहित होने पर मैं मुक्त हो सकता हूँ। फिर व्यवहारनय से देखना बन्द करके निश्चयनय से देखे कि मैं तो एक शुद्धचेतन- स्वभावी आत्मा हूँ, कर्मादि सब पर हैं। जगत के पदार्थों को भी निश्चयरूप से देखे कि यह जगत छः द्रव्यों से पूर्ण हैं। वे सर्व ही द्रव्य भिन्न- भिन्न अपनी- अपनी सत्ता में हैं, सर्व परमाणु निराले हैं, सर्व कालाणु निराले हैं, धर्म, अधर्म व आकाश द्रव्य निराले हैं, सर्व आत्माएँ अलग- अलग परम शुद्ध हैं, व्यवहार के नर, नारक, देव, तिर्यंच के व एकेन्द्रियादि के भेदों को व अनेक मन, वचन, काय से होने वाली क्रियाओं को नहीं देखे। सर्व ही द्रव्यों को क्रिया रहित निश्चल स्वभाव से देखे, जिससे प्रीति व अप्रीति का कारण मिट जावे व एक समभाव या वीतरागभाव का प्रवाह बहने लगे।

वीतराग भाव की शान्त रस से भरी गंगा नदी बह निकली फिर केवल एक अपने ही शुद्ध अशरीरी आत्मा को शरीर प्रमाण विराजित भीतर सूक्ष्म भेद विज्ञान की दृष्टि से देखने का उद्यम करे। एकाकी अपने आत्मा के गुणों का चिन्तवन करे। इसे ही आत्मा की भावना कहते हैं। भावना करते- करते एकाएक मन जब थिर होगा, आत्मा का अनुभव जग जायेगा, आत्मा का दर्शन हो जायेगा। यही आत्मीक अनुभूति ध्यान की आग है, जो कर्म ईंधन को जलायेगी व आत्मा को शुद्ध कुन्दन के समान शुद्ध बनाएगी। यदि मोक्ष के लाभ के अनुकूल शरीरादि सामग्री होगी तो, यह साधक उसी भव से, नहीं तो कुछ भवों में मुक्त हो जायेगा, सिद्धगति को प्राप्त कर लेगा। फिर कभी जन्म न होगा, फिर कभी माता का दूध नहीं पीवेगा।

श्री समाधिशतक में कहा है :-

जनेभ्यो वाक्ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।
भवन्ति तस्मात्संसर्ग जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ।।७२।।
यस्य सस्पन्दमाभाति निः स्पन्देन समं जगत् ।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ।।६७।।

भावार्थ- मानवों से बात करने पर मन की चचंलता होती है तब मन के भीतर भ्रमभाव होते हैं,

इसलिए योगी को मानवों की संगति त्यागनी चाहिए, एकांतसेवी होना चाहिए। जिसकी दृष्टि में यह चलता- फिरता जगत हलन- चलन रहित, बुद्धि के विकल्प रहित, कार्य रहित, केवल निज स्वभाव से थिर दिखता है, वही समभाव को पाता है।

दोहा ६१

निर्मोही होकर अपने अमूर्तिक आत्मा को देखे

असरीरू वी सुसरीरू मुणि इहु सरीरू जडु जाणि।
मिच्छा- मोहु परिच्चयहि मुत्ति णियं वि ण माणि॥

अन्वयार्थ- **(असरीरू वि सुसरीरू मुणि)** अपने शरीर रहित आत्मा को ही उत्तम ज्ञानशरीर समझे **(इहु सरीरू जडु जाणि)** इस पुद्गल रचित शरीर को जड़ व ज्ञान रहित जाने (मिच्छा मोहु परिच्चयहि) मिथ्या मोह का त्याग करे **(मुत्ति णियं वि ण माणि)** मूर्तिक इस शरीर को भी अपना नहीं माने।

भावार्थ - आत्मध्यान के साधक को उचित है कि वह अपने को केवल जड़ शरीर रहित एक ज्ञानशरीरी शुद्ध आत्मा समझे। पुद्गल के परमाणुओं से रचित शरीर को एक पिंजरा या कारागार समझे। तैजस, कार्मण व औदारिक तीनों शरीरों से रहित अपने को सिद्ध भगवान के समान पुरुषाकार अमूर्तिक समझे। अपना सर्वस्य श्रेय अपने ही आत्मा पर जोड़ देवे। सर्व पर से प्रेम को हटा लेवे।

जगत के पदार्थों का मिथ्या मोह त्याग देवे। जो पर्याये नाशवन्त हैं, उनसे मोह करना मिथ्या व सन्तापकारी है। इस जीव ने अनादि संसार के भ्रमण में अनन्त पर्यायें धारण की हैं। जिस पर्याय में गया वहाँ ही इसने शरीर से, इन्द्रियों से , इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य व भोगने योग्य पदार्थों से मोह किया। मरण के समय शरीर के साथ उन सब का वियोग हो गया, तब मानों उनका संयोग एक स्वप्न था व उनसे मोह करना वृथा या मिथ्या ही रहा।

सम्यग्दर्शन गुण के प्रकट होने पर सर्व मिथ्यात्व का विकार मिट जाता है। जब तक सम्यक्त्व नहीं होता है, यह देह का व देह के सुख का अभिनन्दन करता है, इन्द्रिय विषयभोग का ही लोलुपी होता है। तब पाँचों इन्द्रियों के विषयों की तीव्र लालसा रखता है। उनके मिलने पर हर्ष, न मिलने पर विषाद करता है, वियोग होने पर शोक करता है। जैसे- जैसे वे मिलते हैं अधिक तृष्णा की दाह को बढ़ा लेता है। मिथ्यादृष्टि का मोह संसार के सुखों का होता है वह भोग

विलास को ही जीवन का ध्येय मानता है। मानव होने पर स्त्री, पुत्र, पुत्री आदि कुटुम्ब के मोह में इतना ग्रसित हो जाता है कि रात- दिन उनके ही राजी रखने का व अपने विषय पोषने का उद्यम करता है, परलोक की चिन्ता भुला देता है।

आत्मा शरीर से भिन्न है ऐसा विचार शान्त मन से नहीं कर पाता है। वर्तमान जीवन की ही चिन्ता में उलझ जाता है। यदि कदाचित् दान, धर्म, तप, जप करता भी है तो उनके फल से वर्तमान में यश, धन, सन्तान व इच्छित विषय का लाभ चाहता है। कदाचित् परलोक का विश्वास हुआ तो देवगति के मनोज्ञ भोगों की तृष्णा रखता है। उसका सारा मन वचन व काय का वर्तन सांसारिक आत्मा के मोह के ऊपर निर्भर रहता है।

जब योग्य निमित्त के मिलने पर इस जीव को तत्त्वज्ञान होता है, इसकी मिथ्यात्व की ग्रंथि ढीली पड़ती है, तब यह समझता है कि संसार की दशा असार है, संसार का वास त्यागने योग्य है, बन्धन काटने योग्य है। आत्मा ही सच्चिदानन्दमय एक अपना जिनदेव अनुभव योग्य है, ध्यान करने योग्य ही है। अतीन्द्रिय सुख ही ग्रहण करने योग्य है, इन्द्रिय सुख त्यागने योग्य है। परमाणु मात्र भी आत्मा का नहीं है, ऐसा भेद- विज्ञान प्रगट होता है, तब वह उसी का बार- बार मनन करता है। तब सम्यग्दर्शन के निरोधक मिथ्यात्व कर्म व अनन्तानुबंधी चार कषाय का उदय समाप्त होता है। यह उपशम सम्यक्त्वी या उपशमसंवेदक सम्यक्त्वी हो जाता है। संसार अति निकट रहने पर वेदक से क्षायिक सम्यक्त्वी हो जाता है। सम्यक्त्व के उदय होते ही इसका सर्व मोह गल जाता है।

भीतरी प्रेम एक आत्मानन्द से ही रह जाता है। यही सम्यक्त्वी जीव निश्चिन्त होकर जब चाहे तब सुगमता से आत्मा को भीतर सर्व शरीरों से भिन्न ज्ञानाकार देख सकता है। उसको अपनापन अपने ही आत्मा पर रह जाता है, वह अन्य सर्व परद्रव्यों से पूर्ण विरागी हो जाता है। चारित्र मोह के उदय से रोगी के समान कटुक दवाई पीने के रूप में लाचार हो, विषय भोग करता है, भावना उनके त्याग की ही रहती है। दृष्टि में ग्रहण योग्य एक निज स्वरूप ही रहता है। सम्यग्दर्शन का धारी ही आत्मा का दर्शन भीतर कर सकता है।

श्री समयसारकलश में कहा है :-

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥९१॥

भावार्थ- ज्ञानी यह जानता है कि मैं एक चैतन्यमात्र ज्योतिरूप पदार्थ हूँ। जिससमय मेरे भीतर इस आत्मज्योति का प्रकाश होता है अर्थात् मैं जब आत्मा के शुद्धस्वभाव का अनुभव करता हूँ तब नानाप्रकार के विकल्प जालों का समूह जो इन्द्रजाल के समान मन में था, वह सब दूर हो जाता है। मैं निर्विकल्प स्थिर स्वरूप में रमणकारी हो जाता हूँ।

दोहा ६२

आत्मानुभव का फल केवलज्ञान व अविनाशी सुख है

अप्पइँ अप्प मुणंतयहँ किं णेहा फलु होइ ।
केवल- णाणु वि परिणवइ सासय- सुक्खु लहेइ ।।

अन्वयार्थ- **(अप्पइँ अप्पु मुणंतयहँ)** आत्मा को आत्मा के द्वारा अनुभव करते हुए **(किं णेहा फलु होइ)** कौन सा फल है जो नहीं मिलता है, और तो क्या **(केवलणाणु वि परिणवइ)** केवलज्ञान का प्रकाश हो जाता है **(सासय-सुक्खु लहेइ)** तब अविनाशी सुख को पा लेता है।

भावार्थ- आत्मा के द्वारा आत्मा का अनुभव करना मोक्षमार्ग है। जो कोई इस आत्मानुभव का अभ्यास करना प्रारम्भ करता है, उसको महान् फल की प्राप्ति होती है। जब तक केवलज्ञान न हो तब तक यह आत्मध्यानी ध्यान के समय चार फल पाता है। आत्मीक सुख का वेदन होता है। यह अतीन्द्रिय सुख उसी जाति का है जो सुख अरहंत सिद्ध परमात्मा को है। दूसरा फल यह है कि अन्तराय कर्म के क्षयोपशम बढ़ने से आत्मवीर्य बढ़ता है, जिससे हर एक कर्म को करने के लिये अन्तरंग में उत्साह व पुरुषार्थ बढ़ जाता है। तीसरा फल यह है कि पाप कर्मों का अनुभाग कम करता है। पुण्य कर्मों का अनुभाग बढ़ाता है। चौथा फल यह है कि आयु कर्म के सिवाय सर्व कर्मों की स्थिति कम करता है।

यदि केवलज्ञान उपजाने लायक ध्यान नहीं हो सका तो मरने के बाद मनुष्य देवगति में जाकर उत्तमदेव होता है। यदि देव हुआ तो मरकर उत्तम मनुष्य होता है। यदि सम्यग्दर्शन का प्रकाश बना रहा तो वह फिर हर एक जन्म में आत्मानुभव करके अपनी योग्यता बढ़ाता रहता है। शीघ्र ही मानव जन्म में परम वैरागी होकर परिग्रहत्यागी हो जाता है। साधु पद में धर्म ध्यान का आराधन करके क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर मोहनीय कर्म का क्षय करके फिर अन्तर्मुहूर्त

द्वितीय शुक्लध्यान के बल से शेष तीन घातीय कर्मों का भी क्षय करके अरहंत परमात्मा हो जाता है। तब अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख व अनन्तवीर्य से विभूषित हो जाता है, अविनाशी ज्ञान व अविनाशी सुख को झलका देता है।

आयुकर्म के अन्त में शेष चार कर्मों का क्षय करके सिद्ध परमात्मा हो जाता है। आत्मानुभव का अन्तिम फल निर्वाण है। जब तक निर्वाण का लाभ न हो तब तक साताकारी पदार्थों का संयोग है। आत्मानुभव का प्रेमी कभी नरक नहीं जाता है न पशुगति बाँधता है। यदि सम्यग्दर्शन के पहले नरकायु बँधी हो तो सम्यक्त्व के साथ पहले नरक में ही जाता है व तिर्यंचायु बाँधी हो तो भोगभूमि में ही पशु होता है। अनेक ऋद्धि चमत्कार आत्मध्यानी को सिद्ध हो जाते हैं।

इसी के प्रताप से श्रुतकेवली होता है। अवधिज्ञान व मनः पर्यय ज्ञान को पाता है। सर्व उत्तम संयोगों का फल देनेवाला आत्मा का अनुभव है। आत्मानुभवी का उद्देश्य केवल शुद्धात्मा का लाभ ही रहता है। परन्तु पुण्यकर्म के बढ़ने से ऋद्धि- सम्पदाएँ स्वयं प्राप्त हो जाती हैं। जैसे आम्रफल के लिये ही माली आम्र का वृक्ष बोता है, फल लगने के पहले वह माली वृक्ष के डाली व पुष्प का अनुभव करता है। जैसे राजप्रसाद की ओर जानेवाला सुन्दर मार्ग पर चलता है। दूर होने पर यदि विश्रांति लेनी पड़ती है तो मनोहर उपवनों में ठहरता है, शीतल ठण्डा पानी पीता है, पौष्टिक फलों को खाता है, सुख से ही राजगृह में पहुँचता है। वैसे ही मोक्ष का अर्थी निर्वाण पहुँचने के लिये आत्मानुभव की सुखदायी सड़क पर चलता है। जब तक पहुँचे तब तक नर व देव के शरीर में सुखपूर्वक विश्राम करता है। आत्मध्यान का अचिन्त्य फल है।

श्री तत्त्वानुशासन में कहा है:-

ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण त्रुटयन्मोहस्य योगिनः ।
चरमांगस्य मुक्तिः स्यात्तदा अन्यस्य च क्रमात् ॥२२४॥
तथा हच्चरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा ।
निर्जरा संवरश्च स्यात्सकलाऽशुभकर्मणां ॥२२५॥
आस्रवन्ति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणं ।
यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु ॥२२६॥
ततोऽवतीर्य मर्त्येपि चक्रवर्त्यादिसंपदः ।
चिरं भुक्त्वा स्वयं मुक्त्वा दीक्षां दैगंबरीं श्रितः ॥२२८॥

वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुर्विधं ।
विधूयाष्टापि कर्म्माणि श्रयते मोक्षमक्षयं ।।२२९।।

भावार्थ- ध्यान के अभ्यास की उत्तमता से चरम शरीरी योगी का मोह टूट जाता है। उसे उसी भव से मोक्ष हो जाता है। जो चरम शरीरी नहीं होता है वह क्रम- क्रम से मोक्ष को पाता है। जो योगी चरम शरीरी नहीं है उसके ध्यान के अभ्यास से सदा ही सर्व अशुभकर्म प्रकृतियों का संवर व उनकी निर्जरा होती जाती है। तथा प्रतिसमय महान पुण्य कर्म का आस्रव होता है, जिसके फल से स्वर्गों में जाकर महान ऋद्धिधारी देव होता है। वहाँ से मध्यलोक में आकर चक्रवर्ती आदि की सम्पदा को बहुत काल भोग कर फिर स्वयं उनको त्याग कर दिगम्बर साधु की दीक्षा लेता है। वज्रवृषभनाराच संहननधारी साधु चार प्रकार शुक्लध्यान के द्वारा आठों ही कर्मों का नाश करके अक्षय अमर मोक्ष को पा लेता है।

दोहा ६३

परभाव का त्याग संसारत्याग का कारण है

जे परभाव चएवि मुणि अप्पा अप्प मुणंति ।
केवल- णाण- सरूव लइ (लहि ?) ते संसारू मुचंति ।।

अन्वयार्थ- (जे मुणि परभाव चएवि अप्पा अप्प मुणंति) जो मुनिराज परभावों का त्याग कर आत्मा के द्वारा आत्मा का अनुभव करते हैं **(ते केवल-णाण-सरूव लइ (लहि) संसारू मुचंति)** वे केवलज्ञान सहित अपने स्वभाव को झलका कर संसार से छूट जाते हैं।

भावार्थ- यहाँ त्याग धर्म की आवश्यता बतायी है। राग, द्वेष, मोह भाव बंध के कारण हैं। इनको त्यागकर वीतराग भाव में रमण करने से संवर व निर्जरा का लाभ होता है। राग, द्वेष, मोह के उत्पन्न होने मे अन्तरंग कारण मोहनीय कर्म का उदय है, बाहरी कारण मोह व रोग-द्वेषजनक चेतन व अचेतन पदार्थ हैं। बाहरी त्याग होने पर अन्तरंग त्याग हो जाता है, जैसे धान्य का बाहरी छिलका दूर होने पर अन्तरंग पतला छिलका दूर होता है।

साधक को पहले तो मिथ्यात्व भाव का त्याग करना चाहिए। इसके लिए बाहरी कारण रागी- द्वेषी देवों की, परिग्रहधारी अन्य ज्ञान रहित साधुओं की व एकान्तनय में बहनेवाले शास्त्रों की भक्ति को छोड़े व तीव्र पापों से बचे। द्यूतरमण, मदिरापन, माँसाहार, चोरी, शिकार, वेश्या

व परस्त्री सेवन की रूचि को मन से दूर करे, नियमपूर्वक त्याग न कर सकने पर भी इनसे अरूचि पैदा करे, अन्याय सेवन से ग्लानि करे तथा वीतराग सर्वज्ञ देव निर्ग्रन्थ आत्मज्ञानी साधु, अनेकान्त से कहनेवाले शास्त्रों की भक्ति करे। सात तत्त्व को जानकर मनन करे तब अनन्तानुबन्धी कषाय व मिथ्यात्व भाव का विकार परिणामों से दूर होगा। सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान व स्वरूपाचरण चारित्र का लाभ होगा।

फिर अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन कषाय व नोकषाय के उदय से होने वाले राग द्वेष भावों को मिटाता है। तब पहले श्रावक के बारह व्रतों को पालकर राग- द्वेष कम करता है। ग्यारह प्रतिमाओं या श्रेणियों के द्वारा जैसे जैसे बाहरी त्याग करता जाता है, राग द्वेष अधिक-अधिक कम होता जाता है। पूर्ण राग- द्वेष के त्याग करने के लिए साधु दीक्षा आवश्यक है, जहाँ वस्त्रादि का पूर्णपने त्याग होता है। साधु होते हुए खेत, मकान, धन, धान्य, चांदी, सोना, दासी, दास, कपड़े, बर्तन इन दश प्रकार के बाहरी परिग्रह को त्यागकर बालक के समान समदर्शी, काम विकार से रहित निर्ग्रन्थ हो जाता है। अंतरंग चौदह प्रकार के भावपरिग्रह से ममता त्यागता है।

मिथ्यात्वभाव, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद इन १४ तरह के भावों से पूर्ण विरक्त हो जाता है। शत्रु-मित्र में, तृणसुवर्ण में व जीवन मरण में समभाव का धारी हो जाता है। एकान्त वन, उपवन पर्वतादि के निर्जन स्थानों पर बैठकर आत्मध्यान करता है तब एक अपने ही शुद्ध आत्मा को भाव में ग्रहण करता है, व सर्व परभावों से उपयोग को हटाता है।

जितने भाव कर्मों के निमित्त से होते हैं व जो अनित्य हैं उन सबसे राग त्यागता है। औदायिक, क्षयोपशमिक व छूटनेवाले औपशमिक भावों से विरक्त होकर क्षायिक व पारिणामिक जीवत्वभाव को अपना स्वभाव मानकर एक शुद्ध आत्मा की बार- बार भावना करता है। ऐसा मुनिराज राग- द्वेष को पूर्ण जीत लेता है।

क्षपकश्रेणी पर चढ़कर अन्तर्मुहूर्त में चार घातीय कर्मों का क्षय करके केवलज्ञानी हो जाता है। फिर चार अघातीय कर्मों का भी नाश करके संसार से मुक्त हो जाता है। परभावों के त्याग में ही आपके निजभाव का यथार्थ ग्रहण होता है तब शुद्ध आत्मानुभव प्रगट होता है। यही मोक्षमार्ग है व सदा ही आनन्द अमृत का पान करानेवाला है।

श्री समयसारकलश में कहा है :-

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥१८४॥
सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां,
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नाऽस्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥

भावार्थ- चैतन्यमय एक भाव ही आत्मा का निजभाव है। शेषसर्व रागादि भाव निश्चय से पर पुद्गलों के हैं। इसलिए एक चैतन्यमय भाव को ही ग्रहण करना चाहिए। शेष सर्व परभावों का त्याग करना चाहिए। शुद्ध भाव ही चलनेवाले मोक्षार्थी महात्माओं को इसी सिद्धान्त का सेवन करना चाहिए कि मैं सदा ही एक शुद्ध चैतन्यमय परम ज्योति स्वरूप हूँ। इसके सिवाय जो नाना प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वे मेरे शुद्धभाव से भिन्न लक्षणधारी ही हैं, उन रूप मैं नहीं हूँ, वे सब मुझसे भिन्न परद्रव्य ही हैं।

दोहा ६४

त्यागी आत्मध्यानी महात्मा ही धन्य हैं

धण्णा ते भवयंत बुह जे परभाव चयंति ।
लोयालोय- पयासय अप्पा विमल मुणंति ॥

अन्वयार्थ- **(जे परभाव चयंति)** जो परभावों का त्याग करते हैं और **(लोयालाय पयासयरू अप्पा मुणंति)** लोकालोक प्रकाशक निर्मल अपने आत्मा का अनुभव करते हैं **(ते भवयंत बुह धण्णा)** वे भगवान ज्ञानी महात्मा धन्य हैं।

भावार्थ- आत्मा का स्वरूप निश्चय से परम शुद्ध है। ज्ञान इसका मुख्य असाधारण लक्षण है। ज्ञान में वह शक्ति है कि एक समय में यह सर्व लोक के छः द्रव्यों को, उनकी पर्यायों को लिये हुए तथा अलोक को एक ही साथ क्रमरहित जैसे का तैसा जान सके। इसी तरह आत्मा में से सब गुण हैं जो सिद्ध भगवान में प्रगट हो जाते हैं।

स्वभाव से आत्मा सिद्ध के समान है। तत्त्वज्ञानी महात्मा जिस पद के लाभ का रूचिवान

होता है, उसी पद को ध्याता है। तब वह सर्व पर पदार्थों से वैरागी हो जाता है। पुण्योदय से प्राप्त होनेवाले नारायण, बलभद्र, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती, कामदेव, इन्द्र, धरणेन्द्र, अहमिन्द्र आदि पदों को कर्मजनित नाशवंत व आत्मा के शुद्ध स्वरूप से बाहर जान कर उन सब की ममता त्यागता है। इसी तरह जिन शुभ भावों से लौकिक उच्च पदों की प्राप्ति के योग्य पुण्य का बन्ध होता है, उनको भी नहीं चाहता है। धर्मानुराग, पाँच परमेष्ठी की भक्ति, अनुकम्पा, परोपकार, शास्त्र- पठन आदि शुभभावों के भीतर वर्तता है, क्योंकि शुद्धोपयोग में अधिक ठहर नहीं सकता है। आत्मवीर्य की कमी है तब अशुभभावों से बचने के लिये शुभभावों में रहते हुये भी ज्ञानी उनसे विरक्त रहता है।

परमाणुमात्र भी रागभाव बंध का कारण है ऐसा यह जानता है। चौदह गुणस्थान आत्मा की उन्नति की श्रेणियाँ हैं तथापि वे शुद्धात्मा के मूल, पर संयोग रहित, एकाकी स्वभाव से भिन्न हैं। इसलिए ज्ञानी इनको भी इसी तरह त्याग योग्य समझता है। जैसे सीढ़ियों पर चढ़नेवाला सीढ़ियों को त्याग योग्य समझकर छोड़ता जाता है। एक शुद्धोपयोग को ग्रहण करने का उत्सुक होकर धर्मप्रचार के विचारों को भी त्यागता है। द्रव्यार्थिकनय से आत्मा नित्य है, पर्यायार्थिकनय से अनित्य है। अभेदनय से एकरूप है, भेदरूप व्यवहारनय से अनन्तरूप है।

आत्मा गुण- पर्यायों का समूह हैं। लोक छः द्रव्यों का समुदाय है। कर्मों के १४८ भेद हैं, कर्मों का बंध चार प्रकार होता है। प्रकृति प्रदेश बंध योगों से व स्थिति अनुभाग बंध कषायों से होता है। सात तत्त्व हैं, नव पदार्थ हैं, इत्यादि सर्व विकल्पों को बन्धकारक जानकर त्याग देता है। निर्विकल्प समाधि व स्वानुभव के आलाप के लिये यह एक अपने ही आत्मा के भीतर आत्मा के द्वारा अपने ही आत्मा को विदा देता है।

इस तरह जो ज्ञानी व विरक्त पुरुष संसार की सर्व प्रपंचावली से पूर्ण विरक्त होकर आत्मध्यान करते हैं। वे परमानन्द के अमृत का पान करते हैं, वे ही विवेकी पंडित हैं, वे ही परम ऐश्वर्यवान हैं, रत्नत्रय की अपूर्व सम्पदा के धनी हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता में लवलीन हैं, वे ही भाग्यवान हैं, भगवान हैं, अतीन्द्रिय ज्ञान व सुख के स्वामी हैं, शीघ्र ही मोक्षलाभ करेंगे।

श्री आत्मानुशासन में कहा है :-

येषां भूषणमंगसंगतरजः स्थानं शिलायास्तलम् ,
शय्या शर्करिला मही सुविहितं गेहं गुहा द्वीपिनाम् ।

आत्मात्मीयविकल्प वीतमतयस्त्रुटयत्तमोग्रन्थय-
स्ते नो ज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निस्पृहाः ॥२५९॥

भावार्थ- जिन महात्माओं का गहना शरीर में लगी रज है, जिनको बैठने का स्थान पाषाण की शिला है, जिनकी शैय्या कंकरीली भूमि है, जिनका सुन्दर घर बाघों की गुफा है, जिन्होंने अपने भीतर से सर्व विकल्प मिटा दिये हैं व जिन्होंने अज्ञान की गांठों को तोड़ डाला है। जिन के पास सम्यग्ज्ञान धन है, जो मुक्ति के प्रेमी हैं, अन्य सब इच्छाओं से दूर हैं - ऐसे योगीगण हमारे मन को पवित्र करें।

दोहा ६५

गृहस्थ या मुनि, दोनों के लिये आत्मरमणता सिद्ध- सुख का उपाय है

सागारू वि णागारू कु वि जो अप्पाणि वसेइ।
सो लहु पावइ सिद्धि- सुहु जिणवरू एम भणेइ ॥

अन्वयार्थ- (सागारू वि णागारू कुवि) गृहस्थ हो या मुनि कोई भी हो **(जो अप्पाणि वसेइ)** जो अपने आत्मा के भीतर वास करता है **(सो सिद्धि- सुहु लहु पावइ)** वह शीघ्र ही सिद्धि के सुख को पाता है **(जिणवरू एम भणेइ)** जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है।

भावार्थ- आत्मीक अतीन्द्रिय आनन्द को सिद्धि सुख या सिद्धों का सुख कहते हैं। जैसा शुद्धात्मा का अनुभव सिद्ध भगवानों को है, वैसा ही शुद्धात्मा का अनुभव जब होता है, तब जैसा सुख सिद्धों को वेदन होता है, वैसा ही सुख शुद्धात्मा के वेदन करनेवालों को होता है।

आत्मीक आनन्द का स्वाद जिस साधन से हो वही मोक्ष का उपाय या आनन्द या सुख का साधन है क्योंकि स्वानुभव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों ही गर्भित है। स्वानुभव ही निश्चयरत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है। उसी से नवीन कर्मों का संवर होता है व पुराने कर्मों की निर्जरा होती है। यही सीधी सड़क मोक्षमहल की तरफ गई है। इसके सिवाय कोई दूसरी सड़क नहीं है व बाहरी साधन मन, वचन, काय की शक्ति को निराकुल करने के लिये है। जितनी मन में निराकुलता व निश्चिन्तता अधिक होगी, उतना ही मन स्वानुभव में बाधक नहीं होगा।

जगत के प्रपंच जाल मन, वचन, काय को अटकाते हैं, उलझाते हैं, इसलिए मोक्षमार्ग में बाहरी निकट साधन साधु या अनगार का चारित्र है व क्रमशः बाहरी साधन सागार का - श्रावक

का चारित्र है। श्रावक का चारित्र पालते हुए साधु चरित्र पालन की योग्यता होती है। बिना साधु का चारित्र पाले कर्म का नाशक तीव्र स्वानुभव नहीं जागृत होता है। श्रावक का चरित्र व्यवहार से ग्यारह प्रतिमा रूप है। व्यवहार क्रम- क्रम से बढ़ता जाता है। पहले- पहले प्रतिमा का व्यवहार दूसरी तीसरी आदि प्रतिमा में बना रहता है आगे और बढ़ जाता है, उसका संक्षेप इस प्रकार है -

(1) दर्शन प्रतिमा - सम्यग्दर्शन को दोष रहित पाले, २५ दोषों को बचावे, निः शंकित, निः कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य,प्रभावना आठ अंग पालकर इनके प्रतिपक्षी आठ दोषों सेबचे। जाति, कुल, धन, अधिकार, रूप, बल, विद्या, तप, आठ प्रकार मद न करे। देव, गुरु, लोक मूढ़ता त्यागे। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र व इनके तीन प्रकार के सेवक इन छः अनायतनों का सेवन, भक्ति आदि न करे। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग इन पाँच व्रतों के एकदेश साधन का अभ्यास करे। देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, तप, संयम, दान, इन छः कर्मों का नित्यप्रति पालन करे।

(2) व्रत प्रतिमा - पाँच अणुव्रतों को दोष रहित पाले। दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड- त्यागव्रत इन तीन गुणव्रतों को व सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण व अतिथिसंविभाग इन चार शिक्षाव्रतों को पालने का अभ्यास करे।

(3) सामायिक प्रतिमा - तीन संध्याओं में सबेरे, दोपहर, शाम, समभाव या शांतभाव से स्वानुभव का अभ्यास करे व राग- द्वेष छोड़े।

(4) प्रोषध प्रतिमा - महीने में चार दिवस दो अष्टमी दो चौदह को उपवास करे।

(5) सचित्त- त्याग प्रतिमा - जीव सहित सचित्त भोजन पान नहीं करे।

(6) रात्रि- भोजन त्याग प्रतिमा - रात्रि को न आप भोजन पान करे न दूसरो को करावे।

(7) ब्रह्मचर्य प्रतिमा - मन, वचन, काय से ब्रह्मचर्य पाले। स्वस्त्री से भी विरक्त हो जावे।

(8) आरम्भ त्याग प्रतिमा - खेती व्यापारादि आरम्भ नहीं करे, आरम्भी हिंसा छोड़े।

(9) परिग्रह त्याग प्रतिमा - भूमि, मकान, धनादि परिग्रह त्याग करके कुछ वस्त्र व पात्र रख ले, घर छोड़कर बाहर एकांत में रहे, संतोष से दूसरे के यहां निमंत्रण से भोजन करे, आप स्वयं नहीं बनावे।

(10) अनुमति त्याग प्रतिमा - लौकिक कामों में सम्मति देने का त्याग करे, भोजन के समय

निमंत्रण से जावे।

(11) उद्दिष्ट- त्याग प्रतिमा- अपने लिये किये गये भोजन को न लेवे, भिक्षा से भोजन करे। क्षुल्लक होकर एक लंगोट, एक खंड चादर व पीछी, कमंडल रखे। ऐलक होकर केवल एक लंगोटी व पीछी कमंडल रखे।

फिर साधु हो वस्त्ररहित हो जावे, पाँच महाव्रत अहिंसादि पूर्ण पाले व पांच समिति पाले। **(1) ईया** - देखकर चले, **(2) भाषा-** शुद्ध वाणी बोले, **(3) एषणा (रस त्याग)** - शुद्ध भोजन लेवे, **(4) आदाननिक्षेपण-** देखकर उठावे धरे, **(5) व्युत्सर्ग-** मल, मूत्र देखकर करे, मन वचन काय को वश रखकर तीन गुप्ति पाले। यह तेरह प्रकार का साधु का व्यवहार चारित्र है। इस प्रकार श्रावक या साधु के व्यवहार चारित्र को पालते हुए स्वानुभव का अभ्यास बढ़ावे तो वह धीरे- धीरे आत्मानंद को पाता हुआ मोक्ष की तरफ बढ़ता चला जाता है। आत्मा में ही जो तिष्ठते हैं, वे ही सिद्ध सुख को सदा पाते हैं।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है :-

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्॥३९॥
हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम्॥४०॥

भावार्थ- सर्व पापबन्ध के कारण मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को त्यागना व्यवहार चारित्र है। सर्व कषाय की कालिमा रहित, निर्मल, उदासीन, आत्मानुभवरूप निश्चयचारित्र है। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच से पूर्ण विरक्त होना साधु का व एकदेश विरक्त होना श्रावक का व्यवहार चारित्र है।

दोहा ६६

तत्त्वज्ञानी विरले होते हैं

विरला जाणहिं तत्तु बुह बिरला णिसुणहिं तत्तु।
विरला झायहिं तत्तु जिय बिरला धारहिं तत्तु॥

अन्वयार्थ- **(बिरला बुह तत्तु जाणहिं)** विरले ही पंडित आत्मतत्त्व को जानते हैं **(विरला**

तत्तु णिसुणहिं) विरले ही श्रोता तत्त्व को सुनते हैं **(विरला जिय तत्तु झायहिं)** विरले जीव ही तत्त्व को ध्याते हैं **(विरला तत्तु धारहिं)** विरले ही तत्त्व को धारणा करके स्वानुभवी होते हैं।

भावार्थ- आत्मज्ञान का मिलना बड़ा कठिन है। थोड़े ही प्राणी इस अनुपम तत्त्व का लाभ कर पाते हैं। मनरहित पंचेन्द्रिय तक के प्राणी विचार करने की शक्ति बिना आत्मा- अनात्मा का भेद नहीं जान सकते हैं। सैनी पंचेन्द्रियों में नारकी जीव रात दिन कषाय के कार्य में लगे रहते हैं। किन्हीं प्राणियों को आत्मज्ञान होता है। पशुओं में भी आत्मज्ञान के पाने का साधन विरला है। देवों में विषय भोग की अति तीव्रता है। वैराग्य भाव की दुर्लभता है। किन्हीं को आत्मज्ञान होता है। मानवों के लिये साधन सुगम है तो भी बहुत दुर्लभ है।

अनेक मानव रात- दिन शरीर की क्रिया में ऐसे तल्लीन रहते हैं कि उनको आत्मा की बात सुनने का अवसर ही नहीं मिलता है। जिनको अवसर मिलता है वे भी व्यवहार में इतने फंसे होते हैं कि व्यवहार धर्म के ग्रन्थों को पढ़ते सुनते हैं; अनेक बड़े विद्वान पंडित हो जाते हैं; न्याय, व्याकरण, काव्य, पुराण, वैद्यक, ज्योतिष की पाप पुण्य बंधक क्रियाओं की विशेष चर्चा करते हैं। अध्यात्म ग्रन्थों पर सूक्ष्मदृष्टि देकर न पढ़ते हैं न विचारते हैं।

निश्चयनय से अपना ही आत्माआराध्य देव है ऐसा दृढ़ विश्वास नहीं कर पाते हैं। अनेक पंडित आत्मज्ञान बिना केवल विद्या के घमंड में व क्रियाकांड के पोषण में ही जन्म गंवा देते हैं। **जिनके मिथ्यात्व का व अनंतानुबन्धी कषायों का बल ढीला पड़ता है, उन्हीं विद्वानों को तत्त्वरूचि होती है। अध्यात्म के विद्वान बहुत थोड़े मिलते हैं। जब तक ऐसे उपदेशक न मिलें तब तक श्रोताओं को आत्मज्ञान का लाभ होना कठिन है।**

यदि कहीं पर आत्मज्ञानी पंडित होते भी हैं तो आत्मा के हित की गाढ़ रूचि रखनेवाले श्रोताओं की कमी रहती है। जिनके भीतर संसार के मोहजाल से कुछ उदासी होती है वे ही आत्मीक तत्त्व की बातों को ध्यान से सुनते हैं, सुनकर धारण करते हैं, विचार करते हैं। जिनके भीतर गाढ़ रूचि होती है, वे ही निरन्तर आत्मीक तत्त्व का चिन्तवन करते हैं। आत्मध्यानी बहुत थोड़े हैं, इनमें भी निर्विकल्प समाधि पाने वाले, स्वानुभव करनेवाले दुर्लभ हैं।

आत्मज्ञान अमूल्य पदार्थ है, मानव जन्म पाकर इसके लाभ का प्रयत्न करना जरूरी है। जिसने आत्मज्ञान की रूचि पायी उसने ही निर्वाण जाने का मार्ग पा लिया।

यही सम्यग्दर्शन है। जब बुद्धि सूक्ष्म विचार करने की हो तब प्रमाद छोड़कर पहले व्यवहारनय से जीवाजीव तत्त्वों के कहनेवाले शास्त्र पढ़े। बंध व मोक्ष के व्यवहार साधनों को जान लेवे फिर निश्चयनय की मुख्यता से प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र का मनन करके अपने आत्मा को द्रव्य रूप से शुद्ध जाने। भेद- विज्ञान का मनन करे। जैसे पानी से कीच भिन्न है वैसे मेरे आत्मा से आठ कर्म, रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्म भिन्न हैं।

बार- बार अभ्यास के बल से सम्यग्दर्शन का प्रकाश होगा। तब अनादि का अज्ञान अन्धकार मिटेगा, जन्म कृतार्थ होगा, निर्वाण का मार्ग हाथ में आ गया, फिर क्या चाहिये। **जन्म- जन्म के संकटों को मिटानेवाला यह आत्मज्ञान है।** यद्यपि यह दुर्लभ है तथापि इसी के लिये पुरुषार्थ करना व इसे प्राप्त कर लेना ही मानव जन्म का सार है।

श्री समयसार में कहा है :-

सुद परिचिदाणुभूदा सव्वस्य वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलम्भो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ।।४।।

भावार्थ- सर्व संसारी प्राणियों को काम- भोग सम्बन्धी कथा बहुत सुगम हैं क्योंकि अनन्त बार सुनी है, अनन्त बार उनकी पहचान की है, अनन्तबार विषयों का अनुभव किया है। दुर्लभ है तो एक परभाव रहित व अपने एक स्वरूप में तन्मय ऐसे शुद्धात्मा की बात है। इसी का प्राप्त होना कठिन है।

श्री सारसमुच्चय में कहा है :-

ज्ञानं नाम महारत्नं यन्न प्राप्तं कदाचन ।
संसारे भ्रमता भीमे नानादुःखविधायिनि ।।१३।।
अधुना तत्त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनसंयुतम् ।
प्रमादं मा पुनः कार्षीर्विषयास्वादलालसः ।।१४।।

भावार्थ- इस भयानक व नाना प्रकार के दुःखों से भरे हुए संसार में रूलते हुए जीव ने आत्मज्ञान रूपी महान् रत्न को कहीं नहीं पाया। अब तूने इस उत्तम सम्यग्दर्शन को पा लिया है तब तो प्रमाद न कर, विषयों के स्वाद में लोभी होकर इस अपूर्व तत्त्व को खो न बैठे। सम्हालकर रक्षा कर सुखी बने।

दोहा ६७

कुटुम्ब मोह त्यागने योग्य है

इहु परियण ण हु महतणउ इहु सुहु- दुक्खहँ हेउ
इम चिंतंतहँ किं करइ लहु संसारहँ छेउ ।।

अन्वयार्थ- **(इह परियण महतणउ ण हु)** यह कुटुम्ब परिवार मेरा निश्चय से नहीं है **(इहु सुहु दुक्खहँ हेउ)** यह भाव सुख दुख का ही कारण है **(इम किं चिंततहँ)** इस प्रकार कुछ विचार करने से **(संसारहँ छेउ लहु करइ)** संसार का छेद शीघ्र ही कर दिया जाता है।

भावार्थ- यही प्राणी इन्द्रिय सुख का लोलुपी होता है। अपने सुख की प्राप्ति में सहकारी प्राणियों से मोह कर लेता है। बाल्यावस्था में माता पिता द्वारा पाला पोषा जाता है व लाड़ प्यार में रखा जाता है , उससे उनका तीव्र मोही हो जाता है। युवावय में स्त्री से व पुत्र- पुत्री से इन्द्रिय सुख पाता है, इसलिए उनका मोही हो जाता है। जिन मित्रों , नौकरों- चाकरों से इन्द्रिय सुख- भोग में मदद मिलती है, उनका मोही हो जाता है। व जिन से इन्द्रिय सुख में बांधा पहुँचती है उनका शत्रु बन जाता है।

कुटुम्ब के मोह में ऐसा उलझ जाता है कि उसको आत्मा के स्वरूप के विचार के लिये अवकाश ही नहीं मिलता है। रात दिन उन परिवार जनों के लिए धन कमाने में व धन की रक्षा करने में ही लगा रहता है। यदि कोई कुटुम्बी अपनी आयुकर्म के क्षय से मर जाता है तो यह मोही प्राणी उनके शोक में बावला हो जाता है। वह इस बात को भूल जाता है कि परिवार का सम्बन्ध वृक्ष पर अनेक पक्षी भिन्न भिन्न स्थानों से आकर जमा हो जाते हैं, सबेरा होने पर सर्व पक्षी अलग अलग अपने अपने स्थानों को चले जाते हैं , वैसे ही एक परिवार में नाना जीव कोई नरक से, कोई पशुगति से, कोई देवगति से, कोई मनुष्य गति से आकर जमा हो जाते हैं।

सब अपनी अपनी आयुपर्यंत रहते हैं। आयु के क्षय होते ही अपने बाँधे हुए पाप पुण्य कर्म के अनुसार कोई देवगति में, कोई मनुष्यगति में कोई तिर्यंचगति में, कोई नरकगति में चले जाते हैं, किसी का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। सब प्राणी अपने सुख के स्वार्थ में दूसरों से मोह करते हैं। स्वार्थ न सधने पर नेह छोड़ देते हैं, पुत्र विरूद्ध हो जाते हैं, वृद्धावस्था में स्वार्थ सधता न देखकर कुटुम्बीजन वृद्ध की अवज्ञा करते हैं। कुटुम्ब से यदि इन्द्रियों के विषय सधते हैं तब तो वे सुख के

कारण भासते हैं। जब उनसे विषय भोग में हानि पड़ती है, तब ही दुःख के कारण हो जाते हैं।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव को जल में कमल के समान गृहस्थ को रहना चाहिये, मोह न करना चाहिए। उनको अपने जीव से पृथक मानकर उन जीवों का उपकार बने सो करना चाहिये। उनकी रक्षा, शिक्षा व सुख से निर्वाह में सहायी होना चाहिए। उनको आत्मज्ञान के मार्ग पर लगाना चाहिये। यदि वे अपना काम न करें, व कम करें तो मन में विषाद न करना चाहिए। बदले में सुख पाने के लोभ से उनका हित न करना चाहिए। उनके हित के पीछे अन्याय से धन न कमाना चाहिए, न अपने आत्मकल्याण को भुलाना चाहिए। जो कुटुम्ब परिवार का मोह छोड़ देते हैं, वे सहज वैराग्यवान हो जाते हैं।

अथवा आत्महित करते हुए जब तक गृहस्थी में रहते हैं उनकी सेवा निष्पाप भाव से करते हैं। जब अप्रत्याख्यान कषाय का उदय अतिशय मन्द रह जाता है, तब कुटुम्ब त्यागी श्रावक हो जाते हैं, पर से मोह नहीं करते हैं, केवल एक निज आत्मा की ही गाढ़ भक्ति करनेवाले भव्य जीव शीघ्र ही भवसागर से पार हो जाते हैं।

श्री बृहत् सामायिक पाठ में कहा है :-

कान्तासद्मशरीरजप्रभृतयो ये सर्वथाऽप्यात्मनो,
भिन्नाः कर्मभवाः समीरणचला भायाबहिर्भाविनः ।
तैः संपत्तिमिहात्मनो गतधियो जानन्ति ये शर्म्मदां,
स्वं संकल्पवसेन ते विदधते नाकीशलक्ष्मीः स्फुटं ।।८५।।

भावार्थ- यह स्त्री, धन, पुत्रादि सर्वथा ही अपनी आत्मा से भिन्न हैं, बाहरी रहनेवाले हैं, कर्म के उदय से प्राप्त हैं, वायु के समान उनका संयोग चंचल है। जो मूढ़ बुद्धि इनके संयोग से सुखदायी संपत्ति होना समझते हैं वे ऐसे ही मूर्ख हैं जो अपने मन के संकल्प से ही स्वर्ग की लक्ष्मी को प्राप्त करना चाहते हैं।

दोहा ६८

संसार में कोई अपना नहीं है

इंद-फणिंद-णरिंदय वि जीवहं सरणु ण होंति ।
असरणु जाणिवि मुणि- धवला अप्पा अप्प मुणंति ।।

अन्वयार्थ- **(इंद-फणिंद-णरिंदय वि जीवहं सरणु ण होंति)** इन्द्र, धरणेन्द्र व चक्रवर्ती कोई भी संसारी प्राणियों के रक्षक नहीं हो सकते **(मुणि- धवला असरणु जाणिवि)** उत्तम मुनि अपने को अशरण जानकर **(अप्पा अप्प मुणंति)** अपने आत्मा द्वारा आत्मा का अनुभव करते हैं।

भावार्थ- संसारी प्राणी कर्मों के उदय को भोगते हैं तब कोई उस उदय को मिटा नहीं सकता। जब आयुकर्म क्षय होता है और मरण हो जाता है, तब किसी इन्द्र, धरणेन्द्र व नरेन्द्र में, मन्त्र-ज्ञाता में, विद्वान में, तपस्वी में, परममित्र में, माता- पिता में, पुत्र- पुत्री में, वैद्य व ज्योतिषों में इतनी शक्ति नहीं है कि मरण से एक क्षण भी रोक सके। स्वयं सर्व प्रकार भोगों को भोगनेवाले चक्रवर्ती को भी शरीर त्यागना पड़ता है। इन्द्र व देव को भी देवगति के भोग त्यागकर मध्यलोक में जन्म लेना पड़ता है। इसीतरह जब पाप कर्मों का तीव्र उदय आ जाता है तब रोग, शोक हर एक को सहना पड़ता है, तब भी कोई दुख को बँटा नहीं सकता है। प्राणी को अकेले ही भोगना पड़ता है, माता पिता को पुत्र पर बहुत प्रेम होता है व पुत्र के रोगी होने पर वह मोह से दुःख मानती है परन्तु ऐसी शक्ति माता में नहीं है जो पुत्र के रोग की वेदना को पुत्र को न भोगने दें, और आप भोग लेवे।

कोई किसी के दुःख या सुख को या साता असाता वेदनीय कर्म को नहीं ले सकता। कर्मों के फल भोगने में सब जीवों को स्वयं ही वर्तना पड़ता है, कोई भी रक्षा नहीं कर सकता। जो कर्म अभी सत्ता में है उदय में नहीं आए हैं, उन कर्मों की स्थिति व अनुभाग घटाकर क्षय किया जा सकता है या पाप कर्मों को निर्बल व पुण्य कर्म को सबल किया जा सकता है, उनमें कारण उसी जीव के परिणाम हैं। जो कोई अपने शुद्धात्मा की भावना भावें व अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु की भक्ति करें या कृतपाप का प्रतिक्रमण करें, गुरु के पास आलोचना करें तो निर्मल भावों से कर्मों की अवस्था को बदला जा सकता है, उनका क्षय किया जा सकता है।

इसलिए यह जीव आप ही अपना रक्षक है। दूसरा जीव दूसरे जीव का रक्षक नहीं है ऐसा जानकर ज्ञानी मुनिराज अपने शुद्धात्मा का ही अनुभव करते हैं। जब आत्मध्यान में उपयोग नहीं लगता है तब स्वाध्याय, भक्ति, मनन, परोपदेश, वैयावृत्य एवं तत्त्वचर्चा में उपयोग को जोड़ते हैं।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को अशरण भावना का विचार करके कर्मों के क्षय का उपाय करना योग्य है जिससे कर्मों के उदयकाल में दुःख, खेद व आकुलता न सहनी पड़े। जन्म, जरा, मरण के

संकटों में न पड़ना पड़े। कर्मों का संयोग एक क्षण के लिये भीआत्मा के लिये गुणकारी नहीं है। ज्ञानी जीव इसलिए इस संसार के साथ मोह त्याग देते हैं। सर्व जीवों की सत्ता भिन्न-भिन्न मानकर उनसे राग-द्वेष नहीं करते हैं समभाव से जगत के चरित्र को देखकर पूर्ण वैराग्यवान होकर आत्महित में प्रवर्तते हैं। कर्म के क्षय पर कटिवद्ध हो जाते हैं। आत्मध्यान की अग्नि जलाकर कर्म का होम करते हैं। जब यह आत्मा शुद्ध व कर्म रहित हो जायेगा तब वह स्वाधीन हो जायेगा। फिर कभी कर्मों के उदय की पराधीनता में नहीं रहना पड़ेगा। कर्मभूमि के मानव को आयुक्षय का नियम नहीं है, अकाल- मरण हो सकता है ऐसा जानकर शीघ्र से शीघ्र आत्महित में लग जाना चाहिए। आप ही अपने आत्मा की शरण को परम शरण जानना चाहिए।

श्री समयसार में कहा है :-

जो अप्पणा दु मण्णदि दुखिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५३॥

भावार्थ- जो कोई ऐसा अहंकार करे कि मैं परजीवों को दुःखी व सुखी कर सकता हूँ, वह मूर्ख व अज्ञानी है क्योंकि सर्व जीव अपने अपने पाप पुण्य कर्मोदय से दुःखी या सुखी होते हैं। ज्ञानी जीव इस अहंकार से दूर रहते हैं।

श्री बृहत् सामायिक पाठ कहते हैं :-

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्रा न कांता न माता न भृत्या न भूपाः।
यमालिंगि रक्षितुं संति शक्ता विचिंत्येति कार्य निजकार्यमार्यैः ॥३३॥

भावार्थ- जब मरण आ जाता है तो न वैद्य, न पुत्र, न ब्राह्मण, न इन्द्र, न अपनी स्त्री, न माता, न नौकर, न राजा कोई भी बचा नहीं सकते हैं। ऐसा विचार करके सज्जनों को आत्मीक काम कर लेना योग्य है, देर नहीं लगानी चाहिये।

दोहा ६९

जीव सदा अकेला है

इक्क उपज्जइ मरइ कु वि दुहु सुहु भुंजइ इक्कु।
णरयहँ जाइ वि इक्क जिउ तह णिव्वाणहँ इक्कु ॥

अन्वयार्थ- (इक्क उपज्जइ मरइ कु वि) जीव अकेला ही जन्मता है व अकेला ही मरता है

(इक्कु दुहु सुहु भुंजइ) अकेला ही दुःख या सुख भोगता है **(इक्क जिय णरयहं जाइ वि)** अकेला ही जीव नरक में ही जाता है **(तह इक्कु णिव्वाणहँ)** तथा अकेला जीव ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

भावार्थ- यहाँ एकत्व भावना का विचार किया गया है। व्यवहार नय से यह संसारी जीव शरीर सहित अशुद्धदशा में चारों गतियों में कर्मोदय के अनुसार भ्रमण किया करता है। इस एक जन्म में माता - पिता, भाई- बन्धु वगैरह मित्र व अन्य चेतन व अचेतन पदार्थों का संयोग होता रहा, छूटता रहा। इस जीव को अकेला ही सबको छोड़कर दूसरी गति में जाना पड़ा। एक पाप- पुण्य कर्म ही साथ रहा।

कर्मों का बंध यह जीव अपने शुभ व अशुभ भावों से जैसा करता है, वैसा ही उनका फल यह जीव अकेला ही भोगता है। यदि कोई मोही मानव कुटुम्ब के मोह में पर को घोर कष्ट देकर धन कमाता है, महान हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलादि पाप करता है, उन कर्मों को करते हुए यदि नरकायु का बंध पड़ता है, तो इस जीव को अकेला ही नरक में जाकर दुःख सहना पड़ता है, कोई कुटुम्बीजन साथ नहीं आ सकता है। इसीतरह यदि कोई शुभ काम करता है व पुण्य बाँधकर स्वर्ग जाता है तो अकेला ही वहाँ का सुख भोगना पड़ता है। वह अपने साथ किसी मित्र, स्त्री या पुत्र को ले जा नहीं सकता है। हर एक जीव की सत्ता निराली है।

कर्मों का बंध निराला है, भावों का पलटना निराला है, साता व असाता का भोगना निराला है। चार भाई एक सी स्थिति में नहीं पाए जाते हैं। एक धनवान होकर सांसारिक सुख भोगता है, एक निर्धन होकर कष्ट से जीवन निर्वाह करता है, एक विद्वान होकर देशमान्य हो जाता है, एक मूर्ख रहकर निरादर पाता है। जब रोग आता है तब इस जीव को उसकी वेदना स्वयं ही सहनी पड़ती है, पास में बैठनेवाला भी उस वेदना को नहीं भोग सकता है।

संसार के कार्यों में भी इस जीव को अकेला ही वर्तना पड़ता है। सब ही संसारी जीव अपने अपने स्वार्थ के साथी हैं। स्वार्थ न सधने पर स्त्री, पुत्र, मित्र, चाकर सब प्रीति त्याग देते हैं। इसलिए ज्ञानी जीव को समझना चाहिए कि मैं ही अपनी मन, वचन, काय की क्रिया का फल आप ही भोगूँगा। अतएव दूसरों के असत्य मोह में पकड़कर पापकार्य को नहीं करना चाहिए। नौका में पथिकों के समान सर्व संयोगों को छूटनेवाला अथिर मानना चाहिए। उनमें राग, द्वेष, मोह न करके समभाव में वर्तना चाहिये। भीतर में निर्मोही रहकर उनका उपकार करना चाहिए,

परन्तु अपने को जल में कमल के समान अलिप्त रखना चाहिए।

यह जीव जैसे आप अकेला संसार की चार गतियों में भ्रमता है वैसे ही यदि यह रत्नत्रय धर्म का सम्यक् प्रकार आराधना करे तो आप ही अकेला निर्वाण चला जाता है। उसके साथी यदि उसके समान सम्यक्चारित्र नहीं पालते हैं तो वे निर्वाण नहीं जा सकते।

निश्चयनय से भी यह जीव बिल्कुल अकेला है। हर एक जीव का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव दूसरे जीव से निराला है। हर एक जीव परमशुद्ध है। न आठों कर्मों का संयोग है, न शरीर का संयोग है, न विभाव भावों का संयोग है। पुद्गलादि पाँच अचेतन द्रव्यों से बिल्कुल भिन्न है। सिद्ध के समान शुद्ध निरञ्जन व निर्विकार है, इस तरह अपने को अकेला जानकर अपने स्वभाव में मगन रहना चाहिए।

श्री बृहत् सामायिक पाठ में कहा है:-

गौरो रूपधरो दृढ परिदृढ: स्थूल: कृश: कर्कशो,
गीर्वाणो मनुज: पशुर्नरकभू: षंढ: पुमानंगना।
मिथ्यात्त्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढोऽविबुध्यात्मनो,
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्व्वव्यपायच्युतं ॥७०॥

भावार्थ- तू मूढ़ बनकर यह मिथ्या कल्पना किया करता है कि मैं गोरा हूँ, रूपवान हूँ, मजबूत शरीर हूँ, पतला हूँ, कठोर हूँ, देव हूँ, मनुष्य हूँ, पशु हूँ, नारकी हूँ, नपुंसक हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ। तू अपने आत्मा को नहीं जानता है कि यह एक अकेला ज्ञानस्वभावी, निर्मल, सर्व दुःखों से रहित अविनाशी द्रव्य है।

दोहा ७०

निर्मोही हो आत्मा का ध्यान कर

एक्कु लउ जइ जाइसिहि तो परभाव चएहि।
अप्पा झायहि णाणमउ लहु सिव- सुक्ख लहेहि॥

अन्वयार्थ- **(जइ एक्कुलउ जाइसिहि)** यदि तू अकेला ही जायेगा **(तो परभाव चएहि)** तो राग, द्वेष, मोहादि परभावों को त्याग दे **(णाणमउ अप्पा झायहि)** ज्ञानमय आत्मा का ध्यान कर **(लहु सिव- सुक्ख लहेहि)** तो शीघ्र ही मोक्ष का सुख पाएगा।

भावार्थ- आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! यदि तुझको यह निश्चय हो गया है कि तू एक दिन मरेगा तब तुझे परलोक में अकेला ही जाना पड़ेगा। कोई भी चेतन या अचेतन पदार्थ तेरे साथ नहीं जायेंगे। जिनसे तू राग करता है वे सब यहाँ ही छूट जायेंगे, तब तेरा उनसे राग करना वृथा है। ऐसे क्षणभंगुर पदार्थों से राग करना शोक व दुःख का कारण है।

इसलिए तू अब ऐसा काम कर जिससे तुझे थिरता प्राप्त हो। अविनाशी मोक्ष का अनुपम सुख प्राप्त हो। संसार में जन्म- मरण करना नहीं पड़े। इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग के कष्ट सहना न पड़े। पराधीन होकर पापकर्मों का फल न भुगतना पड़े, जिससे तू निरंतर सुखी रहे। कभी भी बाधा न पावे व पूर्ण स्वाधीन हो जावे, परम कृतार्थ हो जावे, तृष्णा की ज्वाला शांत हो जावे। कषाय की आग बुझ जावे। परम शांति का प्रवाह निरन्तर बहने लगे, सर्व लोकालोक का ज्ञाता दृष्टा हो जावे। निरन्तर आत्मा के ही उपवन में रमण करे, कभी भी खेद न प्राप्त करे। तुझे योग्य है कि मरने के पहले ही यत्न कर ले। मानव देह से ही शिवपद मिल सकता है, पशु देह से कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है।

इस अवसर को खोना उचित नहीं है। वह उपाय यही है कि जो- जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपना नहीं है उसे पर समझकर उन सबसे राग उठा ले। केवल अपने ही ज्ञानस्वरूपी आत्मा के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को अपना जानकर उसमें ही परम रूचिवान हो जा, उसी का प्रेमी हो जा। उसी में मगन रहने का, उसी के ध्यान का अभ्यास कर। आत्मीक रस के पान का उद्यम कर। जगत में अनन्तानन्त आत्माओं का, अनन्तानन्त पुद्गलों का, असंख्यात कालाणुओं का, एक धर्मद्रव्य का, एक अधर्मद्रव्य का, एक आकाश द्रव्य का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मा के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से निराला है।

मेरा आत्मा अखण्ड अभेद एक द्रव्य है, असंख्यात प्रदेश उसका क्षेत्र है, समय परिणमन काल है, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि शुद्ध भाव है यही मेरा सर्वस्व है। कर्म संयोग से होने वाले राग द्वेष मोह भाव, संकल्प- विकल्प, विभाव मतिज्ञानादि चार ज्ञान आदि सब पर हैं। जिन- जिन भावों में पुद्गल का निमित्त है, वे सब भाव मेरे निज स्वाभाविक भाव नहीं है, मैं तो एकाकार परम शुद्ध स्वसंवेदनगोचर एक अविनाशी द्रव्य हूँ।

भव्य पुरुष परम वैराग्यवान होकर, परमाणु मात्र को अपना न जानकर, संसार के क्षणिक

सुख को आकुलता का कारण दुःख समझकर, एक अपने ही आत्मा के ध्यान में मगन होजा। आत्मानुभव ही एक अमोघ उपाय है। इससे ही अनन्त आत्माएँ शिव- सुख को पा चुकी हैं, तू भी इसी उपाय से शिव- सुख पावेगा।

श्री समयसारकलश में कहा है :-

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्यात्मक -
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्,
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥२४०॥

भावार्थ- सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रूप ही एक निश्चित मोक्षमार्ग है। जो कोई अन्य द्रव्यों का स्पर्श न करके एक इस ही आत्मामयी भाव में ठहरता है, उसी को निरन्तर ध्याता है, उसको चेतता है, उसी में निरन्तर विहार करता है, वह अवश्य शीघ्र ही नित्य उदयरूप समयसार या शुद्धात्मा का लाभ करके उसी का निरन्तर अनुभव करता रहता है, परम आनन्दी हो जाता है।

दोहा ७१

पुण्य को पाप जाने वही ज्ञानी है

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु इ को वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेई ॥

अन्वयार्थ- **(जो पाउ वि सो पाउ मुणि)** जो पाप है उसको पाप जानकर **(सव्वु इ को वि मुणेइ)** सब कोई उसे पाप ही मानते हैं **(जो पुण्णु वि पाउ भणइ)** जो कोई पुण्य को भी पाप कहता है **(सो बुह को वि हवेइ)** वह बुद्धिमान कोई विरला ही है।

भावार्थ- जगत के सर्व ही प्राणी सांसारिक दुःखों से डरते हैं तथा इन्द्रिय सुख को चाहते हैं। साधारणतः यह बात प्रसिद्ध है कि पाप से दुःख होता है व पुण्य से सुख होता है। जब धर्म की चर्चा होती है तब यही विचार किया जाता है कि पाप कर्म न करो, पुण्य कर्म करो। पुण्य से उच्च कर्म मिलते हैं, धन का, पुत्र का, बहुकुटुम्ब का, राज्य का व अनेक विषयभोगों की सामग्री का लाभ एक पुण्य ही से होता है। इन्द्र पद, अहमिन्द्र पद, चक्रवर्ती पद, नारायण व प्रतिनारायण पद, कामदेव, तीर्थंकर पद आदि महान महान पद पुण्य से ही मिलते हैं।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि जो संसार के भोगों के लोभ से पुण्य को ग्रहण योग्य मानते हैं। वे मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पाप के समान पुण्य को भी बन्धन जानते हैं, वे पुण्य को भी पाप कहते हैं। जिससे संसार में रहना पड़े, विषयभोगों में फँसना पड़े, यह स्वाधीनता घातक पुण्य भी पाप ही है। ज्ञानी को तो एक आत्मीक आनन्द ही प्यारा है। उसका पूर्ण लाभ व अनन्तकाल के लिये निरन्तर लाभ तब ही होता है जब यह जीव संसार से मुक्त होकर सिद्ध परमात्मा हो जावे, पुण्य पाप से रहित हो जावे। इसलिए ज्ञानी जीव पुण्य पाप दोनों दोषों को बन्धन की अपेक्षा समान जानते हैं।

दोनों के बन्ध का कारण कषाय की मलिनता है, मन्दकषाय से पुण्य व तीव्रकषाय से पाप बँधता है। कषाय आत्मा के चारित्र गुण के घातक हैं। दोनों का स्वभाव पुद्गल है। साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र, पुण्य कर्म व असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र तथा चार घातीय कर्म पापकर्म है। दोनों की कर्मवर्गणाएँ आत्मा के चेतन स्वभाव से भिन्न हैं।

पुण्य का अनुभव सुखरूप है, पाप का अनुभव दुःखरूप हैं। ये दोनों ही अनुभव आत्मा के स्वाभाविक अनुभव से विरूद्ध हैं व शुद्धात्मा में रमण के घातक हैं। दोनों ही अनुभव कषाय की कलुषता के स्वाद हैं। पुण्य व पाप दोनों ही पुनः बन्ध के कारण हैं। दोनों में तन्मय होने से कर्म का बन्ध होता है। यह बंध मोक्षमार्ग में विरोधी है, ऐसा जानकर ज्ञानी जीव पाप के समान पुण्य को भी भला व ग्रहण योग्य नहीं मानते हैं। वे शुभ भावों से व अशुभ भावों से दोनों से विरक्त रहते हैं। कर्मक्षयकारक व आत्मानन्द दायक एक शुद्धोपयोग को ही मान्य करते हैं।

सम्यग्दृष्टि अविरति होने पर भी व गृहस्थ में धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ साधन में अनुरक्त होने पर भी सब ही शुभ अशुभ कार्यों को चारित्रमोहनीय के उदय के आधीन होकर करता है, परन्तु इस सर्व काम को अपना आत्मीक हित नहीं मानता है। वह तो यही मानता है कि निरन्तर आत्मीक बाग में रमण करूँ, वीतरागता का ही सेवन करूँ, सिद्धों से ही प्रेम करूँ।

कषाय के उदय को आत्मवीर्य की कमी से सहन नहीं कर सकता है इसलिए सर्व ही गृहस्थ योग्य काम करता है, परन्तु उनमें आसक्त व मगन नहीं होता है। पूजा- पाठ, परोपकार, दानादि कार्य को करके वह पुण्य का बन्ध व सांसारिक इन्द्रिय सुख नहीं चाहता है, वह तो कर्म रहित

दशा का ही उत्साही व उद्यमी रहता है। यद्यपि शुभ भावों का फल पुण्यबंध है तथापि ज्ञानी उसको भी पाप के समान बंध ही जानता है। ज्ञानी निर्वाण का पथिक है वह मात्र निश्चय- रत्नत्रय स्वभावमयी धर्म को या स्वानुभव को ही उपादेय या ग्रहण योग्य मानता है। पुण्य को भी पाप के समान ही जानकर छुड़ाना चाहता है।

श्री समयसार कलश में कहा है :-

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षर्थिना,
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव -
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०९॥

भावार्थ- मोक्ष के अर्थी को सर्व ही कर्म त्यागना चाहिए। सर्व ही कर्म का त्याग आवश्यक है, तब वहाँ पुण्य पाप की क्या कथा है ! ऐसे ज्ञानी के भीतर सम्यग्दर्शन आदि अपने स्वभाव को लिये हुए व कर्मरहित भाव में तन्मयरूप, शांतरस, पूर्ण मोक्ष का कारण ऐसा आत्मज्ञान स्वयं विराजता है।

दोहा ७२

पुण्य कर्म सोने की बेड़ी है

जह लोहम्मिय णियड बुह तह सुण्णम्मिय जाणि।
जे सुह असुह परिच्चयहि ते वि हवंति हु णाणि ॥

अन्वयार्थ- **(बुह)** हे पंडित ! **(लोहम्मिय णियड तह सुण्णम्मिय जाणि)** जैसे लोहे की बेडी है वैसे ही सुवर्ण की बेड़ी है ऐसा समझ **(जे सुह असुह परिच्चयहि)** जो शुभ- अशुभ दोनों प्रकार के भावों का त्याग करते हैं **(ते वि हु णाणि हवंति)** वे ही निश्चय से ज्ञानी हैं।

भावार्थ- पुण्य- पाप कर्म दोनों ही बन्धन हैं, पुण्य को सोने की तथा पाप को लोहे की बेड़ी कह सकते हैं। दोनों ही कर्म संसारवास में रोकने वाले हैं। जब दोनों बेड़ियों का विघटन होता है, तब ही यह जीव स्वाधीन मोक्षसुख को पाता है। अतएव ज्ञानी को उचित है कि पुण्य पाप दोनों ही प्रकार के बन्धनों को हेय समझे। मंदकषाय के भावों को शुभोपयोग व तीव्रकषाय के भावों को अशुभोपयोग कहते हैं। दोनों से ही बंध होता है। चार घातीय कर्म या बंध दोनों उपयोगों से

होता है।

अघातीय में सातावेदनीय पुण्य प्रकृतियों का बंध शुभभावों से व असातावेदनीयादि पाप-प्रकृतियों का बंध अशुभभावों से होता है। मंदकषाय से आयु के सिवाय सर्व ही कर्मों में स्थिति थोड़ी व तीव्रकषाय से स्थिति अधिक पड़ती है। आयुकर्म में नरकस्थिति तीव्रकषाय से अधिक व मन्दकषाय से कम पड़ती है। तब तिर्यंच, मनुष्य, देव तीन आयु की स्थिति मंदकषाय से अधिक व तीव्रकषाय से कम पड़ती है। किन्तु अनुभाग पाप कर्मों में अर्थात् चार घातीय व असाता वेदनीयादि पाप कर्मों में तीव्रकषाय से अधिक पड़ता है, मंदकषाय से कम पड़ता है किन्तु सातावेदनीयादि पुण्यकर्मों में तीव्र कषाय से कम व मन्दकषाय से अधिक अनुभाग पड़ता है। पापकर्म के फल से नरक तिर्यंच या क्षुद्र मानव भवों में दुःख भोगना पड़ता है। पुण्य के फल से देवगति में या उत्तम मानव भव में पांच इन्द्रियों के भोग की प्रचुर सामग्री का लाभ होता है।

संसारी प्राणी के भाव प्रायः निमित्ताधीन होते हैं। विषयभोग की अधिक सामग्री पाकर उनके भोगने की तीव्र लालसा होती है। अज्ञानी प्राणी विषयभोगों में लीन हो जाते हैं। विषयभोग की तृष्णा विषयभोग से और बढ़ जाती है, विषयभोगों में अधिक मग्न हो जाते हैं तो आत्मा का हित भूल जाते हैं। विषयासक्त मानव अनेकप्रकार के अन्याय से धन का संचय करते हैं व इच्छित भोगों की प्राप्ति का यत्न करते हैं, नहीं मिलने पर दुःखी होते हैं, मिलने पर भोग करके तृष्णा अधिक बढ़ा लेते हैं, वियोग होने पर शोक करते हैं।

पुण्य के फल से प्राप्त विषयभोगों के भीतर फँस जाने से विषयी मानव नरक- निगोदादि में चले जाते हैं। देवगति वाले भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी व दूसरे स्वर्ग पर्यंत के देव मरकर एकेन्द्रिय पृथ्वी जल वनस्पति काय में जन्म ले लेते हैं। बारहवें स्वर्ग तक के देव पंचेन्द्रिय पशु तक हो जाते हैं। नौ ग्रेवेयक तक के देव मानव पर्याय में जन्मते हैं।

विषय भोगों की आकुलता सो तृष्णा रोग है, उस रोग से पीड़ित प्राणी घबड़ाकर विषयभोगों में तृष्णा के शमन के लिये जाता है। भोग करके क्षणिक तृप्ति उससमय पाकर फिर और अधिक तृष्णा को बढ़ा लेता है। दुःखों के साधनों में जो आकुलता है वैसी ही आकुलता तृष्णा रूपी रोग के बढ़ने में होती है।

इस जीव ने बार- बार देवगति तथा मनुष्यगति में पाँच इन्द्रियों के विषयभोग भोगे हैं, परन्तु तृष्णा की दाह शमन न हो सकी। इसलिए ज्ञानीजन विषयसुख को हेय समझते हैं, तब

विषयसुख के कारण पुण्यकर्म को हेय जानते हैं, तब पुण्यबंध के कारण शुभोपयोग को भी हेय समझते हैं। मात्र शुद्धोपयोग की भावना करते हैं जिससे तिर्यंच में भी अतीन्द्रिय सुख होता है, कर्मों का क्षय होता है वे मोक्षमार्ग क्षय होता है। शुद्धोपयोग में ठहरने की शक्ति नहीं होने पर ज्ञानी जीव शुभोगयोग मे वर्तते हैं, परन्तु पुण्य की इच्छा नहीं रखते हैं। वस्तु स्वभाव से (सहजरूप में) पुण्य बन्ध होता है। इसलिए बन्धकारक शुभोपयोग से विरक्त रह कर शीघ्र ही शुद्धोपयोग पाने का यत्न किया करते हैं।

श्री प्रवचनसार में कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं :-

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणाम समुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ।।७४।।
ते पुण उदिण्ण तण्हा दुहिदा तण्हाहि विसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुःखसंतत्ता ।।७५।।

भावार्थ- शुभोगपयोग से बाँधे हुए नाना प्रकार के पुण्यकर्म देवपर्यन्त शरीरों को विशेष सामग्री का संयोग मिलाकर विषयों की तृष्णा पैदा कर देते हैं। वे देवादि तृष्णा के कारण दुःखी होते हैं। तृष्णा के रोग से पीड़ित होकर विषयसुख चाहते हैं। मरणपर्यंत भोगते रहते हैं तो भी दुःखों से संतापित रहते हैं, तृष्णा नहीं मिटती है।

दोहा-७३

भावनिर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्गी है

जइया मणु णिग्गथु जिय तइया तुहुँ णिग्गथु।
जइया तुहुँ णिग्गंथु जिय तो लब्भइ सिवपंथु ।।

अन्वयार्थ- (जिय जइया मणु णिग्गंथु) हे जीव ! जब तेरा मन निर्ग्रन्थ है **(जइया तुहुँ णिग्गंथु)** तब तू सच्चा निर्ग्रन्थ है **(जिय जइया तुहुँ णिग्गंथु)** हे जीव ! जब तू निर्ग्रन्थ है **(तो सिवपंथु लब्भइ)** जो तूने मोक्षमार्ग पा लिया।

भावार्थ- निर्ग्रन्थपद ही साधु पद है। संयम का साधन साधु ही कर सकता है, क्योंकि वही आरम्भ परिग्रह को त्यागकर अहिंसादि पाँच महाव्रतों को यथार्थ पाल सकता है। गृहस्थावस्था में आरम्भ परिग्रह के कारण हिंसादि पाँच पापों के विकल्प नहीं मिटते हैं। मन में निश्चलता के

बाधक परिग्रह की चिन्ता है। उत्तम धर्मध्यान प्रत्याख्यान कषाय के उदय से व पुर्ण्य वैराग्य के निमित्त न होने से गृहस्थ के नहीं हो सकता है। इसलिए तीर्थंकरादि महापुरुषों ने भी गृहस्थपद त्यागकर साधुपद धारण किया।

बाहरी परिग्रह का त्याग इसलिए जरूरी है कि परिग्रह मूर्छाभाव के पैदा करने में निमित्त है। इसी ममता के त्याग के लिये महापुरुष स्त्री, पुत्र, धन, राज्य, सम्पदा को त्यागकर प्रकृतिरूप में हो जाते हैं। वस्त्राभूषण त्याग कर बालक के समान नग्न हो जाते हैं। जहाँ तक वस्त्र का ग्रहण है, वहाँ तक परिग्रह का पूर्ण त्याग नहीं है। दिशाओं को ही जहाँ वस्त्र कल्पा (माना) जावे वही दिगम्बर या निर्ग्रन्थ भेष है। यह निर्ग्रन्थ का नग्न भेष जहाँ मोर पिच्छिका जीवदया के लिये व काठ का कमण्डल शौच के लिये या कभी - कभी शास्त्र ज्ञान के लिये रखा जाता है। अन्तरंग, निर्ग्रन्थ होने पर निमित्त साधन है। निमित्त के बिना उपादान काम नहीं करता है। जब आग- पानी का निमित्त होता है, तब ही चांवल पककर भात बनता है।

अन्तरंग में मन को ग्रन्थरहित करना चाहिए। मन से सर्व राग- द्वेष- मोह हटाना चाहिए। बुद्धिपूर्वक चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रह का त्याग होना चाहिए। मिथ्यादर्शन, क्रोध, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद भावों का त्याग करके सम्यग्दृष्टि कष्ट दिये जाने पर भी उत्तम क्षमावान, विद्या व तप संयम होने पर भी परम कोमल, मन- वचन- का वर्तन सरल रखकर परम आर्जव गुणयुक्त, सर्व परवस्तु का लोभ त्यागकर परम सन्तोषी व पवित्र, हास्य रहित गम्भीर, रति व अरति रहित समभावी, शोक रहित परम प्रसन्न, भय रहित निर्मल, घृणा रहित वस्तु स्वभाव के मर्मी, तीन वेद भाव रहित परम ब्रह्मचारी रहना योग्य है।

मन में भीतर से सर्व ममता का राग- द्वेष का मैल निकालकर फेंक देना चाहिये, पर वीतराग, समदर्शी, सर्व प्राणीमात्र पर करूणाभाव, परम सन्तोषी, आत्मरस पिपासु, विषयरस विरत होना ही भाव निर्ग्रन्थ पद है। धान्य का बाहरी छिलका हटाए बिना भीतर का पतला छिलका दूर नहीं हो सकता, शुद्ध चावल नहीं मिल सकता। कोई बाहरी छिलका ही हटावे, भीतरी नहीं हटावे तो वह शुद्ध चावल नहीं पा सकेगा, इसी तरह बाहरी परिग्रह के त्याग बिना अन्तरंग रागभाव नहीं मिट सकता। बाहरी निर्ग्रन्थ हुए बिना अन्तरंग निर्ग्रन्थ नहीं हो सकता। यदि कोई बाहरी निर्ग्रन्थ हो जावे परन्तु भीतर से निर्ग्रन्थ न हो, वीतरागी न हो, समदर्शी न हो,

आत्मानन्द रसिक न हो तो वह सच्चा निर्ग्रन्थ नहीं है।

भाव निर्ग्रन्थ ही वास्तव में मोक्ष का मार्ग है, केवल व्यवहारचारित्र मोक्षमार्ग नहीं है। रत्नत्रयमयी अन्तरंग स्वानुभव रमणरूप निश्चयचारित्र है, यही यथार्थ शिवपन्थ है, इसी पर चलकर ज्ञानी मोक्षनगर में पहुँच जाते हैं।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है :-

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥११६॥
निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरंगसंगानाम् ।
कर्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादिभावनया ॥१२६॥
बहिरंगादपि संगाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः ।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥१२७॥

भावार्थ- मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार अन्तरंग ग्रन्थ (परिग्रह) है। अपनी शक्ति से इन सर्व अन्तरंग परिग्रह का त्याग करे। मार्दव, शौच आदि भावना से भाव को पवित्र रखे, क्योंकि बाहरी परिग्रह से अनुचित असंयम होता है, इसलिए सर्व ही सचित्त- अचित्त परिग्रह को त्याग कर उभय प्रकार निर्ग्रन्थ हो जावे।

दोहा ७४

देह में भगवान होता है

जं वडमज्झहँ बीउ फुडु बीयहँ वडु वि हु जाणु ।
तं देहहँ देउ वि मुणहि जो तइलोय पहाणु ॥

अन्वयार्थ- **(जं वडमज्झहँ बीउ फुडु)** जैसे बर्गद (बड़) के वृक्ष में उसका बीज स्पष्टपने व्यापक है **(बीययं वडु वि हु जाण)** वैसे बर्गद (बड़) के वृक्ष को भी जानो **(तं देहहँ देउ वि मुणहि)** तैसे इस शरीर में उस देव को भी अनुभव करो **(जो तइलोय- पहाणु)** जो तीन लोक में प्रधान है।

भावार्थ- अपनी आत्मा अपने शरीर में व्यापक है, शरीर प्रमाण है। शरीर प्रमाण आकार लिये शरीर में है। जैसे बर्गद में बीज व बीज में बर्गद व्यापक है। यह आत्मा स्वयं तीन लोक में मुख्य

पदार्थ परमात्मा देव है। ज्ञानी को यह विचारना चाहिए कि आराधने योग्य या ध्यान करने योग्य मेरा ही आत्मा है। आसन लगाकर बैठ जाओ तब यही विचार करे कि जैसा इस मेरे शरीर का आकार है, वैसा ही आकार मेरे आत्मीक प्रभु का है।

आत्मा असंख्यात प्रदेशी होकर भी शरीर प्रमाण रहता है। आत्मा देव को तैजस, कार्माण, औदारिक तीनों शरीरों से भिन्न देखे। सर्व रागादि भावों से भिन्न देखे। कर्म के निमित्त से होने वाले औदायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक भावों से भिन्न एक शुद्ध पारिणामिक स्वभाव धारी देखे। द्रव्यदृष्टि से जीव के साथ कर्मों का संयोग नही दिखता है, तब कर्म की अपेक्षा से होनेवाले भाव भी नहीं दिखते हैं। क्षायिक भाव यद्यपि अपने ही आत्मा के निजभाव है परन्तु कर्मों के क्षय से प्रगटे हैं, इस दृष्टि से कर्म सापेक्ष हो जाते हैं। कर्मों की अपेक्षा न लेनेवाले द्रव्यार्थिकनय में इस क्षायिकभाव का भी विचार नहीं आ सकता है। अनादि से अनन्तकाल तक सब वस्तु को अपने मूलस्वभाव में दिखानेवाला द्रव्यार्थिकनय है।

इस दृष्टि से देखते हुए आत्मा के साथ न कभी कर्म का सम्बन्ध था, न है, न होगा। तीन काल में एक स्वरूप में शुद्ध स्फटिक मणि के समान दिखने वाला यह आत्मा है। यद्यपि कर्मों के संयोग से नर- नारक- पशु- देव बार बार हुआ, यह विचार पर्याय की दृष्टि से है तो भी द्रव्यदृष्टि से यह आत्मा जैसा का तैसा बना रहा। इस आत्मा ने अपने स्वरूप को कुछ भी खोया नहीं। पर्यायदृष्टि से यह चंचल दिखता है। इसमें मन वचन काय के निमित्त से प्रदेशों का कम्पन होता है व योगशक्ति कर्म नोकर्म को ग्रहण करती है तथापि द्रव्यदृष्टि से वह मन वचन काय से रहित हैं चंचलता रहित परम निश्चल है, कर्म नोकर्म को ग्रहण नहीं करता है। पर के ग्रहण व स्वगुण के त्याग से रहित है।

भेददृष्टि से यह आत्मा अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, अगुरूघुत्व, प्रदेशत्व इन छह प्रकार के सामान्य गुणों से व ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यग्दर्शन, चारित्र आदि शुद्ध गुणों का धारी है, तो भी अभेद दृष्टि से यह एक रूप अखंड सर्व गुणों का पिंड एक शुद्धद्रव्य ही दिखता है। यद्यपि पर्याय दृष्टि से राग- द्वेष मोहादि विभावों से संतापित व अशांत दिखता है, तो भी द्रव्यदृष्टि से यह बिल्कुल विभावों से रहित परम शान्त दिखता है। द्रव्यार्थिक नय से अपने शरीर के भीतर शुद्धस्वरूपी अपने आत्मा को देखना चाहिए। वैसे ही जगत में सर्व आत्माओं को

एकाकार शुद्ध देखना चाहिए। छह द्रव्यों में पुद्गलादि पाँच अचेतन हैं, उन पर शत्रुता- मित्रता नहीं हो सकती। आत्मा मात्र सचेतन है।

जब सर्व को समान शुद्ध देखा गया तब न कोई मित्र है, न कोई शत्रु है, सर्व को व अपने को समान देखते हुए राग- द्वेष का पता नहीं रहता है। समभाव व शांतरस बहता है। निर्ग्रन्थ मुमुक्षु को उचित है कि इसतरह समभाव में रमण करके सामायिक चारित्र को पाले। स्वानुभव में लीन होकर सर्व नयों के विचार से रहित आत्मानन्द में मस्त हो जावे। यही आत्मसमाधि है।

श्री समाधिशतक में कहा है :-

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासदच्युतो भवेत् ।।७९।।
अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रूष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ।।४६।।

भावार्थ- जो अपने आत्मा को भीतर देखकर व शरीरादि को अपने से बाहर देखकर शरीर व आत्मा के भेद- विज्ञान से आत्मा को शुद्ध अभेद जानकर उसी के अनुभव का अभ्यास करता है वह मुक्त हो जाता है। ज्ञानी विचारता है कि जो इन्द्रियों से झलकाता है वह सब अचेतन जड़ है। जो चेतन आत्माएँ हैं, वे इन्द्रियों से दिखती नहीं, तब फिर मैं किस पर प्रसन्न रहूँ व किस पर रोष करूँ ? मैं वीतरागी व समभावी ही रहता हूँ।

दोहा ७५

आप ही जिन है यह अनुभव मोक्ष का उपाय है

जो जिण सो हउँ सो जि हउ एहउ भाउ णिभंतु ।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ।।

अन्वयार्थ- **(जो जिण सो हउं)** जो जिनेन्द्र परमात्मा है वह मैं हूँ **(सो जि हउं)** वही मैं हूँ **(एहउ णिभंतु भाउ)** ऐसी ही शंका रहित भावना कर **(जोइया)** हे योगी ! **(मोक्खहं कारण अण्णु तंतु ण मंतु ण)** मोक्ष का उपाय यही है और कोई तंत्र या कोई मन्त्र नहीं है।

भावार्थ- मोक्ष का उपाय संक्षेप में यही है कि अपने आत्मा को निश्चय नय से जैसा का तैसा समझे। मूल स्वभाव से यह आत्मा स्वयं जिनेन्द्र परमात्मा है। कर्म रहित आत्मा को जिनेन्द्र

कहते हैं। अपना आत्मा निश्चय से द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित है, व्यवहार नय से या पर्याय की दृष्टि से मेरा आत्मा कर्मसहित अशुद्ध है, परन्तु शुद्ध होने की शक्ति रखता है, कारण समयसार है और श्री जिनेन्द्र का आत्मा शुद्ध व कार्य समयसार है। यह भेद दिखता है परन्तु निश्चयनय से या द्रव्यदृष्टि से यह भेद नहीं दिखता है।

आत्मा परमात्मा सब तरह आत्मा है। केवल सत्ता की अपेक्षा भिन्नता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जो आत्मा का है वही दूसरा आत्मा का है। सर्व आत्माओं का चतुष्टय समान है, सदृश है, एक नहीं है - एक समान है। जैसे हजार गेहूँ के दाने समान आकार व गुणों के हों वे सब समान हैं तो भी सब दाने अलग अलग हैं। हर एक आत्मा का द्रव्य अपने अनन्त गुणों व पर्यायों का अभेद व अखण्ड पिंड है।

हर एक आत्मा क्षेत्र से असंख्यात प्रदेशी है, हर एक आत्मा समय- समय परिणमनशील है। शुद्धस्वभाव में सदृश परिणमन अगुरूलघुत्व गुण के द्वारा कर रहा है। हर एक आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र आदि शुद्ध भावों का धारी है तब निश्चयनय से अपने आत्मा को परमात्मारूप देखना ही व अनुभव करना ही वीतरागभाव की प्राप्ति का उपाय है। जहाँ वीतरागता जितने अंश होती है उतने अंश कर्मों का संवर व उनकी निर्जरा होती है।

नूतन कर्म का आना व पुराने बांधे हुए कर्मों का झड़ना ही मोक्ष होने का उपाय है। सोऽहं मन्त्र के द्वारा अपने भीतर यही भावना भावे कि मैं ही परमात्मा हूँ। मेरा कोई सम्बन्ध रागादि भावों से व पाप पुण्य से व किसी प्रकार के कर्म से या मन वचन काय की क्रिया से नहीं हैं।

मैं परम निर्मल अपने स्वभाव में रहनेवाला हूँ। वास्तव में जो कोई अरहंत व सिद्ध परमात्मा को ठीक- ठीक पहचानता है, वह आत्मा के द्रव्य, गुण, पर्याय को ठीक- ठीक जानता है। परवस्तु से दृष्टि संकोच करके अपने ही आत्मा पर दृष्टि जमाकर रखने से आत्मा का ध्यान हो जाता है। यही कर्म खास करने योग्य माना है। यही स्वानुभव की कला है, यही तन्त्र है, यही मन्त्र है, और कोई मन्त्र तन्त्र नहीं है, जिससे आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सके। बाहरी चारित्र मन को संकल्प विकल्पों से हटाने के लिए आवश्यक है। पर कार्यों की चिन्ता का अभाव करना जरूरी है। इसलिए पूर्ण व शुद्ध आत्मध्यान के लिये निर्ग्रन्थ होना योग्य है। बाहरी व अन्तरंग परिग्रह का त्याग करके निर्जन स्थानों में ध्यान का अभ्यास करना जरूरी है।

अनेकांत के ज्ञान से विभूषित रहे कि पर्याय की अपेक्षा मैं कर्म सहित हूँ, अशुद्ध हूँ, द्रव्य

की अपेक्षा कर्मरहित शुद्ध हूँ। दोनों अपेक्षाओं का ज्ञान रखकर पर्याय की दृष्टि से उपयोग को हटावे, द्रव्य की दृष्टि से उपयोग को जोड़े तब अपने को ही जिन भगवान समझे व ऐसी ही भावना करे। भावना करते करते जब उपयोग उपयोगवान आत्मा में घुल जायेगा, एकमेक हो जायेगा, लवण की डली जैसे पानी में घुल जाती है वैसे उपयोग रम जायेगा, ध्याता ध्येय का भेद मिट जायेगा व स्वानुभव हो जायेगा, तब द्रव्यदृष्टि का विचार भी बन्द हो जायेगा, अर्हंत भाव में ठहर जायेगा, यही मोक्ष का उपाय है।

श्री प्रवचनसार में कहा है :-

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपजयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥
जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि राग-दोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८१॥

भावार्थ- जो कोई अरहंत भगवान को द्रव्य, गुण, पर्याय स्वभाव के द्वारा यथार्थ जानता है वही अपने आत्मा को पहचानता है, उसी का दर्शन मोह या मिथ्यात्वभाव दूर हो जाता है। ऐसा मोह रहित सम्यग्दृष्टि जीव भले प्रकार अपने आत्मा के तत्त्व को पाकर यदि राग द्वेष छोड़कर वीतराग हो जाता है, तो वह अपने आत्मा को शुद्ध कर लेता है।

दोहा ७६

आत्मा के गुणों की भावना करे

बे ते चउ पंच वि णवहँ सत्तहँ छह पंचाहँ ।
चउगुण सहियउ सो मुणह एयइँ लक्खण जाहँ ॥

अन्वयार्थ- (सो) उस अपने आत्मा को **(बे ते चउ पंच वि णवहँ सत्तहँ छह पंचाहँ चउगुण सहियउ मुणह)** दो, तीन, चार, पाँच, नव, सात, छः, पाँच और चार गुण सहित जाने **(जाहँ एयइँ लक्खण)** उस परमात्मा के या आत्मा के ये ही लक्षण हैं।

भावार्थ- आत्मा के ध्यान के लिये आत्मा के स्वरूप की भावना करनी योग्य है। निश्चय से यह आत्मा एक सत् पदार्थ है, ज्ञायक अखण्ड प्रकाशरूप है। केवल अनुभव योग्य है। व्यवहार नय से यह अनेक प्रकार विचारा जा सकता है। दो प्रकार विचार करें तो यह गुण पर्यायवान है। अपने

भीतर अनेक गुण व पर्यायों को रखता है या यह ज्ञान- दर्शन स्वरूप है। यह एक ही काल अपने को व सर्व परपदार्थों को देखने जाननेवाला है। तीन प्रकार विचार करे तो यह उत्पाद- व्यय-ध्रौव्यरूप है। समय- समय पर्यायों के पलटने से उत्पत्ति विनाश करते हुए भी अपने स्वभाव से अविनाशी है, अथवा यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप है।

चार प्रकार विचार करे तो यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप, इन चार आराधनास्वरूप है या यह अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनन्तसुख, अनंतवीर्य इन चार अनंत चतुष्टय स्वरूप है या यह सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध चार भाव प्राणों का धारी है या यह आत्मा अपने द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव का स्वामी है। पाँच प्रकार विचार करे तो यह अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र तथा अनन्तवीर्य स्वरूप है या इसमें औपशमिक, क्षायोपशमिक क्षायिक औदयिक व पारिणामिक पाँच भावरूप में परिणमन की शक्ति है या यह आत्मा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी पद धारी है या यह आत्मा नरक, पशु, देव, मनुष्य, सिद्ध गति इन पाँच गतियों में जाने की शक्ति रखता है। छह प्रकार विचार करें तो यह अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, अनंतसुख, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र गुणस्वरूप है या पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे छह दिशाओं में जाने की शक्ति धारी है अथवा यह आत्मा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व व अगुरुलघुत्व इन छह सामान्य गुणों का धारी है।

यदि सात प्रकार विचार करें तो यह आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्त ज्ञान चेतना, अनन्तवीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र इन सात गुणस्वरूप हैं। अथवा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य, अवक्तव्य, स्यादअस्तिअव्यक्तव्य, स्यान्नास्तिअवक्तव्य, स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्य, इन सात भंगों से सिद्ध होता है या इस जीव के कारण जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, इन सात तत्त्वों की व्यवस्था होती है अथवा यह आत्मा नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत इन सात नयों से विचारा जाता है।

नौ प्रकार विचार करें तो यह आत्मा नौ केवललब्धिरूप है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्तभोग, अनन्तउपभोग, अनन्तवीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्ररूप है। या यह आत्मा पुण्य- पाप सहित सात तत्त्व ऐसे नौ पदार्थों में तिष्ठता है। जीव की अपेक्षा नौ पदार्थों का विचार है। इस तरह आत्मा को अनेक गुण या स्वभाव का धारी

विचार करे। जिससे वस्तु का विचार समभाव से हुआ करे, राग- द्वेष को व सांसारिक विकल्पों को जीता जा सके। गुणों की भावना करते करते ही स्वानुभव शक्ति होती है। विकल्परहित भाव में आना ही स्वानुभव है।

श्री समयसारकलश में कहा है :-

चित्रात्मशक्ति समुदायमयोऽयमात्मा,
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः ।
तस्मादखण्डम निराकृतखण्डमेक
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥२४-११॥

भावार्थ- यह आत्मा नाना प्रकार की शक्तियों का समुदाय है। एक एक नय से एक एक गुण की पर्याय या शक्ति का विचार करने से आत्मा का खंड रूप विचार होता है, इसलिए खंड विचार को छोड़कर मैं अपने को ऐसा अनुभव करता हूँ कि यह आत्मा अखण्ड है तो भी अनेक भेदों को रखता है, एक है, परम शांत है, निश्चल है, चैतन्यमयी ज्योतिस्वरूप है।

दोहा ७७

दो को छोड़कर दो गुण विचारे

बे छंडिवि बे गुण सहिउ जो अप्पाणि वसेइ ।
जिणु सामिउ एमइँ भणइ लहु णिव्वाणु लहेइ ॥

अन्वयार्थ- (**जो बे छंडिवि**) जो दो को अर्थात् राग- द्वेष को छोड़कर (**बे गुण सहिउ अप्पाणि वसेइ**) ज्ञान, दर्शन दो गुणधारी आत्मा में तिष्ठता है (**लहु णिव्वाणु लहेइ**) वह शीघ्र ही निर्वाण पाता है (**एमइँ जिणु सामिउ भणइ**) ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

भावार्थ- बन्ध के मूल कारण रागद्वेष हैं उनका त्याग करे। त्याग करने का क्रम यह है कि पहले मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी राग-. द्वेष को छोड़े। मिथ्यादृष्टि जीव पर पदार्थ को आत्मा मानने की भूल करता है, जिससे यह पर में अहंकार व ममकार भाव करता है। इन्द्रियजनित पराधीन सुख को सच्चा सुख मानता है। इस मिथ्यात्व के कारण जिन विषयों के सेवन से इन्द्रिय सुख की कल्पना करता है, उन पदार्थों में रागभाव करता है व जिनसे विषय भोग में हानि पड़ती है व जो विषय रूचते नहीं हैं उनसे द्वेष करता है। राग द्वेष के चार प्रकार है -

चारकषाय तथा नौ नोकषाय में माया व लोभ कषाय व हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद इन पाँच नोकषाय को राग कहते हैं तथा क्रोध व मान कषाय व अरति, शोक, भय, जुगुप्सा चार नोकषाय को द्वेष कहते हैं। अनन्तानुबंधी सम्बन्धी राग द्वेष, अप्रत्याख्यान सम्बन्धी राग-द्वेष, प्रत्याख्यान सम्बन्धी राग- द्वेष, संज्वलन सम्बन्धी राग द्वेष इस तरह राग द्वेष के चार- चार भेद हैं।

मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी राग द्वेष के मिटाने के लिये सम्यग्दर्शन का लाभ जरुरी है। इस सम्यक्त्व के पाने का उपाय अपने आत्मा के यथार्थ स्वभाव का ज्ञान है कि यह आत्मा ज्ञान दर्शन स्वभाव का धारी है, सूर्य के समान स्व- पर प्रकाशक है, सर्वज्ञ व सर्वदर्शी है, पूर्ण वीतराग है, पूर्ण आनन्दमय है, स्वयं परमात्मारूप है, आठ कर्म, रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्म से भिन्न है। अतीन्द्रिय सुख ही सच्चा सुख है, ऐसी प्रतीति लाकर बार- बार अपने ज्ञान दर्शन स्वभावधारी आत्मा की भावना करते रहने से मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम, क्षयोपशम वा क्षय हो जायेगा। तब यह जीव सम्यग्दर्शन गुण का प्रकाश कर सकेगा, मूढ़ता चली जायेगी, सम्यग्ज्ञान हो जायेगा। तब इसे निर्वाण पद पर पहुँचने की योग्यता हो जायेगी, संसार सागर से पार होने की तीव्र रूचि हो जायेगी।

बारह प्रकार की कषाय व नौ नोकषाय का उदय अभी है, इसलिए चारित्र में कमी है। अविरत सम्यग्दृष्टि के इक्कीस प्रकार की चारित्र मोहनीय के उदय से रागद्वेष हो जाता है उसको वह रोग जानता है। आत्मबल की कमी से गृहस्थ के योग्य विषयभोग करता है व धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ का सेवन करता है, परन्तु इन मन, वचन, काय की क्रिया को आत्मा का कर्तव्य नहीं जानता है। त्याग की भावना रखता है। २१ कषायों की शक्ति घटाने के लिये यह देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय व सामायिक के द्वारा अपने आत्मा के शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव का मनन करता है। आत्मानुभव का अभ्यास करता है। इस आत्मीक पुरुषार्थ से जब अप्रत्याख्यानवरण कषाय का उदय नहीं रहता है, केवल १७ कषाय का उदय रहता है, तब वह श्रावक के चारित्र को स्वीकार करके श्रावक हो जाता है।

जैसे जैसे प्रत्याख्यान कषाय का उदय आत्मानुभव के अभ्यास से कम होता जाता है, वह ग्यारह प्रतिमा रूप से चारित्र बढ़ाता रहता है। जब प्रत्याख्यान कषाय का उदय भी नहीं रहता है तब केवल तेरह कषायों के उदय को रखकर वस्त्रादि परिग्रह त्यागकर साधु हो जाता है।

साधुपद में धर्मध्यान के अभ्यास से कषायों का बल कम करता है। उपशमश्रेणी पर शुक्ल ध्यान के द्वारा १३ कषायों केा दबाकर वीतरागी हो जाता है। क्षपकश्रेणी में इनका क्षय करके वीतरागी हो जाता है। तब वह मोक्षगामी क्षपकश्रेणी पर ही चढ़कर क्षीणमोह गुणस्थान में आकर शेष तीन घातीय कर्मों का क्षय करके केवली भगवान अरहंत परमात्मा हो जाता है। ज्ञान दर्शन, गुण की भावना करते करते अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्त सुख को प्रगट कर देता है।

इस तरह राग द्वेष त्याग करके ज्ञान दर्शन गुणवाले आत्मा को प्राप्त करता है।

श्री समयसारकलश में कहा है :-

अध्यास्यशुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न -
मैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादि मुक्तमनसः सततं भवन्तः
पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारं ॥१२०॥

भावार्थ- महान ज्ञान के लक्षण धारी शुद्धनिश्चयनय के द्वारा जो सदा ही अपने आत्मा के एक स्वभाव का अनुभव करते हैं, वे रागादि भावों से छूटकर बंधरहित शुद्ध आत्मा को देख लेते हैं।

दोहा ७८

तीन को छोड़ कर तीन गुण विचारे

तिहिं रहियउ तिहिं गुण सहिउ जो अप्पाणि वसेइ।
सो सासय सुह भायणु वि जिणवरू एम भणेइ ॥

अन्वयार्थ- **(तिहिं रहियउ)** तीन राग- द्वेष- मोह से रहित होकर **(तिहिं गुण सहिउ अप्पाणि जो वसेइ)** तीन गुण सम्यग्दर्शन- ज्ञान- चारित्र सहित आत्मा में जो निवास करता है **(सो सासय- सुह- भायणु वि)** सो अविनाशी सुख का भाजन होता है **(जिणवरु एम भणेइ)** जिनेन्द्र ऐसा कहते हैं।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि जीव को यह निश्चय होता है कि आठों ही कर्म बंध आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं। इनमें मोहनीय कर्म मुख्य है। इसी के उदय या प्रभाव से जीव का उपयोग राग- द्वेष- मोह से मलीन हो जाता है व सर्व ही कर्म का बंध इन राग द्वेष मोह की मलीनता से होता है। जैसे

विवेकी जीव मलीन पानी में निर्मली डालकर मिट्टी को पानी से अलग करके निर्मल पानी को पीता है। वैसे ही ज्ञानी जीवभेदविज्ञान के बल से राग द्वेष मोह को आत्मा से भिन्न करके वीतराग विज्ञानमय आत्मा का अनुभव करता है। राग-द्वेष-मोह के हटाने के लिये ज्ञानी जीव मोहनीय कर्म, राग द्वेष मोह भावों तथा उन्हें उत्पन्न करने वाले बाहरी द्रव्यों से परम उदास हो जाता है।

व्यवहारनय से देखने पर संसारी जीवों में भेद दिखता है। मित्र- शत्रु का, माता- पिता का, पुत्र- पुत्री का, स्वामी- सेवक का, ध्याता- ध्येय का, सुन्दर- असुन्दर का, रोगी- निरोगी का, धनिक- निर्धन का, राजा- प्रजा का, देव- नारकी का, पशु- मानव का, स्थावर- त्रस का, सूक्ष्म- बादर का, पर्याप्त- अपर्याप्त का, प्रत्येक- साधारण का, पापी- पुण्यात्मा का, लोभी- सन्तोषी का, मायावी व सरल का, मानी व विनयवाले का, क्रोधी व कपटवाले का, स्त्री- पुरुष का, बालक व वृद्ध का, अनाथ व सनाथ का, सिद्ध व संसारी का, ग्रहण योग्य व त्यागने योग्य का भेद दिखता है; तब विषयभोग का लोलुपी व कषाय का धारी जीव इष्ट से राग व अनिष्ट से द्वेष करता है। यह सब बाहरी व्यवहार में दिखनेवाला जगत राग-द्वेष-मोह को पैदा करने का निमित्त हो जाता है।

इसलिए ज्ञानी को राग-द्वेष- मोह भावों की मलीनता को न पाने के लिये निश्चयनय से जगत को देखना चाहिये। तब सर्व ही छः द्रव्य अपने मूल स्वभाव में अलग अलग दिख पड़ेंगे। सर्व पुद्गल परमाणु, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, असंख्यात कालाणु सब ही अपने- अपने स्वभाव में दिख पड़ेंगे तथा सर्व ही जीव एक समान शुद्ध दिख पड़ेंगे। आप भी अपने को शुद्ध देखेगा, तब समभाव हो जायेगा। राग द्वेष मोह का बाहरी निमित्त बुद्धि से निकल गया तो आस्रव बिना उन भावों का भी निरोध हो जाता है। इस तरह ज्ञानी जीव आत्मानुभव के लिये राग द्वेष मोह को दूर करे, फिर अपने आत्मा के तीन गुणों को ध्यावे।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों ही आत्मा के गुण हैं। आत्मा का स्वभाव यथार्थ प्रतीति का धारी है। आपको आप, पर को पर यथार्थ श्रद्धान करनेवाला है व सर्व लोकालोक के द्रव्य गुण पर्यायों को एक साथ जाननेवाला है। व चारित्र गुण से यह परम वीतराग है, रत्नत्रय स्वरूप यह आत्मा अभेददृष्टि से एक रूप है। शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल है। परम निरंजन, निर्विकार, परमज्ञानी, परमशांत व परमानंद मय है। इसतरह बार बार अपने आत्मा को ध्यावे। तब परिणामों की थिरता होने पर स्वयं आत्मानुभव प्रगट होगा, यही मोक्ष का मार्ग है।

आत्मानुभव के समय अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आयेगा। इसी स्वाद को लेते हुए आत्मानुभव करते हुए क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर अरहंत परमात्मा होकर अनंतसुख का भोगनेवाला हो जाता है।

श्री समयसारकलश में कहा है :-

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकं ।
नास्ति-नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्ध चिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

भावार्थ- मैं अपने से ही अपने आत्मीक शुद्धरस से पूर्ण चेतन प्रभु का अनुभव करता हूँ। मैं केवल शुद्ध ज्ञान का भंडार हूँ। मेरा मोहकर्म से बिल्कुल कोई सम्बन्ध नहीं है।

दोहा ७९

चार को छोड़कर चार गुण विचार

चउ कसाय सण्णा रहिउ चउ गुण सहियउ वुत्तु ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ जिम परु होहि पवित्तु ॥

अन्वयार्थ- **(चउ कसाय)** चार क्रोधादि कषाय **(सण्णा)** चार संज्ञा आहार, भय, मैथुन तथा परिग्रह **(रहिउ)** रहित **(चउ गुण सहियउ अप्पा वुत्तु)** व दर्शन ज्ञान सुख तथा वीर्य चार गुण सहित आत्मा कहा गया है **(जीव तुहुं सो मुणि)** हे जीव ! तू उसका ऐसा मनन कर **(जिम परू पवित्त होहि)** जिससे तू परम पवित्र हो जावे।

भावार्थ- आत्मा को मलिन करनेवाली चार कषाय है। क्रोध, मान, माया, लोभ चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ है जब इनका उदय होता है तब क्रोधादि भाव प्रगट होते हैं। वे कषाय आत्मा के स्वभाव नहीं है। आत्मा के तत्त्व को इनसे रहित परम वीतरागी जाने व साधक स्वयं भी इन कषायों के होने का निमित्त बचावे, सदा ही शांत भाव वे समभाव से रहने का उद्यम करे। व्यवहार में गौण भाव रखे।

निश्चयनय से जगत को देखने का अधिक अभ्यास करे। वस्तु स्वरूप को विचार करके किसी अपराधी पर क्रोध न करके उसको सुधारने का प्रयत्न करे। जैसे रोगी पर दया रखनी चाहिये, वैसे अपराधी पर दया रखनी चाहिए। उसको ठीक मार्ग पर चलाने का उद्यम करना चाहिये। क्रोध शीघ्रता से बिना विचारे निर्बल पर ही आ जाता है। यदि कुछ समय विचार को

दिया जावे तो कारण विचार लेने पर निर्बल पर दया आ जावेगी। क्षणभंगुर गृहलक्ष्मी आदि, विद्या व तप का मान कदापि न करना चाहिए। फल के भार से वृक्ष जैसे झुके रहते हैं वैसे ही ज्ञानी को सम्पत्ति, विद्या व तप बल होने पर विशेष कोमल व विनयवान होना चाहिए। पर को ठगने का भाव मन से अलग करके मायाचार से नहीं वर्तना चाहिए। सरल- सीधा- सत्य व्यवहार ज्ञानी को रखना चाहिए। लोभ मन को मैला रखता है, सन्तोष से उसे जीतना चाहिए।

आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञाएँ हैं। लोभ कषाय, भय नोकषाय वेद नोकषाय ये संज्ञाएँ होती है। आत्मा का स्वभाव इनसे बाहर है, आत्मा का स्वभाव परम निस्पृह है। ज्ञानी को सन्तोष के द्वारा आहार संज्ञा को, निर्भरता के द्वारा भय को, **ब्रह्मचर्य** के द्वारा मैथुन को तथा अपरिग्रह व तृष्णा रहित भाव से परिग्रह संज्ञा को जीतना चाहिए। आत्मा को उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच इन चार गुण सहित व ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य चार अनन्त चतुष्टय सहित ध्याना चाहिए।

पवित्र होने का उपाय पवित्र का ध्यान करना है। मैं कषाय रहित व संज्ञाओं से रहित शुद्धात्मा हूँ व सर्व ही विश्व की आत्माएँ शुद्ध हैं, इस तरह भावना करने से स्वानुभव का लाभ होता है। स्वानुभव को ही धर्म ध्यान तथा शुक्लध्यान कहते हैं।

कषाय ही कर्मों में स्थिति व अनुभाग बंध के कारण हैं तब वीतरागभाव कर्मों की स्थिति व अनुभाग को सुखानेवाले हैं। जैसे अग्नि की ताप से अशुद्ध स्वर्ण शुद्ध होता है, वैसे ही आत्म-ध्यान की प्राप्ति के प्रताप से अशुद्धत्मा पवित्र हो जाता है। जैसे मलीन वस्त्र पर ध्यान पूर्वक मसाला रगड़ने पर साफ होता है, वैसे ही यह कर्मों से मलीन आत्मा ज्ञान- वैराग्य के मसाले के साथ ध्यानपूर्वक रगड़ने से या स्वानुभव के अभ्यास से शुद्ध होता है। मुमुक्षु को निरन्तर आत्मा के उपवन में रमण करना चाहिए।

श्री आत्मानुशासन में कहा है :-

हृदयसरसियाव- न्निर्मलेऽप्यत्यगाधे,
वसति खलु कषायग्राहचक्रं संमतात् ।
श्रयति गुणगुणोऽयं तत्र तावद्विशंकं,
समदमयमशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व ।।२१३।।

भावार्थ- गम्भीर व निर्मल मन के सरोवर के भीतर जब तक चारों तरफ से कषायरूपी मगर

मच्छों का वास है, तब तक गुणों के समूह शंका रहित होकर वहाँ नहीं ठहर सकते। इसलिए तू समताभाव, इन्द्रिय-दमन व विनय के द्वारा उन कषायों के जीतने का यत्न कर।

दोहा ८०

पाँच के जोड़ो से रहित व दश गुण सहित आत्मा को ध्यावे

बे-पंचहँ रहियउ मुणहि बे- पंचहँ संजुत्तु ।
बे-पंचहँ जो गुणसहिउ सो णिरूवुत्तु ।।

अन्वयार्थ- **(बे- पंचहँ रहियउ)** दो प्रकार के पाँचों से रहित होकर अर्थात् पाँच इन्द्रियों को रोककर व पांच अव्रतों को त्यागकर **(बे पंचहं संजुत्तु मुणहि)** दो प्रकार के पांच अर्थात् पांच इन्द्रियदमनरूप संयम व पांच महाव्रत सहित होकर आत्मा का मनन करो **(जो बे- पंचहँ गुणसहिउ सो अप्पा णिरूवुत्तु)** जो दश गुण उत्तम क्षमादि सहित है व अनंतज्ञानादि दश गुण सहित है उसको निश्चय से आत्मा कहा जाता है।

भावार्थ- आत्मा का मनन निश्चिन्त होकर करना चाहिए। पाँच इन्द्रियों के विषयों में उलझा हुआ उपयोग आत्मा का मनन नहीं कर सकता। इसलिए पांच इन्द्रियों को संयम में रखना चाहिए इन्द्रिय विजयी होना चाहिए व जगत के आरम्भ से छूटने के लिये हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह इन पांच अविरत भावों से विरक्त होकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग इन पांच महाव्रतों को पालना चाहिये। साधुपद में द्रव्य व भाव दोनों रूप से निर्ग्रन्थ होकर एकाकी भाव से शुद्धनिश्चयनय के द्वारा अपने शुद्धात्मा का मनन करना चाहिए।

भेददृष्टि से आत्मा का मनन करते हुए उसको दशलक्षणरूप विचारना चाहिये। यह आत्मा क्रोध विकार के अभाव से पृथ्वी के समान उत्तम क्षमा गुणधारी है। मान के अभाव से उत्तम मार्दव गुणधारी है। माया के अभाव से उत्तम आर्जव गुणधारी है। असत्य ज्ञान के अभाव से उत्तम सत्य धर्मधारी है। लोभ के अभाव से उत्तम शौच गुणधारी है। असंयम के अभाव के स्वरूप में रमणरूप उत्तम संयम गुणधारी है। सर्व इच्छाओं के अभाव होने से आत्मा एक एक शुद्ध वीतरागभाव से तपना एक उत्तम गुण है, यह आत्मा परम तपस्वी है। यह आत्मा अपनी शुद्ध परिणति को या आत्मानन्द को आपके लिये (स्वयं के लिये) दान करता है, यही इसका उत्तम त्याग धर्म है। इस आत्मा के उत्तम अकिंचन्य गुण है, इस आत्मा के भीतर अन्य आत्माओं

का पुद्गल द्रव्य का, धर्म, अधर्म, काल, आकाश का अभाव है, यह पूर्ण अपरिग्रहवान है, परम असंग है। यह आत्मा उत्तम ब्रह्मचर्य गुण का धारी है, निरन्तर अपने ब्रह्मभाव में मगन रहनेवाला है। इस तरह दश लक्षणों को विचारे अथवा अपने आत्मा को दश गुण सहित विचारे।

यह आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र, अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्तभोग, अनन्तउपभोग, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, इन दश विशेष गुणों का धारी परमात्मा स्वरूप है। यह सर्वज्ञ व सर्वदर्शी होकर भी आत्मज्ञ व आत्मदर्शी है। यह ज्ञेय की अपेक्षा सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहलाता है। शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी होकर निरन्तर आत्म प्रतीति में वर्तमान है। सर्व कषाय भावों के अभाव से परम वीतराग यथाख्यातचारित्र से विभूषित है। आपके (स्वयं के) आनन्द को आपको (स्वयं को) देता है, सो अनन्त दान करनेवाला है। निरन्तर स्वात्मानन्द का लाभ करना ही अनन्त लाभ है। स्वात्मानन्द का ही निरन्तर भोग है। अपने आत्मा का ही बार बार उपभोग है। गुणों के भीतर परिणमन करते हुए कभी भी खेद नहीं पाता, यही अनन्त वीर्य है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय कर्मों से रहित होकर अनन्तसुख का समुद्र है।

अभेदनय से एक अखण्ड आत्मा को ध्यावे तब स्वानुभव का लाभ होगा। यही आत्मदर्शन है व यही सुख शान्ति प्रदायक भाव है। यही आत्मसमाधि है, यही निश्चय रत्नत्रय की एकता है मुमुक्षु जीव को निश्चिन्त होकर परम प्रेमभाव से अपने आत्मा की ही आराधना करना चाहिये।

श्री बृहत् सामायिक पाठ में कहते हैं :-

व्यावृत्येंद्रियगोचरोरूगहने लोलं चरिष्णुं चिरं ,
दुर्वारं हृदयोदरे स्थिरतरं कृत्वा मनोमर्कटं ।
ध्यानं ध्यायति मुक्तये श्रममतेर्निर्मुक्तभोगस्पृहो ।
नोपायेन बिना कृता हि विधयः सिद्धिं लभंते ध्रुवं ।।५४।।

भावार्थ- दुर्वार मनरूपी बन्दर चिरकाल से लोलुपी होकर पाँच इन्द्रियों के महान वन मे रमण कर रहा था, उसको वहाँ से रोककर अपने हृदय के भीतर स्थिररूप से बाँधकर रखे। तथा सर्व भोगों की अभिलाषा त्याग करके, परिश्रम करके केवल मोक्ष के ही हेतु आत्मा का ध्यान करे, क्योंकि उपाय के बिना कार्य सिद्धि नहीं होता। उपाय से निश्चित काम सिद्ध होता है।

दोहा ८१

आत्मरमण में तप- त्यागादि सब कुछ है

अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि ।
अप्पा संजमु सील तउ अप्पा पच्चक्खाणि ।।

अन्वयार्थ- **(अप्पा दंसणु णाणु मुणि)** आत्मा को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान जानो **(अप्पा चरणु विसाणि)** आत्मा को सम्यक्चारित्र समझो **(अप्पा संजमु सील तउ)** आत्मा ही संयम है, शील है, तप है, **(अप्पा पच्चक्खाणि)** आत्मा ही प्रत्याख्यान या त्याग है।

भावार्थ- आत्मा के स्वभाव में रमणता होने पर ही सर्व ही मोक्ष के साधन निश्चयनय से प्राप्त हो जाते हैं। व्यवहार नय से देव-शास्त्र-गुरु का तथा जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। निश्चय से वह आत्मा का ही निज गुण है। जहाँ श्रद्धा व रूचि सहित आत्मा में थिरता से तिष्ठना होता है वही भावनिक्षेपरूप यथार्थ परिणमनशील सम्यग्दर्शन है। व्यवहार में आगम ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, निश्चय से ज्ञान में अपने आत्मा का शुद्ध स्वभाव झलकना ही सम्यग्ज्ञान है।

व्यवहार में साधु या श्रावक का महाव्रत या अणुव्रतरूप आचरण सम्यक्चारित्र है। निश्चय से वीतराग भाव ही सम्यक्चारित्र है। जहाँ आत्मा में स्थिरता है वहाँ निश्चय सम्यक्चारित्र है। व्यवहार में पाँच इन्द्रिय व मन निरोध इन्द्रियसंयम व पृथ्वीकायादि छह प्रकार के प्राणियों की रक्षा प्राणीसंयम है। निश्चय से अपने ही शुद्ध स्वभाव में अपने को संयमरूप रखना, बाहर कहीं भी राग द्वेष न करना आत्मा का धर्म संयम है।

व्यवहार से मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से नौ प्रकार काम- विकार को टालकर शील पालना ब्रह्मचर्य है। निश्चय से ब्रह्मस्वरूप आत्मा में ही चलना ब्रह्मचर्य है, सो आत्मारूप ही है। व्यवहार से बारह प्रकार तप पालना तप है। निश्चय से आत्मा के शुद्ध स्वरूप में तपना तप है। आत्मीक भाव में प्रकाश पाने के लिये ये तप सहाई है। तपस्वी का, योगी को उचित है कि इन्द्रियदमन व मन, वचन, काय की शुद्धि के लिये उपवास करता रहे। भोजन ऊनोदर करे, मात्रा से कम ले, जिससे ध्यान स्वाध्याय में प्रमाद न आवे, निद्रा को विजय करे व शरीर निरोगी रहे।

भिक्षा लेने के लिये कोई नियम ऐसा ले जिससे गृहस्थ को कोई आरम्भ विशेष न करना

पड़े व अपने परिणामों की जाँच हो कि नियम पूरा न होने पर यह सन्तोष से निराहार रह सके, सो वृत्ति परिसंख्यान तप है। जिह्वा इन्द्रिय के वश करने को व शरीर में मद न बढ़ने देने के लिये व राग के घटाने के लिये दूध, दही, घी, तेल, लवण, शक्कर इन छहों का या कम को त्यागकर साधु नित्य आहार करते हैं। शरीर की स्थिति के लिये मात्र धर्म- सेवनार्थ सन्तोष से आहार करते हैं सो रसपरित्याग तप है।

साधुजन स्त्री, पुरुष, नुपंसक, पशु आदि भावों से विचार के निमित्त कारण जहाँ न हो ऐसे एकान्त स्थान में आसन करते हैं व ध्यान स्वाध्याय की सिद्धि करते हैं सो विविक्तशय्यासन तप है। शरीर के सुखिया व आलसी स्वभाव को मिटाने के लिये कठिन- कठिन निर्जन स्थानों में आसन जमाकर ध्यान करते हैं।

नदीतट, वृक्षतल, पर्वत, गुफा में बैठकर नग्न तन होते हुए शीत ताप सहते हैं। दूसरों को दिखता है कि काय को क्लेश दे रहे हैं, परन्तु मुमुक्षु आत्मानन्द में मगन रहते हैं सो कायक्लेश तप है। जैसे कपड़े पर मैल लगने पर पानी से धोकर साफ किया जाता है वैसे मन, वचन, काय सम्बन्धी कोई दोष हो जाने पर उसका प्रायश्चित लेकर व प्रतिक्रमण करके शुद्ध करना, भावों को निर्मल करना सो प्रायश्चित तप है। रत्नत्रय धर्म की व धर्मधारकों की भक्ति रखना व व्यवहार में विनयशील रहना विनयतप है।

अन्य साधु को थका हुआ, रोगी व अशक्त देखकर शरीर सेवा उपदेश से तथा गृहस्थों को व जगत के प्राणियों को धर्मोपदेश से उनकी आत्माओं को शान्ति व सन्तोष पहुँचाना वैयावृत्य तप या सेवा धर्म है। आत्मज्ञान की निर्मलता के लिये व छह द्रव्यों के गुण पर्यायों का विशेष ज्ञान होने के लिये जिनवाणी के ग्रन्थों का पठन- पाठन- मनन व कठंस्थ करना स्वाध्याय तप है। यह बड़ा ही उपकारी है। अन्तरंग में विभावों से, बाहर में शरीरादि परवस्तुओं से विशेष ममता का त्याग सो व्युत्सर्ग तप है। धर्मध्यान का एकान्त में अभ्यास करना सो ध्यान तप है।

इन बारह प्रकार के तपों से वर्तते हुए अपने आत्मा को तपना सो ही निश्चय तप है। नियम या यम रूप से किन्हीं भोजन पानादि का व किन्ही वस्तुओं का त्याग करना व्यवहार प्रत्याख्यान है। अपने आत्मा का सर्व परद्रव्य से व परभावों से भिन्न अनुभव करना सो निश्चय प्रत्याख्यान है। अभिप्राय यह है कि जब यह उपयोग अपने ही आत्मा के शुद्धस्वरूप में रमण करके स्वानुभव में रहता है तब ही वास्तव में रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है। तप ही यद्यपि संयम है, शील है, तप

है, प्रत्याख्यान है, अतएव आत्मस्थ रहना योग्य है।

श्री समयसार में कहा है :-

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ।।२७७।।

भावार्थ- निश्चय से मेरे ज्ञान में, दर्शन में, चारित्र में आत्मा ही है। जब मैं रत्नत्रय में रमण करता हूँ, तब आत्मा ही के पास पहुँचता हूँ। त्यागभाव में रहना भी आत्मा में तिष्ठना है। आस्रव निरोधी संवर भाव में या एकाग्र योगाभ्यास में भी आत्मा ही सन्मुख रहता है।

दोहा ८२

परभावों का त्याग ही सन्यास है

जो परयाणइ अप्प परू सो परू चयइ णिभंतु ।
सो सण्णासु मुणेहि तुहुँ केवलणाणिं उत्तु ।।

अन्वयार्थ- (जो अप्परु परयाणइ) जो आत्मा व पर को पहचान लेता है **(सो णिभंतु परु चयइ)** वह बिना किसी भ्रान्ति के पर को त्याग देता है **(तुहुँ सो सण्णासु मुणेहि)** तू उसे ही सन्यास या त्याग जान **(केवलणाणि उत्त)** ऐसा केवलज्ञानी ने कहा है।

भावार्थ- अन्तरंग में परभावों के ममत्व के त्याग को सन्यास कहते हैं। बाहरी परिग्रह का त्याग अन्तरंग त्यागभाव का निमित्त साधक है। इस सन्यास का प्रारम्भ सम्यग्दृष्टि अविरति के हो जाता है। सम्यग्दृष्टि भले प्रकार जानता है कि मेरा स्वामीपना मेरे ही एक आत्मा से है, मेरे आत्मा का अभेदरूप द्रव्यत्व मेरा द्रव्य है, मेरे आत्मा का असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र मेरा क्षेत्र है, मेरे आत्मा के गुणों का समय समय परिणमन मेरा काल है, मेरे आत्मा के शुद्ध गुण मेरा भाव है, मैं सिद्ध के समान शुद्ध निरंजन निर्विकार हूँ, मैं पूर्ण ज्ञान- दर्शनवान हूँ, पूर्ण आत्मवीर्य का धनी हूँ, परम आनन्दमय अमृत का अगाध सागर हूँ, मैं परम कृतकृत्य हूँ, जीवनमुक्त हूँ।

मेरा कोई सम्बन्ध न अन्य आत्माओं से है न पुद्गल के कोई परमाणु व स्कंध से है। न धर्म, अमर्ध, आकाश व कालद्रव्य से है, न मेरे में आठ कर्म है, न शरीरादि हैं, न रागादि भाव हैं, न मेरे में इन्द्रिय के विषयों की अभिलाषा है, न मैं इन्द्रिय सुख को सुख जानता हूँ, मैं अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय सुख को सच्चा सुख जानता हूँ, सो मेरा धन मेरे पास है। इस तरह सम्यग्दृष्टि

त्यागी श्रद्धा व ज्ञान परिणति की अपेक्षा परम सन्यासी है, परम त्यागी है। जैसे कोई प्रवीण पुरुष अपने भीतर होने वाले रोगों को पहचानकर व उनसे अहित जानकर उन रोगों से पूर्णपने उदासीन हो जावे। वैसे सम्यक्त्वी जीव खास कर्मों के संयोग से होने वाले रागादि भाव व शरीरादि रोगों को रोग व आत्मा के लिये हानिकारक जान उनसे पूर्ण वैरागी हो जाता है। अब रोग निवारण का उद्यम करना ही रोगी के लिये शेष रहा है सो प्रवीण रोगी बड़े भाव से प्रवीण वैद्य द्वारा बताई हुई औषधि को सेवन करता हुआ धीरे धीरे निरोगी हो जाता है। उसी तरह सम्यक्त्वी जीव चारित्र मोहनीय के विकारों को दूर करने के लिए पूर्णपने कटिबद्ध हो जाता है। यह भी उसने श्री गुरु परम वैद्य से जाना है कि भावकर्म के रोग मिटाने के लिये सत्ता में बैठे कर्मों को नाश करने के लिए व नवीन रोग के कारण से बचने के लिये शुद्धात्मानुभव ही एक परम औषधि है।

यह सम्यग्दृष्टि समय निकालकर स्वानुभव करता रहता है। कषायों के अनुभाग को सुखाता रहता है। आत्मबल बढ़ने पर व मन्दकषाय के उदय होने पर यह अधिक समय थिरता पाने के लिये श्रावक के चारित्र को निमित्त कारण जानकर धारण कर लेता है। धीरे- धीरे जैसे जैसे भाव बढ़ता है, वह श्रावक की ग्यारह श्रेणी रूप प्रतिमाओं पर चला जाता है। जब स्वानुभव की अलग शक्ति इतनी बढ़ा लेता है कि एक अन्तमुहूर्त से अधिक स्वानुभव से अलग नहीं रह सके, घड़ी घड़ी के बाद बार- बार आत्मतत्त्व का स्वाद लेवे व गमन को कोई प्रपंच नहीं रूचे व आत्मरस में मानो उन्मत्त हो जावे, तब बाहरी सकल परिग्रह त्याग करके सन्यासी या निर्ग्रन्थ हो जाता है। श्रद्धान व ज्ञान की अपेक्षा तो सन्यासी अविरत सम्यक्त्व के चौथे गुणस्थान में ही हो गया था अब छठवें सातवें गुणस्थान में रहकर चारित्र की अपेक्षा भी सन्यासी हो गया है। निर्ग्रन्थ पद में रहकर दिन- रात स्वानुभव का अभ्यास करता है। यदि तद्भव मोक्षगामी होता है तो क्षायिक - श्रेणी पर चढ़कर शीघ्र ही चार घातीय कर्मों का क्षय करके केवलज्ञानी हो जाता है। यहाँ तात्पर्य यह है कि आत्मा के सिवाय सर्व पर के साथ राग द्वेष- मोह का त्याग ही सन्यास है।

श्री समयसार कलश में कहा है :-

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव,
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०९॥

भावार्थ- मोक्ष के चाहनेवाले महात्मा को उचित है कि सर्व ही क्रियाकांड व मन- वचन- काय की क्रिया का ममत्व त्याग देवे व जहाँ आत्मा के निजस्वभाव के सिवाय सर्व का त्याग हो वहाँ पुण्य व पाप के त्याग की क्या बात ? अर्थात् इन दोनों का त्याग है ही। सम्यग्दर्शन- ज्ञान- चारित्र आदि स्वभाव में रहना ही मोक्ष का मार्ग है। इस मार्ग में जो रहता है उसके पास कर्मरहित भाव से प्राप्त व आत्मीक रस से पूर्ण ऐसा केवलज्ञान स्वयं दौड़कर आ जाता है।

दोहा ८३

रत्नत्रय धर्म ही उत्तम तीर्थ है

रयणत्तय- संजुत्त जिउ उत्तिमु तित्थु पवित्तु ।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ।।

अन्वयार्थ- (जोइया) हे योगी ! **(रयणत्तय- संजुत्त जिउ उत्तिमु पवित्तु तित्थु)** रत्नत्रय सहित जीव उत्तम व पवित्र तीर्थ है **(मोक्खहं कारण)** यही मोक्ष का उपाय है **(अण्णु तंतु ण मंतु ण)** और कोई तन्त्र या मन्त्र नहीं है।

भावार्थ- कर्मबन्ध से छूटने का उपाय या भवसागर से पार होने का उपाय रत्नत्रय धर्म है। इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। निश्चय रत्नत्रय साक्षात मोक्षमार्ग है या उपादान कारण है। व्यवहार रत्नत्रय उपादान के प्रकाश के लिये बाहरी निमित्त है। कार्य की सिद्धि उपादान और निमित्त दोनों कारणों के होने पर होती है। मलीन सुवर्ण आग व मसालों का निमित्त पाकर स्वयं साफ होता है। मलीन वस्त्र मसाले व पानी का निमित्त पाकर स्वयं उजला होता है। चावल आग व पानी का निमित्त पाकर स्वयं भात बन जाता है। चने के दाने चक्की का निमित्त पाकर स्वयं चूर्ण हो जाते हैं। घानी का निमित्त पाकर तिलों में से तेल निकलता है।

मिट्टी स्वयं घड़ा रूप हो जाती है, कुम्हार का चाक आदि निमित्त है। कार्यरूप स्वयं उपादान कारण हो जाता है। जब तक कार्य हो रहा हो तब तक वह निमित्त सहायक होता है फिर निमित्त बिलकुल अलग रह जाता है। आत्मा अपनी शुद्धि में या उन्नति में आप ही उपादान कारण है, निमित्त शरीरादि अनेक बाहरी क्रिया हैं। यदि उनसे शरीर वज्रवृषभनाराच संहनन, उत्तम आर्य क्षेत्र, चतुर्थ दुखमा सुखमा काल, साधु का बाहरी निर्ग्रन्थ भेष व चारित्र न हो तो मोक्ष के लिये आत्मा का भाव विशुद्धि को नहीं पाता है। अतएव व्यवहार रत्नत्रय के आलम्बन से

निश्चय रत्नत्रय का आराधन कार्यकारी है। यह अपना आत्मा द्रव्यस्वभाव से परम शुद्ध है, ज्ञाता दृष्टा है, अनंत वीर्य व अनन्त सुख का सागर है, परम वीतराग है, सर्व अन्य द्रव्यों की सत्ता से रहित है।

स्वयं ज्ञानचेतनामय है, परम निराकुल है, यही परमात्मा देव है, ऐसा दृढ़ श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है, इसकी प्राप्ति का उपाय अन्तरंग निमित्त अनन्तानुबंधी कषाय व मिथ्यात्व का उपशम है व बाहरी उपाय देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान व जीवादि सात तत्त्वों का पक्का श्रद्धान है तथा आत्मा व पर का भेदविज्ञान पूर्वक विचार है। मन-वचन-काय की सर्वक्रिया निमित्त है। अन्तरंग व बहिरंग निमित्त होने पर निश्चय सम्यग्दर्शन आत्मा की ही भूमिका से उपज जाता है। आत्मा ही उपादान कारण है। आत्मा का आत्मारूप यथार्थ ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है। आगम द्वारा तत्त्वों का व द्रव्यों का मनन व्यवहार सम्यग्ज्ञान है, निमित्त है। आत्मा के अभ्यास से व गुरु के उपदेश के निमित्त से भीतर उपादान आत्मा से ज्ञान का प्रकाश होता है। अन्तरंग विभिन्न ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व अन्तराय कर्म का क्षयोपशम है।

आत्मा का आत्मा के भीतर आत्मा के द्वारा ही पर के आलम्बन रहित रमण करना निश्चय सम्यक्चारित्र है। निमित्त साधन अन्तरंग चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम है, बाहरी साधन श्रावक का एकदेश व साधु का सकल चारित्र है।

आत्मानुभव ही तीर्थ है, जहाज है, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीन आत्मीक धर्मों से रचित है। इस जहाज पर जो आत्मा आप ही चढ़कर उस जहाज को अपने ही आत्मारूपी समुद्र पर चलाता है वह आप ही मोक्षद्वीप को पहुँच जाता है, वह द्वीप भी आप ही है। अपना पूर्ण भाव कार्य है, अपूर्णभाव कारण है। इस तरह जो कोई निश्चित होकर आत्मा का सतत् अनुभव करता है वही परमानन्द का स्वाद पाता हुआ व कर्मों का संवर व उनकी निर्जरा करता हुआ उन्नति करता जाता है, यही कर्तव्य है।

श्री तत्त्वार्थसार के उपसंहार में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं:-

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२॥
श्रद्धानाधिगमोपक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ॥३॥

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना ।
सम्यकत्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ।।४।।

भावार्थ- मोक्षमार्ग निश्चय तथा व्यवहार से दो प्रकार का है। निश्चय मार्ग साध्य है, व्यवहार मार्ग साधन है। अपने ही शुद्ध आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान व सर्व पर से उदासीन भावरूप उपेक्षा या स्वरूप में लीनता रूप चारित्र ऐसा निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आत्मा का शुद्धभाव निश्चय मार्ग है परपदार्थों की अपेक्षा से श्रद्धान, ज्ञान व त्याग करना व्यवहार रत्नत्रय मोक्षमार्ग है। व्यवहार के सहारे निश्चय को प्राप्त करना चाहिए।

दोहा ८४

रत्नत्रय का स्वरूप

दंसणु जं पिच्छियइ बुह अप्पा विमल महतु ।
पुणु पुणु अप्पा भावियए सो चारित्त पवित्तु ।।

अन्वयार्थ- **(अप्पा विम महंतु)** यह आत्मा मल रहित शुद्ध व महान परमात्मा है **(जं पिच्छियइ बुह दंसणु)** ऐसा जो श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है व ऐसा जानना सो ज्ञान है **(पुणु पुणु अप्पा भावियए सो चारित्त पवित्र)** बारबार इस आत्मा की भावना करनी सो पवित्र या निश्चय शुद्ध चारित्र है।

भावार्थ- अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानकर श्रद्धान करना चाहिये। यह आत्मा द्रव्य परिणमनशील है, गुणों का समूह है। गुणों में स्वभाव परिणमन होना द्रव्य का धर्म है। परिणमन शक्ति से ही गुणों की समय- समय पर्यायें होती है, व्यवहारनय से यह अपना आत्मा कर्म सहित मलीन दिखता है। कर्मों के संयोग से चौदह गुणस्थान व चौदह मार्गणारूप आत्मा की अवस्थाएँ होती हैं, वे आत्मा का निज शुद्धस्वभाव नहीं हैं। जब निश्चय नय से जाना जावे तो यह आत्मा यथार्थ में जैसा मूलद्रव्य है वैसा जानने में आता है।

यह आत्मा सत् पदार्थ है, कभी न जन्मा, न कभी नाश होगा, स्वतः सिद्ध है, किसी ने उसको पैदा नहीं किया, न यह किसी को पैदा करता है। यह लोक अनादिकाल से है, छः द्रव्यों के समूह को लोक कहते हैं। वे सब द्रव्य अनादि से अनन्तकाल तक सदा ही बने रहते हैं। अनन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल है, असंख्यात कालाणु हैं, एक धर्मास्तिकाय है, एक अधर्मास्तिकाय

है, एक आकाश है। आत्मा आत्मा रूप से सब समान है तथापि हर एक आत्मा की सत्ता दूसरी आत्मा की सत्ता से निराली है।

अपने आत्मा को एकाकी देखे, इसमें न आठ कर्मों का बंधन है, न इसमें रागादि विकारी भाव है, न कोई स्थूल औदारिक व वैक्रियक शरीर है। यह आत्मा शुद्ध स्फटिकमणि के समान परम निर्मल है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों का सागर है। यह आत्मा न किसी का उपादान कारण है, न किसी का निमित्त कारण है। संसारदशा में आत्मा शरीर नामकर्म के उदय से चंचल होकर मन-वचन-काय के द्वारा योगों में परिणमन करता है व कषाय के उदय से शुभ व अशुभ उपयोग होता है। ये योग व उपयोग ही लौकिक कारणों में निमित्त हैं। कुम्हार घड़ा पकाता है। मिट्टी घड़े का उपादान कारण है, कुम्हार का मन- वचन-काय योग व अशुद्ध उपयोग निमित्त कारण है। शुद्ध आत्मा में न योगों का कार्य है, न कोई शुभ या अशुभ उपयोग है। आत्मा स्वभाव से अकर्ता व अभोक्ता है। न तो परभावों का कर्ता है, न परभावों को भोक्ता है। आत्मा स्वभाव से अपनी शुद्ध परिणति का कर्ता है व सहज शुद्ध सुख का भोक्ता है। **यह आत्मा परम पदार्थ परमात्मा है। मैं ऐसा ही हूँ - ऐसा निश्चय अनुभवपूर्वक होना ही सम्यग्दर्शन गुण का प्रगट होना है।**

वह सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व कर्म व अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम बिना नहीं होता है। शास्त्रों को ठीक- ठीक जानने पर भी जहाँ तब स्वानुभव न हो वहाँ तक ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है। सम्यग्दर्शन के प्रकाश होते ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। मुमुक्षु को उचित है कि आत्मा के श्रद्धान व ज्ञान में बार- बार रमण करे। बार- बार भावना भावे। भावना में चलना सो चारित्र है। जहाँ आत्मा आपसे आप मे स्थिर हो जाता है वहाँ रत्नत्रय की एकता होती है। वही मोक्षमार्ग है। रत्नत्रय धर्म निज आत्मा का स्वभाव ही है।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है :-

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥
सम्यक्त्वचरित्रबोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥२२२॥

भावार्थ- अपने आत्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन है। अपने आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। अपने

आत्मा में स्थिरता सम्यक्चारित्र है। इन तीनों से कर्मबन्ध नहीं होता है। निश्चय व्यवहार रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग यही आत्मा को परमपद में पहुँचा देता है।

दोहा ८५

आत्मानुभव में सब गुण हैं

जहिं अप्पा तहिं सयल-गुण केवलि एम भणंति।
तिहि कारणएँ जोइ फुडु अप्पा विमलु मुणंति॥

अन्वयार्थ- **(जहिं अप्पा तहिं सयल-गुण)** जहाँ आत्मा है वहाँ उसके सर्व गुण हैं। **(केवलि एम भणंति)** केवली भगवान ऐसा कहते हैं **(तिहि कारणएँ जोइ फुडु विमलु अप्पा मुणंति)** इस कारण योगीगण निश्चय से निर्मल आत्मा का अनुभव करते हैं।

भावार्थ- शुद्धात्मा का जहाँ श्रद्धान है, ज्ञान है व उसी का ध्यान है अर्थात् जहाँ शुद्धात्मा का अनुभव है, उपयोग पंचेन्द्रिय व मन के विषयों से हटकर एक निर्मल आत्मा ही की तरफ तन्मय है, वहीं यथार्थ मोक्षमार्ग है।

जब आत्मा का ग्रहण हो गया तब आत्मा के सर्व गुणों का ग्रहण हो गया, क्योंकि द्रव्य के सर्व गुण उसके भीतर ही रहते हैं। मिश्री को ग्रहण करने से मिश्री के सर्व गुण ग्रहण में आ जाते हैं। आम को ग्रहण करने से आम के स्पर्शादि सर्व गुण ग्रहण में आ जाते हैं। इसी तरह आत्मा के ग्रहण होते हुए आत्मा के सर्व गुण ग्रहण में आ जाते हैं।

एक एक गुण ग्रहण करने से आत्मा का एक एक अंश ग्रहण में आयेगा, सर्व आत्मा ग्रहण में नही आयेगा। परन्तु अखण्ड व अभेद एक आत्मा को ग्रहण करते हुए उसके भीतर व्याप्त सर्व गुण ग्रहण में आ जायेंगे। इसलिए योगीगण निश्चल होकर एक निज आत्मा को ही ध्याते हैं। आत्मा का ध्यान करते हुए **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र** तीनों रत्नत्रय हैं। वही **सम्यक्तप** है। आत्मा के भीतर रमण करनेवाला राग द्वेष के अभाव से निश्चय **अहिंसा व्रत** का पालक है। सर्व असत् परपदार्थों के त्याग से व सत् निज पदार्थ के यथार्थ ग्रहण से आत्मा में ही निश्चय **सत्य व्रत** है।

पुद्गलादि की गुण पर्याय की स्थिति को ग्रहण न करके अपनी आत्मीक सम्पदा में सन्तोष रखने से आत्मा में ही निश्चय अचौर्य व्रत है। आत्मा के सिवाय परपदार्थ में न जाकर एकाग्र बने,

परब्रह्म स्वरूप आत्मा में ही विहार करने से आत्मा में ही निश्चय ब्रह्मचर्य व्रत है। रागादि सर्व विभावो के व मूर्छा के त्याग से आत्मा के एक असंग भाव में रमण करने से आत्मा में ही **परिग्रहत्याग व्रत** है। आत्मा आत्मा में सत्य भाव से जब ठहरा है तब वहाँ निश्चय से **सामायिक** है। जब आत्मा का अनुभव करते हुए वीतरागता होती है, तब भूतकाल के बँधे हुए कर्म स्वयं निर्जरा को प्राप्त होते जाते हैं, इसलिए वहीं निश्चय प्रतिक्रमण है। आत्मा में जब रमणता है तब भावी होनेवाले विभावों का भी त्याग है, इसलिए निश्चय **प्रत्याख्यान** है।

आत्मा अपने आत्मा के गुणों में या गुणी आत्मा में परम एकाग्र भाव में लीन है, यही निश्चय स्तुति है। आत्मा आत्मा का ही आराधन व विनय कर रहा है, यही निश्चय वन्दना है। आत्मा ने शरीरादि सर्व परद्रव्यों से मोह त्याग दिया है व आप से आप में थिरता की है, यही निश्चय कायोत्सर्ग है। मन-वचन-काय के सर्व विकारों से भिन्न होकर आत्मा आत्मा के ही गुप्त किले में विराजमान है, यही तीन गुप्ति का पालन है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों से उपयोग रूक कर एक आत्मा में ही तन्मय हो, यही पांच इन्द्रिय निरोध संयम है।

क्रोधादि चारों कषायों से रहित आत्मा में विराजमान होने से पूर्ण उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच धर्म है। आत्मा परम शान्त है, परम कोमल है, परम शुचि है। आत्मा के दर्शन गुण है, वीर्य गुण है, आनन्द गुण है, ज्ञान चेतना है, सर्व ही शुद्ध गुणों का निवास आत्मा में है।

जिसने आत्मा का आराधन किया उसने सर्व आत्मीक गुणों का आराधन कर लिया। आत्मा के ध्यान से ही आत्मा के गुण विकसित होते हैं। श्रुतज्ञान की पूर्णता होती है। अवधिज्ञान व मनः पर्ययज्ञान की रिद्धि प्रगट होती है। केवलज्ञान का लाभ होता है। निर्वाण का परम उपाय एक आत्मा का ध्यान है।

श्री तत्त्वानुशासन में कहा है :-

यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा।
दृगवगमचरणरूपस्स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः ॥३२॥

भावार्थ- जो वीतरागी आत्मा आत्मा के भीतर आत्मा के द्वारा आत्मा को देखता व जानता है वह स्वयं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप होता है। इसलिए आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप है ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

दोहा ८६

एक आत्मा का ही मनन कर

एक्कलउ इन्दिय-रहियउ-मण-वय-काय-ति-सुद्धि ।
अप्पा अप्पु मुणेहि तुहुं लहु पावहि सिव-सिद्धि ।।

अन्वयार्थ- **(एक्कलउ)** एकाकी निर्ग्रन्थ होकर **(इन्दिय रहियउ)** पाँचों इन्द्रियों से विरक्त होकर **(मण-वय-काय-ति-सुद्धि)** मन-वचन-काय की शुद्धि से **(तुहुँ अप्पा अप्पु मुणेहि)** तू आत्मा के द्वारा आत्मा का मनन कर **(सिव- सिद्धि लहु पावहि)** मोक्ष की सिद्धि शीघ्र ही कर सकेगा।

भावार्थ- आत्मा का मनन निश्चिन्त होकर करना चाहिए। इसलिए गृहस्थी का त्याग जरूरी है। गृहस्थ के व्यवहार धर्म, पैसा कमाना, कामभोग करना, इन तीनों कामों के लिये मन-वचन-काय को चंचल व राग-द्वेष से पूर्ण व आकुलित रखना पड़ता है व पंचेन्द्रियों के भोगों में उलझना पड़ता है।

जब सर्व चिन्ताएँ न रहेंगी तब ही मन स्थिर होकर संकल्प विकल्प से रहित होकर अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव का मनन कर सकेगा। अतएव निर्ग्रन्थ पर धारण करके निराकुल हो जाना चाहिए। **स्त्री-पुत्रादि कुटुम्ब की चिन्ताओं से मुक्त हो जाना चाहिए। सर्व परिग्रह वे आरम्भ का त्याग, यथाजात रूप धारण किये बिना नहीं हो सकता। इसलिए बालक के समान नग्न व निर्विकार हो जाना चाहिए।** प्राकृतिक जीवन में आ जाना चाहिए। तिल - तुष मात्र परिग्रह नहीं रखना चाहिए। सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर आदि बाईस परीषहों के सहने की शक्ति प्राप्त करना चाहिए। ऊँचा आत्मध्यान, निर्ग्रन्थ व निर्विकार हुये बिना हो नहीं सकता। परन्तु जहाँ तक काम विकार की वासना न मिटे, स्त्री पुरुष का भेद न मिटे, लज्जा का भाव दिल से न हटे, वहाँ तक इस ऊँचे पद को ग्रहण न करे। श्रावक के पद में रहकर एकदेश आत्ध्यान का साधन करे।

निर्वाण का साक्षात् उपाय निर्ग्रन्थ पद ही है। इस ही पद को धार कर सर्व ही प्राचीन काल के तीर्थंकरों व महात्माओं ने उक्त प्रकार का आत्मध्यान करके धर्मध्यान व शुक्लध्यान करके निर्वाण लाभ किया था। सर्व चिन्ताओं से रहित एकाकी होना जरूरी है। अपने आत्मा को

एकाकी समझना चाहिए। इसका संयोग पुद्गल से अनादिकाल का होने पर भी यह बिल्कुल उससे निराला है। यह शुद्ध चैतन्यमय मूर्ति है। न तो कर्मों का, न शरीरादि का, न रागादि भावकर्मों का कोई सम्बन्ध इस आत्मा से है, न अन्य आत्माओं का कोई सम्बन्ध है। हर एक आत्मा की सत्ता निराली है, मैं एकाकी सदा से हूँ व रहूँगा। एकत्व की भावना सदा भावे। पाँचों इन्द्रियों के विषयों का पूर्ण विजयी होना चाहिए।

जहाँ तक इन्द्रियों के विषयों की लालसा न छूटे वहाँ तक गृहस्थ में स्त्री सहित रह कर ही यथाशक्ति आत्मा का मनन करे। जब विषयों की लालसा न रहे, मन से विषय- विकार निकल जावे व अतीन्द्रिय आत्मीक सुख का प्रेम बढ़ जावे व अभ्यास भी ऐसा हो जावे कि आत्मीक रस के स्वाद के सामने सब विषयरस के स्वाद फीके भासे, तब ही वह जिन या जितेन्द्रिय होकर आत्मा का मनन कर सकता है। मन की शुद्धि हो, मन में राग द्वेष मोह को हटाया जावे। वीतरागता के रस का रसिक मन को बनाया जावे। सर्व ही अपध्यानों को दूर किया जावे। आर्त रौद्र ध्यानों से मन को अलग किया जावे। मन में सहज वैराग्य प्राप्त किया जावे, कष्ट व उपसर्ग आने पर मन को सहनशील बनाया जावे।

क्रोध, मान, माया, लोभ के आक्रमणों से मन को बचाया जावे, वचनों का प्रयोग केवल आवश्यक धर्मोपदेशों में किया जावे। मौन रहने की आदत डाली जावे। स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा, नृपतिकथा से विरक्त रहा जावे। भाषा अमृत समान मीठी स्व- परप्रिय धर्मरसगर्भित बोली जावे, वचन शुद्धि पाली जावे।

शरीर को शुद्ध निर्विकार रखा जावे, स्नानादि त्याग कर श्रृंगार व शोभा रहित व शांत रखा जावे। निश्चय से रस नीरस आहार जो प्राप्त हो उसको ऊनोदर लेकर शरीर को रोग रहित व हलका रखा जावे। इस तरह मन-वचन-काय को शुद्ध रखके निर्जन स्थानों में तिष्ठकर एकाकी शुद्ध अतीन्द्रिय आत्मा का मनन या अनुभव किया जावे। इसी उपाय से मोक्ष- सिद्धि होगी।

श्री आत्मानुशासन में कहा है :-

मुहुः प्रसार्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ।।

भावार्थ- आत्मज्ञानी मुनि को योग्य है कि बार- बार सम्यग्ज्ञान को भीतर फैला कर रखे। पदार्थों को जैसा का तैसा देखते हुए राग- द्वेष न करते हुए समता भाव से आत्मा को ध्यावे।

दोहा ८७

सहज स्वरूप में रमण कर

जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि तो बंधियहि णिभंतु ।
सहज-सरूवइ जइ रमहि तो पावहि सिव सन्तु ॥

अन्वयार्थ- **(जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि)** यदि तू बन्ध मोक्ष की कल्पना करेगा **(तो णिभंतु बंधियहि)** तो निःसन्देह तू बन्धेगा **(जइ सहज- स्वरूप रमहि)** यदि तू सहज स्वरूप में रमण करेगा **(तो सन्तु सिव पावहि)** तो शान्त स्वरूप मोक्ष को पावेगा।

भावार्थ- निर्वाण का उपाय एक शुद्धात्मानुभव है, जहाँ मनन के विकल्प या विचार सब बन्द हो जाते हैं, काय स्थिर होती है, वचन नहीं रहता है वहाँ ही स्वानुभव का प्रकाश होता है। इसी को निर्विकल्प समाधि कहते हैं। यहीं आत्मस्थभाव है, यहीं यथार्थ में मोक्ष का मार्ग है, यहीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता है, यही राग- द्वेष रहित वीतरागभाव है, यहीं परम समता है, यही एक अद्वैतभाव है, यही संवर व निर्जरा तत्त्व है। अतएव ज्ञानी को व्यवहारनय के विचार को तो बिल्कुल छोड़ देना चाहिए।

व्यवहारनय से ही यह देखा जाता है कि आत्मा में कर्मों का बंध है, आत्मा के साथ शरीर है, आत्मा में क्रोध-मान-माया-लोभ भाव है, आत्मा अशुद्ध है, इसको शुद्ध करना है, मोक्ष का लाभ करना है। हम चौथे, पाँचवे, छठे या सातवें गुणस्थान में है, गुणस्थानों की उन्नति करके अरहन्त व सिद्ध होना है, हम मनुष्यगति में है, हम सैनी पंचेन्द्रिय हैं, त्रस हैं, मन-वचन-काय योगों के धारी है, हम पुरुषवेदी हैं, हमारे कषायभाव हैं, हमारे मति-श्रुत ज्ञान हैं, हमारे असंयम या देशसंयम या सकलसंयम हैं, हमारे चक्षु या अचक्षु दर्शन है, हमारे शुभ या अशुभ लेश्या है, हम भव्य है, हम सम्यग्दृष्टि हैं, हम सैनी हैं, हम आहारक हैं। इस तरह गुणस्थान तथा मार्गणास्थानों का विचार या कर्मों के आस्रव भावों का विचार व चार प्रकार बन्ध का विचार या संवर व निर्जरा के कारणों का विचार यह सब व्यवहारनय के द्वारा विचार चंचलतामय हैं, शुभोपयोगमय हैं अतएव बन्ध के कारण हैं, क्योंकि इन विचारों में संसारदशा त्यागने योग्य व मोक्षदशा ग्रहण करने योग्य भासती है। संसार से द्वेष व मोक्ष से राग है। वीतरागदशा को पाने के लिए व्यवहारनय के सर्व विचारों को बन्द रखकर केवल निश्चय नय के द्वारा अपने को व जगत को देखना

चाहिए, तब यह जगत छह शुद्ध द्रव्यों का समुदाय दिखेगा। सर्व ही पुद्गल परमाणुरूप अबन्ध दिखेंगे व सर्व ही जीव शुद्ध वीतराग दिखेंगे। इस तरह देखने से राग द्वेष के कारण सर्व ही दृश्य दृष्टि में से निकल जायेंगे। समताभाव आ जायेगा। फिर केवल अपने ही आत्मा को द्रव्यरूप शुद्ध देखें।

जहाँ तक विचार है वहाँ तक मन का विकल्प है। जब विचार करते करते मन थिर हो जायेगा तब सहज स्वरूप में रमण हो जायेगा व स्वानुभव हो जायेगा। इसी से बहुत कर्मों की निर्जरा होती है। इसी के लाभ को मोक्षमार्ग जानो। जब जब स्वानुभव है तब तब मोक्षमार्ग है। स्वानुभव के सिवाय मन के विचार को व शास्त्र पाठ को या काया के वर्तन को या महाव्रत अणुव्रत पालन को मोक्षमार्ग कहना यथार्थ नहीं है, व्यवहार मात्र है। जैसे तलवार सोने की म्यान में है अतः उसको सोने की तलवार कहना। लाल रंग के मिलने से पानी को लाल कहना, अग्नि के संयोग से पानी को उष्ण कहना, घी के संयोग से घड़े को घी का घड़ा कहना। वैसे मन वचन काय की क्रिया को मोक्षमार्ग कहना व्यवहार है। साधक अवस्था में यह स्वानुभव बहुत अल्पकाल रहता है। वज्रवृषभनाराच संहनन के धारी में यदि मुहूर्त से कुछ कम देर तक हो जावे तो चार घातीय कर्म के बन्धन कट जावें और केवलज्ञान का लाभ हो जावे।

स्वानुभव के छूटने पर साधक को निश्चयनय या द्रव्यार्थिकनय के द्वारा शुद्ध तत्त्व का विचार करना चाहिए। यदि उपयोग न जमे तो व्यवहार नय या पर्यायार्थिकनय के द्वारा सात तत्त्व, बारह भावना, दश धर्म, गुणस्थान, मार्गणा आदि का विचार करे, शास्त्र पढ़े, उपदेश दे आदि व्यवहार धर्म को करे, परन्तु भावना यही रखे की मैं शीघ्र ही स्वानुभव में पहुँच जाऊँ। इस उपाय से जो कोई तत्त्वज्ञानी सहजात्म स्वरूप का मनन करेगा वही परम शांत निर्वाण के सुख का भाजन होगा।

श्री समयसार में कहा है :-

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं॥२९१॥
जह बंधे भित्तूण य बंधणबद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे भित्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं॥२९२॥

भावार्थ- जैसे कोई बन्धन में बंधा है वह बंध की चिन्ता किया करे तो चिन्ता मात्र से वह बंध से

नहीं छूट सकता , वैसे ही कोई जीव यह चिन्ता करे कि यह कर्मबन्ध है, कर्म से मुक्त होना है इस चिंता से वह मुक्त नहीं होगा। जैसे बन्धन में बँधा पुरुष बंध को काट करके ही बंध से छूटेगा वैसे ही भव्य जीव बंधक- छेद करके ही मुक्त होगा। बंध के छेद का उपाय एक स्वानुभव है।

दोहा ८८

सम्यग्दृष्टि सुगति पाता है

सम्माइट्ठी जीवडहँ दुग्गइगमणु ण होइ ।
जइ जाइ वि तो दोसु णवि पुव्वक्किउ खवणेइ ।।

अन्वयार्थ- (सम्माइट्ठी जीवडहँ दुग्गइगमणु ण होइ) सम्यग्दृष्टि जीव का गमन खोटी गतियों में नहीं होता है **(जइ जाइ वि तो दोसु णवि)** यदि कदाचित् खोटी गति में जावे तो हानि नहीं **(पुव्वक्किउ खवणेइ)** यह पूर्वकृत कर्म का क्षय करता है।

भावार्थ- आत्मा के शुद्धस्वरूप की गाढ़ रूचि व अतीन्द्रिय सुख से परम प्रेम रखनेवाला भव्य जीव को सम्यग्दृष्टि कहते हैं, वह मोक्ष के नगर का पथिक बन जाता है। संसार की तरफ पीठ रखता है। उसके भीतर आठ लक्षण या चिन्ह प्रगट हो जाते है :-

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरूहा उपसमो भत्ति ।
बन्धनं अणुकंपा गुणद्ध सम्मत जुत्तस्स ।।

(1) संवेग- धर्म से प्रेम।

(2) निर्वेद - संसार- शरीर- भोगों से वैराग्य। संसार के भीतर चारों गतियों में आकुलता है, यह शरीर कारागार है, इन्द्रियों के भोग अतृप्तिकारी व नाशवन्त हैं।

(3) निन्दा- अपने अवगुण को बुरा समझना।

(4) गर्हा - आत्मबल की कमी से व कषाय के उदय से लाचार होकर जो उसे लौकिक कार्यों में प्रवर्तना पड़ता है व आरम्भादि करना पड़ता है उसी के लिये वह अपने मन में निन्दा करता रहता है व दूसरों से भी अपनी कमी की निन्दा करता रहता है। वह तो निर्वाण के लाभ को ही उत्तम जानता है। अपनी मन-वचन-काय की क्रिया को त्यागने योग्य समझता है।

(5) उपशम - शांत भाव सम्यक्त्वी के भीतर रहता है। ज्ञानपूर्वक हर एक काम करता है। आत्मानुभव के प्रताप से सहज शांत भाव जागृत रहता है। एकदम क्रोधादि में नहीं परिणमता है,

विपरीत कारणों पर कर्मों का उदय फल विचार लेता है।

(6) भक्ति- सम्यक्त्वी जिनेन्द्रदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, जिनवाणी की गाढ़ भक्ति रखता है। स्तुति, वंदना, पूजा, स्वाध्याय किया करता है। उनको मोक्ष का सहकारी जानता है।

(7) वात्सल्य - साधर्मी भाई व बहनों पर धार्मिक प्रेम रखता है, धर्म भाव से उनकी सेवा करता है।

(8) अनुकम्पा - प्राणीमात्र पर दयाभाव रखता है। मन-वचन-काय से किसी प्राणी को कष्ट देना नहीं चाहता है। शक्ति को न छिपाकर प्राणी मात्र का हित करता है। किसी प्राणी के साथ अन्याय का व्यवहार नहीं करता है।

ऐसा तत्त्वज्ञानी जीव दुर्गति ले जानेवाले पापकर्मों को नहीं बाँधता है।

मिथ्यात्व गुणस्थान में बंधने वाली १६ सोलह कर्मप्रकृतियाँ - अर्थात् 1. मिथ्यात्व, 2. हुंडक संस्थान, 3. नपुंसक वेद, 4. असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन, 5. एकेन्द्रिय, 6. स्थावर, 7. आताप, 8. सूक्ष्म, 9. साधारण, 10. अपर्याप्त, 11. द्वीन्द्रिय, 12. तेन्द्रिय, 13. चौन्द्रिय, 14. नरकगति, 15. नरकगत्यानुपूर्वी, 16. नरक आयु तथा **सासादन गुणस्थान तक बँधनेवाली २५ पच्चीस कर्मप्रकृतियाँ -** १-४ - अनन्तानुबन्धी कषाय, 5. स्त्यानगृद्धि, 6. निद्रा निद्रा, 7. प्रचला प्रचला, 8. दुर्भग, 9. दुःस्वर, 10. अनादेय, 11-14. चार न्यग्रोधादि संस्थान, 15-18. चार वज्रनाराचादि संहनन, 19. अप्रशस्त विहायोगति, 20. स्त्रीवेद, 21. नीच गोत्र, 22. तिर्यंचगति, 23. तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, 24. तिर्यंच आयु, 25. उद्योत - इस तरह १६+२५ = ४१ प्रकृतियों का बंध नहीं करता है। वह तो देवगति या मनुष्यगति में ही जन्म लेता है। यदि तिर्यंच या मनुष्य सम्यक्त्वी हुआ तो स्वर्ग का देव होता है। यदि नारकी व देव सम्यक्त्वी हुआ तो उत्तम मनुष्य होता है।

सम्यक्त्व लाभ होने के पहले यदि मनुष्य या तिर्यंच न नरक आयु व तिर्यंच आयु या मनुष्य आयु बाँध ली हो तो सम्यक्त्व सहित पहले नरक, व भोगभूमि में तिर्यंच व मनुष्य जन्मता है। वहाँ भी समभाव से दुःख सुख भोग लेता है। सम्यक्त्वी सदा ही सुखी रहता है।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है :-

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥

ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः ।
महाकुलाः महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ।।३६।।

भावार्थ- सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव व्रतरहित होने पर भी ऐसा पाप नहीं बाँधते जिससे नारकी हो, तिर्यंच हो, नपुंसक हो, स्त्री हो, नीच कुल में पैदा हो, अंगहीन हो, अल्पायु हो या दरिद्री हो।

सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि व विजय को पानेवाले महाकुलवाले, महाधनवान, मनुष्यों में मुख्य उत्पन्न होते हैं।

दोहा ८९

सम्यग्दृष्टि का श्रेष्ठ कर्तव्य

अप्प- सरूवहँ जो रमइ छंडिवि सहु ववहारू ।
सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भवपारू ।।

अन्वयार्थ- (जो सहु ववहारू छंडिवि) जो सर्व व्यवहार को छोड़कर **(अप्प सरूवहँ रमइ)** अपने आत्मा के स्वरूप में रमण करता है **(सो सम्माइट्ठी हवइ)** वही सम्यग्दृष्टि है **(लहु पावइ भवपारू)** वह शीघ्र ही संसार से पार हो जाता है।

भावार्थ- जिसको निर्वाण ही एक ग्रहणयोग्य पद दिखता है, जो चारों गतियों की सर्व कर्मजनित दशाओं को त्यागने योग्य समझता है, जो अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य के लाभ को परम लाभ समझता है, जो निश्चय से जानता है कि मैं सर्व शुद्ध सिद्ध सम हूँ, व्यवहारदृष्टि में कर्म का संयोग है सो त्यागने योग्य है, जो संसार वास में क्षणमात्र भी रहना नहीं चाहता है वही सम्यग्दृष्टि है। वह जानता है कि निर्वाण का उपाय मात्र एक अपने ही शुद्ध आत्मा के शुद्ध स्वभाव में रमण है, आत्मानुभव है। उसका निश्चिन्तपने अभ्यास तब ही संभव है, जब सर्व व्यवहार को त्याग दिया जावे, गृहस्थ के प्रबन्ध को हटा दिया जावे।

स्त्री- पुत्रादि कुटुम्ब की चिन्ता को मेट दिया जावे। धन, धान्य, भूमि, मकानादि परिग्रह को त्याग दिया जावे। तीर्थंकर के समान यथाख्यातरूप नग्न दिगम्बर पद धारण किया जावे, जहाँ बालक के समान सरल व शांत भाव में रहकर, निर्जन स्थानों में आत्मा का अनुभव किया जावे। साधुपद में उतना ही व्यवहार रह जाता है जिससे भिक्षावृत्ति द्वारा शरीर का पालन हो व जब उपयोग आत्मीक भाव में न रमे तब शुद्धात्मा के स्मरण करानेवाले शास्त्रों के मनन में व

धर्मचर्चा में स्तुति वंदना पाठादि पढ़ने में उपयोग को रखा जावे।

व्यवहार धर्मध्यान व धर्म की प्रभावना करना इतना व्यवहार रहता है। आहार, विहार व व्यवहार धर्म को करते हुए साधु इस व्यवहार से भी उदास रहते हैं, आत्मवीर्य की कमी से वर्तते हैं। जैसे जैसे आत्मध्यान की शक्ति बढ़ती जाती है वैसे वैसे यह व्यवहार भी छूटता जाता है, तो भी साधुपद में इतनी अधिक आत्मरमणता का अभ्यास हो जाता है कि एक अन्तमुहूर्त से अधिक आत्मानुभव से बाहर नहीं रहता है।

साधु जब तक उपशम या क्षपकश्रेणी पर चढ़े तब तक उसके छठा व सातवाँ दो गुणस्थान होते हैं। हर एक का काल एक अन्तमुहूर्त से अधिक नहीं है। व्यवहार धर्म व क्रिया का पालन छठे गुणस्थान में होता है। यदि इन व्यवहार कार्यों में अन्तमुहूर्त से अधिक समय लगे तो बीच-बीच में सातवाँ गुणस्थान क्षणभर के लिए आत्मानुभवरूप हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि के गृहत्याग व साधुपद का ग्रहण तब ही होता है जब उसके भीतर प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय न होने पर सहज वैराग्य जग जाता है। वह दृढ़तापूर्वक बिना परिणामों की उच्चता प्राप्त हुए किसी ऊँची क्रिया को धारण नहीं करता है। जब तक सहज वैराग्य न आवे व परिणामों के अनुसार श्रावक पद के भीतर रहकर यथासम्भव दर्शनप्रतिमा से लेकर उद्दिष्टत्याग ग्यारहवीं प्रतिमा तक के चारित्र को पालकर आत्मानुभव के लिये अधिक अधिक समय निकलता है। क्रम क्रम से व्यवहार को घटाता है व निश्चय में रमण को बढ़ाता है।

यह श्रावक का पंचम गुणस्थान भी तब ही होता है जब सम्यक्त्वी के भीतर अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय न होने पर एकदेश सहज वैराग्य पैदा हो जाता है। यदि ऐसा भाव न हो तो यह चौथे गुणस्थान में ही रहकर यथासम्भव समय निकालता है। जब वह सर्व व्यवहार मन वचन काय की क्रिया को छोड़कर शुद्धात्मा का मनन करके स्वानुभव करता है, व्यवहार की चिन्ता अधिक होने से वह अधिक समय स्वानुभव में नहीं ठहर सकता है। प्रयत्न एक यही रहता है कि स्वानुभव दशा में अधिक रहूँ। कषाय के उदय से व आत्मवीर्य की कमी से वह लाचार हो जाता है। सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य निर्वाण ही हो जाता है। वह अवश्य निर्वाणपुर में पहुँच जायेगा।

श्री देवसेनाचार्य तत्त्वसार में कहते हैं:-

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो।
उग्गतवंपि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ।।३५।।

भावार्थ- जब तक चित्त परद्रव्य के व्यवहार में रहता है व संलग्न है, तब तक भव्य जीव कठिन-कठिन तप करता हुआ भी मोक्ष को नहीं पाता है, परन्तु शुद्ध आत्मीक भावों का लाभ होने पर शीघ्र ही मोक्ष को पा लेता है।

दोहा ९०

सम्यक्त्वी ही पंडित व प्रधान है

जो सम्मत्त-पहाण बुहु सो तइलोय- पहाणु ।
केवण- णाण वि लहु लहइ सासय- सुक्ख - णिहाणु॥

अन्वयार्थ- (जो सम्मत्त- पहाण) जो सम्यग्दर्शन का स्वामी है **(बुहु)** वह पंडित है **(सो तइलोय पहाणु)** वही तीन लोक में प्रधान है **(सासय सुक्ख णिहाणु केवल णाण वि लहु लहइ)** सो अविनाशी सुख के निधान केवलज्ञान को शीघ्र ही पा लेता है।

भावार्थ- सम्यग्दर्शन सर्व गुणों में प्रधान है। इसके होते हुए ज्ञान सम्यग्ज्ञान व चारित्र सम्यक्चारित्र हो जाता है। जैसे १ के अंक सहित बिन्दी सफल होती है, नहीं तो निष्फल है, वैसे सम्यक्त सहित ज्ञान व चारित्र मोक्ष की तरफ ले जानेवाले हैं। यदि सम्यक्त्व न हो तो केवल पुण्य बाँधकर संसार के भ्रमण के ही कारण हैं।

जैसे मूल बिना वृक्ष नहीं, नीव बिना घर नहीं, वैसे ही सम्यक्त्व के बीज बिना धर्मरूपी वृक्ष नहीं उगता है। जिसको अनेक शास्त्रों का ज्ञान हो, परन्तु सम्यक्त्व के होते हुए ही वह ज्ञानी है, उसका शास्त्रज्ञान सफल है। द्वादशांग वाणी का सार यही है, जो आत्मा को परद्रव्यों से परभावों से भिन्न व शुद्ध द्रव्य जाना जावे व शंका रहित विश्वास लाया जावे। यही निश्चय सम्यग्दर्शन है।

तीन लोक की सम्पदा सम्यग्दर्शन के लाभ के सामने कुछ नहीं है। एक नीच चाण्डाल पुरुष यदि सम्यग्दर्शन सहित है तो वह पूजनीय देव है, परन्तु एक नवम ग्रैवेयक का अहमिन्द्र सम्यक्त्व के बिना पूज्य नहीं है। एक गृहस्थ सम्यग्दर्शन सहित हो तो उस मुनि से उत्तम है, जो मिथ्यादर्शन सहित चारित्र पालता है। सम्यग्दर्शन सहित नरक का वास भी उत्तम है, सम्यग्दर्शन रहित स्वर्ग का वास भी ठीक नहीं है।

सम्यग्दर्शन का इतना माहात्म्य इसलिए कहा गया है कि इसके लाभ में अनादिकाल का अन्धेरा मिट जाता है व प्रकाश हो जाता है। जो संसार प्रिय भासता था वह त्यागने योग्य भासने

लगता है। जो सांसारिक इन्द्रिय सुख ग्रहण करने योग्य भासता था वह त्यागने योग्य भासता है। जिस अतीन्द्रिय स्वाधीन सुख की खबर ही नहीं थी उसका पता लग जाता है व उसका स्वाद भी आने लगता है। सम्यग्दृष्टि के भीतर सच्चा ज्ञान होता है कि मेरा आत्मद्रव्य परमशुद्ध ज्ञातादृष्टा परमात्मस्वरूप है। मेरी सम्पत्ति मेरे ही अविनाशी ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यादि गुण है। मेरा अहंभाव अब अपने आत्मा में है व ममकार भाव अपने ही गुणों में है। पहले मैं कर्मजनित अपनी अवस्थाओं को अपनी मानता था कि मैं नारकी हूँ, तिर्यंच हूँ, मनुष्य हूँ, देव हूँ, मैं सुन्दर हूँ, असुन्दर हूँ, रोगी हूँ,निरोगी हूँ, क्रोधी हूँ,मानी हूँ, मायावी हूँ,लोभी हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हूँ,नपुंसक हूँ, भोगी हूँ, भगवान हूँ, दुःखी हूँ, सुखी हूँ, पुण्य का कर्ता हूँ, पाप का कर्ता हूँ,परोपकारी हूँ, दानी हूँ, तपस्वी हूँ, विद्वान हूँ, व्रती हूँ, श्रावक हूँ, मुनि हूँ, राजा हूँ, प्रधान हूँ। इसी तरह परवस्तुओं को अपना मानकर ममकार करता था कि मेरा धन है, खेत है, मकान है, ग्राम है, राज्य है, मेरे वस्त्र हैं, आभूषण हैं, मेरी स्त्री है, मेरे पुत्र-पुत्री है, मेरी भगिनी है, मेरी माता है, मेरे पिता है, मेरी सेना है, मेरे हाथी-घोड़े हैं, मेरी पालकी है। इसी अहंकार ममकार में अन्धा होकर रात दिन कर्मजनित संयोगों में क्रीड़ा किया करता था। इष्ट के ग्रहण के अनिष्ट के त्याग में उद्यमी था। इस अज्ञान का नाश होते ही सम्यक्त्वी का परभावों में अहंकार व परपदार्थों में ममकार बिल्कुल दूर हो जाता है।

वह गृहस्थी में जब तक रहता है तब तक कर्मों के उदय को उदय मानकर सर्व गृहस्थ सम्बन्धी लौकिक क्रिया को अपने आत्मीक कर्तव्य से भिन्न जानता है। लिप्त नहीं हो जाता है। भीतर वैरागी रहता है। कषाय का उदय जब शमन होता है तब गृह को त्यागकर साधु हो जाता है। सम्यक्त्वी जीव सदा ही भेद- विज्ञान के द्वारा अपने शुद्धात्मा को भिन्न ध्याता है। धीरे धीरे आत्मा को निर्मल करता है। सम्यक्त्वी साधु ही क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर मोह का व शेष ज्ञानावरणादि का पूर्ण क्षय करके केवलज्ञानी अरहंत परमात्मा हो जाता है तब अविनाशी अनन्त सुख का भोगनेवाला हो जाता है। सम्यक्त्व के समान कोई मित्र नहीं है, यही सच्चा मित्र है जो संसार के दुःखों से छुड़ाकर निर्वाण में पहुँचा देता है

श्री आत्मानुशासन में कहा है :-

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः ।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥१५॥

भावार्थ- शांत भाव, ज्ञान, चारित्र, तप का मूल्य कंकड़ या पाषाण के समान सम्यग्दर्शन के बिना कुछ तुच्छ है। यदि सम्यग्दर्शन सहित हो तो उनका मूल्य रत्न के समान हो जाता है।

दोहा ९१

आत्मा में स्थिरता संवर व निर्जरा का कारण है

अजरू अमरू गुण- गण- णिलउ जहिं अप्पा थिरू ठाइ।
सो कम्मेहिं ण बंधियउ संचिय- पुव्व विलाइ ॥

अन्वयार्थ- **(जहिं अजरु अमरु गुण गण णिलउ अप्पा थिरु ठाइ)** जहाँ अजर अमर गुणों का निधान आत्मा स्थिर हो जाता है **(सो कम्मेहिं ण बंधियउ)** वहाँ वह आत्मा नवीन कर्मों से नहीं बँधता है **(पुव्व संचिउ विलाइ)** पूर्व में संचित कर्मों का क्षय करता है।

भावार्थ- यह आत्मा निश्चय से जन्म, जरा, मरण से रहित अविनाशी है तथा सामान्य व विशेष गुणों का समूह है। कर्मों से व शरीरों से भिन्न जब अपने आत्मा को देखा जाता है तो वह शुद्ध ही दिखता है। जैसे मिट्टी सहित पानी को जब पानी के स्वभाव की अपेक्षा देखा जावे तो पानी शुद्ध ही दिखता है। भेदविज्ञान की शक्ति से अपने आत्मा को कर्मों से भिन्न व कर्मोदय जनित भावों से भिन्न सहज ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य का सागर निरंजन परमात्मा देव ही देखना चाहिए। सम्यग्दृष्टि को ऐसा ही श्रद्धान होता है।

इस श्रद्धान व ज्ञान के बल से सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा में स्थिर होने का पुरुषार्थ करता है। जब तक स्वानुभव या आत्मा में थिरता प्राप्त करता है तब तक पूर्व बाँधे कर्मों की निर्जरा बहुत होती है। तथापि घातीय कर्मों में अनुभाग बहुत अल्प पड़ता है। अघातीय में पाप कर्मों का बंध नहीं होता है, पुण्य कर्मों का ही होता है। उनमें अनुभाग अधिक पड़ता है। स्थिति आयु के सिवाय सात कर्मों की कम पड़ती है।

बन्ध का उदय सूक्ष्मसाम्पराय दशवें गुणस्थान तक चलता है, क्योंकि वहाँ तक लोभ कषाय का उदय है। यहीं तक साम्परायिक आस्रव है। यहीं तक उपयोग की चंचलता है। ग्यारहवें गुणस्थान उपशांतकषाय काल अन्तमुहूर्त है, यहाँ वीतरागता है। बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान में भी वीतरागता है, तेरहवें संयोग केवली गुणस्थान में भी वीतरागता है। इन तीनों गुणस्थानों में योगों की चंचलता है। इनमें ईर्यापथ आस्रव एक सातावेदनीय कर्म का होता है। कर्म आते हैं,

फल देकर चले जाते हैं।

जहाँ आत्मा में थिरता है वहाँ विशेष कर्मों की निर्जरा होती है। बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में थिरता रूप एकत्व वितर्क अवीचार नाम का दूसरा शुक्लध्यान पैदा हो जाता है तब एक ही अन्तमुहूर्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्म की निर्जरा होती है और यह आत्मा अरहन्त परमात्मा हो जाता है। तेरहवें व चौदहवें में आत्मा में परम स्थिरता है इससे बंध नहीं होता है। पुरातन कर्म झड़ते हैं। चौदवें के अन्त में यह आत्मा कर्म रहित होकर सिद्ध हो जाता है।

आत्मा में थिरता होने का काम चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है। वहाँ स्वरूपाचरण चारित्र है जो अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय के न होने पर प्रगट हो जाता है।

पाँचवे देशसंयम गुणस्थान में अप्रत्याख्यान क़षाय का उदय नहीं है इससे स्वरूपाचरण में अधिक स्थिरता होती है व निर्मलता भी होती है। पंचम गुणस्थान में ग्यारह श्रेणियाँ हैं, उनमें चढ़ते हुए जैसे जैसे प्रत्याख्यान कषाय का उदय मन्द होता है वैसे वैसे स्वरूप में स्थिरता अधिक होती है।

प्रमत्त गुणस्थान में प्रत्याख्यान कषाय का उदय नहीं रहता है, परन्तु संज्वलन का तीव्र उदय होने से स्वरूपाचरण नहीं होता तथा शुभाचरणरूप शुभोपयोग होता है। अप्रमत्त मे संज्वलन कषाय का मन्द उदय है तब प्रमाद भाव से रहित स्वरूप अधिक निश्चलता होती है। अपूर्वकरण गुणस्थान में संज्वलन और भी मन्द पड़ जाता है तब अधिक थिरता होती है। अनिवृत्तिकरण में बहुत ही मन्द कषाय होती है तब और भी अधिक थिरता होती है। सूक्ष्मसाम्पराय में केवल सूक्ष्म लोभ का उदय है, अधिक थिरता व शांति है। इस तरह जैसे जैसे राग- द्वेष व विकार दूर होते जाते हैं वैसे वैसे आत्मा में थिरता बढ़ती जाती है। शुद्धात्मा के स्वभाव में थिर होना या आत्मीक आनन्द का पान करना ही एक उपाय है, जिससे संवर व निर्जरा होकर मोक्ष का उपाय बनता है। इसलिए मुमुक्षु को पुरुषार्थ करके अपने ही शुद्धात्मा की भावना नित्य करना चाहिए।

श्री इष्टोपदेश में कहा है :-

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्दृष्टव्यं मुमुक्षुभिः ।।४९।।

भावार्थ- मोक्ष के प्रेमियों का कर्तव्य है कि वे आत्मा के ही सम्बन्ध में प्रश्न करें, उसी का प्रेम

करें व उसी को देखें व अनुभव करें। वह आत्मज्योति अज्ञान से रहित है, परम ज्ञानमय है व सबसे महान है।

दोहा ९२

आत्मरसी जीव कर्मों से नहीं बंधता

जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणि पत्त कया वि।
तह कम्मेहिं ण लिप्पियइ जइ रइ अप्प सहावि ।।

अन्वयार्थ - (जइ कमलणि- पत्त कया वि सलिलेण ण लिप्पियइ) जैसे कमलिनी का पत्ता कभी भी पानी से लिप्त नहीं होता **(तह जइ अप्प सहावि रइ कम्मेहिं ण लिप्पियइ)** वैसे ही यदि आत्मीक स्वभाव में रत हो तो जीव कर्मों से लिप्त नहीं होता है।

भावार्थ- आत्मा में लीन भव्यजीव मोक्षमार्गी है। रत्नत्रय की एकता को रखता है। वीतराग व समभाव में लीन होता है। राग द्वेष विहीन होता है, इससे कर्मों से नहीं बंधता है। बंधनाशक वीतरागभाव है। बंध कारक राग द्वेष मोह हैं। मोह मिथ्यात्व भाव को कहते हैं। राग द्वेष कषाय को कहते हैं। सम्यक्त्वी चौथे गुणस्थान में हो तो अपने आत्मरमणता की गाढ़ श्रद्धावश ४१ प्रकृतियों का बंध नहीं करता है, उनको हम पहले गिना चुके हैं। सम्यक्त्वी नरक, तिर्यंचगति में ले जाने वाली कर्म प्रकृतियों को नहीं बाँधता है। फिर जैसे जैसे गुणस्थान में चढ़ता है, आत्मरमणता की शक्ति विशेष प्रगट होती जाती है, तब और अधिक बंध का घटाता जाता है। बंध की १२० प्रकृतियां गिनी गई है।

ज्ञानावरणीय की ५ + दर्शनावरणीय की ९+ वेदनीय की २ + मोहनीय की २६ (सम्यक्त्व व मिश्र का बन्ध नहीं होता है) + आयु की ४ + नाम की ६७ (पांच बन्धन, पांच संघात न गिनकर पांच शरीर के साथ मिला दिये तथा वर्णादि २० को अपेक्षा से चार ही जानें। इस तरह १०+१६=२६ कर्म ९३ में से घट गये) + गोत्र की २+ अन्तराय की ५ = १२०।

ये प्रकृतियां नीचे लिखे प्रकार से गुणस्थानों में व्युच्छित्ति पाती हैं। जिन गुणस्थान में जितनी प्रकृतियों की व्युच्छित्ति है , वे प्रकृतियाँ आगे के गुणस्थानों में नहीं बंधती हैं :-

(1) मिथ्यात्व - १६ मिथ्यात्व, हुण्डक संस्थान, नपुंसक वेद, असंहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर,

आताप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, नरकगति, नरकगत्या नुपूर्वी व नरक आयु = १६।

ये प्रकृतियां मिथ्यात्व गुणस्थान में ही बँधती हैं।

(2) सासादन - २५- अनन्तानुबन्धी ४ कषाय, स्त्यानगृद्धि, निद्रा- निद्रा, प्रचला- प्रचला, दुर्भग, दुःस्वर,अनादेय, न्यग्रोधादि ४ संस्थान, वज्रनाराचादि ४ संहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यंचगति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी, उद्योत, तिर्यंच आयु = २५

(3) मिश्र - इसमें बन्ध नहीं होता है।

(4) अविरत सम्यक्त - १०- अप्रत्याख्यान ४ कषाय, वज्रवृषभनाराच संहनन, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, मनुष्य गति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, मनुष्य आयु= १०

(5) देशविरत - ४ - प्रत्याख्यान ४ कषाय- ४

(6) प्रमत्तविरत - ६ - अथिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयशस्कीर्ति, अरति, शोक = ६

(7) अप्रमत्तविरत - १ - देवायु = १

(8) अपूर्व करण -३६- निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति , पंचेन्द्रिय, तैजस, कार्मण, आहारकशरीर, आहारकआंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, वर्णादि ४, अगुरूलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा = ३६

(9) अनिवृत्तिकरण - ५ - पुंवेद, संज्वलन ४ कषाय = ५

(10) सूक्ष्मसांपराय - १६ - ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४, अन्तराय ५, यशस्कीर्ति, उच्च गोत्र = १६

(11) उपशांत कषाय- इसमे बन्ध नहीं होता।

(12) क्षीणकषाय- इसमें भी बन्ध नहीं होता।

(13) सयोगकेवली - १ - सातावेदनीय = १

इस प्रकार १२० प्रकृतियाँ ही उंपरोक्त प्रकार से बन्धयोग्य कहीं गई है। आत्मानुभव के प्रताप से कर्मबन्ध घटता जाता है। अयोगकेवली पूर्ण आत्मरमी हैं। योगों की चंचलता नहीं है। इससे कोई कर्म का बंध नहीं होता है।

श्री समयसार कलश में कहा है :-

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः ।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥११९॥

भावार्थ- ज्ञानी के राग- द्वेष मोह नहीं होते इसलिए ज्ञानी को बन्ध नहीं होता, वे राग- द्वेष-मोह ही बन्ध के कारण है। आत्मरमणता से वीतरागभाव बढ़ता है, बन्ध रूकता है।

दोहा ९३

समसुख भोगी निर्वाण का पात्र है

जो समसुक्ख णिलीणु बुहु पुण पुण अप्पु मुणेइ ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाणु लहेइ ॥

अन्वयार्थ- (जो बुहु समसुक्ख णिलीणु पुण पुण अप्पु मुणेइ) जो ज्ञानी समता सुख में लीन होकर बार- बार आत्मा का अनुभव करता है **(सो वि फुडु कम्मक्खउ करि, लहु णिव्वाणु लहेइ)** वही प्रगटपने कर्मों का क्षय करके शीघ्र ही निर्वाण को पाता है।

भावार्थ- निर्वाण का उपाय कष्ट सहन करना नहीं है किन्तु समभाव के साथ सुख का भोग है। अपने आत्मा का आत्मा रूप श्रद्धान, ज्ञान व उसी में चर्या अर्थात् आत्मानुभव ही निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है। वहाँ आत्मा, आत्मा में ही रत होता है, मन के विचार बन्द हो जाते हैं, वचन व काय कि क्रिया थिर हो जाती है, परिणाम राग- द्वेष से रहित सम व शांत हो जाते हैं; तब ही आत्मस्थिति के होते ही आत्मीक सुख का स्वाद आता है।

जैसे मिश्री के खाने से मीठापने का, नीम के खाने से कडुवापन का, लवण के खाने से खारेपन का स्वाद आता है; वैसे ही आत्मा के शुद्धस्वभाव में रमण करने से आत्मानन्द का स्वाद आता है। उसी समय पूर्व बाँधे हुए कर्मों की स्थिति घटती है। आयुकर्म को छोड़कर शेष की स्थिति कम होती है। पाप कर्मों का रस सूखता है, वे विशेष गिरने (निर्जरित होने) लगते हैं, बिना फल दिये चले जाते हैं, पुण्य कर्मों का रस बढ़ता है, वे प्रचुर फल देकर जाते है। घातीय कर्म निर्बल पड़ते हैं, नवीन कर्मों का भी संवर होता है। आत्मानुभव के समय गुणस्थान की परिपाटी के अनुसार जिन जिन अघातीय कर्म की प्रकृतियों का बंध होता है, उनमें स्थिति व अनुभाग अल्प पड़ता है। अघातीय में पुण्यकर्म का बंध है, कम स्थिति व अधिक रसदार होता है। जब

आस्रव कम व निर्जरा अधिक हो तब मोक्षमार्ग का साधन होता है।

सच्चे सुख का भोग सम्यग्दृष्टि को भले प्रकार आत्मा के सम्मुख होने से होता है। आत्मध्यान ही मोक्षमार्ग है। आत्मध्यानी ही गुणस्थानों की श्रेणी पर चढ़ सकता है। मुमुक्षु को एक आत्मध्यान का ही अभ्यास करना चाहिए। इसके दो भेद हैं - निर्विकल्प आत्मध्यान, सविकल्प आत्मध्यान।

निर्विकल्प आत्मध्यान के द्वारा निर्विकल्प आत्मध्यान होता है। निर्विकल्प ध्यान ही वास्तव में ध्यान है। यही मोक्ष का साक्षात् उपाय है। सविकल्प ध्यान अनेक प्रकार है। निश्चयनय से अपने आत्मा को ही शुद्ध देखे व जगत की सर्व आत्माओं को भी शुद्ध देखे। शेष पाँच द्रव्यों को मूलस्वभाव में देखे। इस दृष्टि के दीर्घ अभ्यास से रागद्वेष ने रहेंगे, द्वेष भाव की मात्रा घटती जायेगी।

व्यवहारनय के द्वारा देखने से पूजक- पूज्य, बंध- मोक्ष की कल्पना होती है। निश्चयनय से आप ही पूज्य है, आप ही पूजक है, बंध- मोक्ष का विकल्प ही नहीं है। त्रिकाल शुद्ध आत्मा का दर्शन निश्चयनय कराता है। निश्चयनय का विचार भी सविकल्प ध्यान है। साधक की निर्बलता से साधु हो या गृहस्थ हो जब उपयोग निश्चयनय के विचार में थिर नहीं हो तो फिर व्यवहारनय से पिंडस्थ पदस्थ, रूपस्थ ध्यान द्वारा व पाँच परमेष्ठी के स्वरूप मनन द्वारा - ॐ, अर्हं, ह्रीं, श्रीं मन्त्र के द्वारा ध्यान करे।

कदाचित् इसमें श्री उपयोग न जमे तो अध्यात्मिक ग्रन्थ पढ़े, स्तुति पढ़े, भक्ति या वन्दना करे, उपदेश देवे, ग्रन्थ लिये, साधु सेवा करे, अशुभ भावों से बचने के लिये शुभ भावों में वर्तना व व्यवहार धर्म के भेदों की साधना सब सविकल्प धर्मध्यान है। गृहस्थी का मन जब निश्चयनय के विचार में न लगे तो वह देवपूजादि छह कर्मों का साधन करे। निष्काम भाव से जगत मात्र की सेवा करे, तीर्थ - यात्रा करे, सर्व ही प्रकार के व्यवहार धर्म को करके उपयोग को अशुभ से बचाकर शुद्ध भाव में चढ़ने का प्रयत्न करे। निश्चय व व्यवहार धर्म दोनों की डोरी को हाथ में रखकर साधन करे। निश्चयधर्म को उपादान साधन व व्यवहार को निमित्त साधन जाने। जो कोई निर्वाण का लक्ष्य रखकर समता सुख को भोगता हुआ आत्मानुभव का अभ्यास करे वह शीघ्र ही निर्वाण का लाभ करेगा।

श्री समयसारकलश में कहा है :-

अत्यन्तं भावयित्वा विरतमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च,
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ।

पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां,
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥२३३॥

भावार्थ- कर्म करने के प्रपंच से व कर्मफल से निरन्तर विरक्त भाव की भले प्रकार भावना करे। सर्व प्रकार अज्ञानचेतना के भाव को भले प्रकार नाश करावे। अपने आत्मीक रस से पूर्ण अपने स्वभाव को जानकर ज्ञानचेतना को या आत्मानुभूति को आनन्दसहित केलि करावे, व सर्व काल शांतरस का ही पान करे। यही ज्ञानी की प्रेरणा है।

दोहा ९४

आत्मा को पुरुषाकार ध्यावे

पुरिसायार- पमाणु जिय अप्पा एहु पवित्तु।
जोइज्जइ गुण-गण- णिलउ- णिम्मल- तेय- फुरंतु॥

अन्वयार्थ - (जिय) हे जीव! **(एहु अप्पा पुरियासार-पमाणु पवित्तु गुण-गण- णिलउ णिम्मल तेय- फुरंतु जोइज्जइ)** इस अपने आत्मा को पुरुषाकार प्रमाण, पवित्र, गुणों की खान व निर्मल तेज से प्रकाशमान देखना चाहिये।

भावार्थ- आत्मा की भावना करने के लिये शिक्षा दी है कि आत्मा को ऐसा विचारना चाहिये कि उसका आत्मा अपने पुरुष के आकार प्रमाण है, सर्व शरीर में व्यापक है। यदि पद्मासन से बैठे तो आत्मा को पद्मासन विचारे। यदि कायोत्सर्ग आसन में खड़ा हो तो आत्मा को उसी प्रकार का विचारे। यद्यपि आत्मा असंख्यातप्रदेश है तो भी जिस शरीर में रहता है। उसशरीर के आकाश प्रमाण प्रायः करके रहता है। जैसे दीपक का प्रकाश जैसा बर्तन होता है वैसा व्याप कर रहता है इस आकार के धारी आत्मा को पवित्र देखे कि यह निर्मल जल के समान शुद्ध स्फटिक के समान परम शुद्ध हैं। इसमें न कर्मों का मैल है न रागादि विकारों का मैल है, न अन्य किसी शरीर का मैल है। द्रव्यार्थिकनय से आत्मा को सदा ही निरावरण देखे। न यह कभी बँधा था, न बँधा है, न कभी बँधेगा।

फिर देखे कि सामान्य वं विशेष गुणों का सागर है। यहा ज्ञाता दृष्टा है, वीतराग है। परमानन्दमय है, परम वीर्यवान है, शुद्ध सम्यक्त्व गुणधारी है, परम निर्मल तेज में चम रहा है इस प्रकार अपने शरीर में व्यापक आत्मा को बार बार देखकर चित्त को रोके। यह ध्यान का प्रकार है। ध्याता को परम निश्चिन्त होना चाहिए। उत्तम ध्याता निर्ग्रन्थ साधु होते हैं। गृहस्थ के परिग्रह

का स्वामीपना होने से ध्यान के समय उसकी चिन्ता बाधा करती है। इसलिए साधुगण सर्व परिग्रह का त्याग करके धन-कुटुम्ब-क्षेत्रादि के रक्षणादि के विकल्पों से शून्य होते हैं। देशव्रती मध्यम ध्याता है, अविरत सम्यक्त्वी जघन्य ध्याता है। ध्याता को सम्यग्ज्ञान होना ही चाहिए, क्योंकि जब तक अपने आत्मा के शुद्धस्वभाव का श्रद्धान नहीं होगा तब तक उसका प्रेम नहीं होगा। प्रेम के बिना उसमे आसक्ति या थिरता नहीं होगी। ध्याता को यह श्रद्धान होना चाहिए कि मैं ही परमात्मा रूप हूँ, मुझे जगत के इन्द्र चक्रवर्ती आदि पदों से कोई रागभाव नहीं है, केवल निर्वाण का ही ध्येय है।

माया, मिथ्यात्व, निदान तीन शल्यों से रहित, सर्व शंकाओं से रहित, परम निष्पृही, सर्व तृष्णारहित होना चाहिए। ध्यान के समय सम्यग्ज्ञान व वैराग्य की मूर्ति हो जाना चाहिए। ऐसा ध्याता ध्यान को ध्याने के लिये निराकुल क्षोभरहित स्थान में बैठे। जितना एकान्त होगा उतना ध्यान सिद्ध होगा। स्त्री, पुरुष, नपुंसकों के संपर्क रहित, शीत- गर्मी की व डाँस- मच्छर की बाधा रहित, परम शान्त स्थान को ध्यान के लिये खोजे। ध्यान का समय अति प्रातः काल सर्वोत्तम है, मध्यम सायंकाल है, जघन्य मध्याह्नकाल है।

ध्यान को भूमि पर, पाषाण शिला पर, काष्ठासन पर, चटाई पर, किसी समतल स्थान पर करे। जहाँ शरीर को स्थिर जमाकर रख सके, मन- वचन-काय शुद्ध हो, मन में ध्यान के सिवाय और कोई चिन्ता न हो। जब तक ध्यान करना हो दूसरे कामों का विचार न करे। ध्यान के समय मौन से रहे या मंत्र जपे। कोई वार्तालाप न करे, शरीर नग्न हो या श्रावक का यथासम्भव थोड़े वस्त्र सहित हो, रोगी न हो, भरपेट न हो, भूख प्यास से पीड़ित न हो, आसन जमा करके बैठे। निश्चल काय रहे, सीधा मुख हो। इस तरह बैठकर कुछ देर बारह भावना विचार करके चित्त को वैराग्यवान बना दे, फिर निश्चयनय से जगत को देखकर राग-द्वेष मिटा दे। फिर अपने ही आत्मा को देखे कि यह शुद्ध निरजंन परमात्मा है, शरीर में व्यापक परम निर्मल है। निर्मल जल के समान या स्फटिक के समान देखकर बार बार ध्यावे। मन की स्थिरता के लिये कभी कभी कोई मंत्र पढ़ कभी कभी गुणों का विचार करे।

श्री तत्त्वानुशासन में कहा है :-

माध्यस्थं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यमस्पृहः ।
वैतृष्णयं प्रशमः शांतिरित्येकाऽर्थोऽभिधीयते ।।१३९।।

दिधासुः स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थितिं ।
विदायान्यदनर्थित्वात् स्वमेवावेतु पश्यतु ।।१४३।।

भावार्थ- ध्याता का माध्यस्थ भाव, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्यभाव, निष्पृहता, तृष्णा रहित, प्रशमभाव, शांत भाव में लीन होना चाहिये। इसका एक ही अर्थ है तथा आत्मा का व पर का ज्ञान व श्रद्धान करके जैसा यथार्थ स्वरूप है वैसा जाने, फिर निःप्रयोजन जानकर पर को छोड़कर केवल अपने आपको ही जाने व देखे।

दोहा ९५

आत्मज्ञानी ही सब शास्त्रों का ज्ञाता है

जो अप्पा सुद्धु वि मुणइ असुइ-सरीर-विभिन्न ।
सो जाणइ सत्थहँ सयल सासय- सुक्खहँ लीणु ।।

अन्वयार्थ- (जो असुइ सरीर विभिन्नु) जो कोई इस अपवित्र शरीर से भिन्न **(सासय सुक्खहँ लीणु)** व अविनाशी सुख में लीन **(सुद्धु वि अप्पा मुणइ)** शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है **(सो सयल सत्थहँ जाणइ)** वही सर्व शास्त्रों को जानता है।

भावार्थ- शास्त्रों का ज्ञान तब ही सफल है जब अपने आत्मा का यथार्थ पहचान ले, उसकी रूचि प्राप्त कर ले या उसके स्वभाव का स्वाद आने लग जावे, क्योंकि शुद्धात्मा का अनुभव ही मोक्षमार्ग है। शुद्धस्वरूप की भावना से ही आत्मा शुद्ध होते होते परमात्मा हो जाता है। जिनवाणी के अभ्यास का भले प्रकार उद्योग करके अपने आत्मा को यथार्थ जानने का हेतु रखे।

वर्तमान में यह अपना आत्मा कर्मसंयोग से मलीन दिख रहा है व इसकी यह मलीनता प्रवाहरूप से अनादि है। मलीन पानी को दो दृष्टियों से देखना योग्य है। व्यवहारनय से यह पानी मैला ही है, क्योंकि मिट्टी मिली है व मिट्टी की मलीनता ने जल की स्वच्छता को छिपा दिया है निश्चयनय से देखा जावे तो मिट्टी भिन्न है, तब वह जल स्वभाव में निर्मल दिखता है। इसी तरह यह आत्मा कर्म- पुद्गलों के संयोग से व्यवहार नय से अशुद्ध ही झलकता है, कर्मों ने इसके शुद्धस्वभाव को ढक दिया है।

निश्चयनय से यही आत्मा इस अपवित्र औदारिक शरीर से व तैजस व कार्माण शरीर से व रागादि विकारी भावों से भिन्न परमानन्दमयी ही परम शुद्ध ज्ञाता दृष्टा परमात्मा रूप दिखता है।

यही दृष्टि ध्याता के लिए परम उपकारी है। अतएव जिनवाणी के भीतर दोनों नयों की मुख्यता से आत्मा के स्वरूप के बतानेवाले ग्रन्थों का भले प्रकार अभ्यास करे। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष - इन सात तत्त्वों को समझने से व्यवहारनय से आत्मा के अशुद्ध स्वरूप का व अशुद्ध से शुद्ध होने का सर्व ज्ञान होता है।

द्रव्यसंग्रह तथा तत्त्वार्थसूत्र ये दो ग्रंथ बड़े उपयोगी हैं, इनका सूक्ष्मता से अभ्यास करके इनकी टीकाएँ - देखे बृहत् द्रव्यसंग्रह व सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक। विशेष जानने के लिए गोम्मटसार जीवकांड व कर्मकांड का अभ्यास करे व आचार शास्त्रों से मुनि व श्रावक की बाहरी क्रिया के पालने की विधि जाने। मूलाचार व रत्नकरण्ड श्रावकाचार का मनन करे। महान् पुरुषों के जीवनचरित्र को भी जाने कि उन्होंने मोक्षमार्ग का किस तरह साधन किया। कर्म सापेक्ष आत्मा की अवस्था का ठीक परिचय प्राप्त करे। फिर निश्चयनय की मुख्यता से आत्मा को जीतने के लिए महान योगी श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, समयसार, नियमसार का भले प्रकार अभ्यास करे, परमात्म-प्रकाश का मनन करे, तब दर्पण के समान विदित होगा कि मेरे ही शरीर के भीतर परमात्मादेव विराजमान है।

शास्त्रों के ज्ञान के लिए व्याकरण व न्याय को भी जाने। तब शब्दज्ञान व युक्ति का ज्ञान ठीक होगा व अन्य दर्शनवालों के मत से जिनदर्शन को तुलना करके जानने की योग्यता प्राप्त होगी। जो केवल व्यवहारनय से ही आत्मा को जाने, निश्चयनय से न जाने, उसको अपने शुद्ध तत्त्व का निश्चय नहीं होगा और जो व्यवहार को न जाने, केवल निश्चय को ही जाने, वह अशुद्धता को मेटने का उपाय नहीं कर सकेगा।

दोनों नयों से विरोधरहित ज्ञान जब होगा तब ही भेदविज्ञान होगा। भेदविज्ञान के अभ्यास बिना तत्त्वज्ञान का लाभ नहीं होगा, तत्त्वज्ञान बिना आत्मा का यथार्थ मनन व अनुभव नहीं होगा। सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं होगा। जो शास्त्रों को पढ़कर व्यवहार में मग्न रहे व आत्मीक आनन्द का स्वाद न ले उसका परिश्रम सफल नहीं होगा। शास्त्रों को पढ़ने का हेतु केवल एक अपने आत्मा का यथार्थज्ञान है।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है :-

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥६॥

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।।७।।

भावार्थ- मुनिराजों ने अज्ञानी को समझाने के लिए असत्यार्थ को या अशुद्ध पदार्थ को कहनेवाले व्यवहारनय का उपदेश किया है, परन्तु जो केवल व्यवहारनय से विस्तार को जाने व निश्चयनय के नियम को न जाने वह जिनवाणी का यथार्थ ज्ञाता नहीं हो सकता। बालक को बिलाव दिखाकर सिंह बता दिया जाता है। यदि कभी उसे सिंह का ज्ञान न कराया जावे तो वह बालक बिलाव को ही सिंह समझा करेगा, उसी तरह यदि निश्चय का ज्ञान न कराया जावे तो निश्चय को न जाननेवाला व्यवहार को ही निश्चय व सत्य व मूल पदार्थ समझ बैठेगा।

दोहा ९६

परभाव का त्याग कार्यकारी है

जो णवि जाणइ अप्पु परू णवि परभाउ चएइ ।
सो जाणउ सत्थइँ सयल ण हु सिवसुक्खु लहेइ ।।

अन्वयार्थ- **(जो अप्पु परु णवि जाणइ)** जो कोई आत्मा को व परपदार्थ को नहीं जानता है **(परभाउ णवि चएइ)** व परभावों का त्याग नहीं करता है **(सो सयल सत्थइं जाणइ)** वह सर्व शास्त्रों को जानता है तो भी **(सिवसुक्खु ण हु लहेइ)** मोक्ष के सुख को नहीं पावेगा।

भावार्थ- अनेक शास्त्रों के पढ़ने का फल भेदविज्ञान की प्राप्ति है। अनादिकाल से आत्मा व सूक्ष्म कर्म पुद्गलों का संयोग सम्बन्ध ऐसा गाढ़ है कि कोई भी समय देखो आत्मा के एक एक प्रदेश में अनेक पुद्गल कर्मवर्गणाएँ पाई जाती है। उन कर्मों का उदय भी हर एक समय है, हर समय मोह व राग द्वेष से उसकी अनुभूति मलीन हो रही है। इसको कभी भी आत्मा के शुद्धज्ञान का अनुभव नहीं आता है। यह कर्मचेतना व कर्मफलचेतना में ही लवलीन है। यह अपनी इन्द्रियों की तृष्णा की पूर्ति में मन-वचन-काय से अनेक काम करने मे तन्मय रहता है।

धन कमाने का, मकान बनाने का, वस्त्र सीने सिलाने का, आभूषण बनवाने का, श्रृंगार करने का, रसोई बनाने का, सामग्री एकत्र करने का, बाधकों को दूर रखने का, परिग्रह की रक्षा का आदि उद्यम में तल्लीन होकर कर्मचेतना रूप वर्तता है। जब असाता का तीव्र उदय आ जाता है तब दुःख व सुख में तन्मय होकर कर्मफल चेतनारूप हो जाता है। उन्मत्त की तरह जगत के

पदार्थों में आसक्त रहता है, विषयसुख की रात दिन चाह किया करता है।

इसने कभी भी यह नहीं जाना कि मैं आत्मा द्रव्यपुद्गल से सर्वथा भिन्न हूँ। मैं न पशु हूँ, न पक्षी हूँ, न मानव हूँ, न रागी-द्वेषी हूँ। मैं तो परम वीतरागी ज्ञान, दर्शन, सुख व वीर्य का धारी कर्मकलंक- रहित परमात्मा हूँ, और सब प्रकार के भाव व पदार्थ उससे निराले हैं। जिन भावों में अनादिकाल से आपा माना किया उन ही भावों को पर जानने की व अपने शुद्ध वीतराग-विज्ञानमय भाव को पहचानने की आवश्यकता है। अतएव शास्त्रों के पढ़ने का फल यही है जो अपने आत्मा को आत्मारूप व पर को पररूप जाने।

जिसकी बुद्धि में भेदविज्ञान का प्रकाश न हो उसका शास्त्रज्ञान मोक्षमार्ग में लाभकारी नहीं होगा। भेदविज्ञान होने पर यह प्रतीति जमनी चाहिए कि सच्चा आनन्द मेरे ही आत्मा का गणु है। जैसे मिश्री का स्वाद पाने के लिये मिश्री खाने में उपयोग को जोड़ना पड़ता है। यदि उपयोग थिर न हो तो मिश्री का स्वाद नहीं आएगा।

इसी तरह आत्मानन्द को पाने के लिए कर्मकलंकरहित वीतरागी व ज्ञातादृष्टा अपने आत्मा के भीतर श्रद्धा व ज्ञान सहित रमण करना पड़ेगा। तब अन्य सर्व पदार्थों में व भावों में से उपयोग को हटाना पड़ेगा। इसलिए परमसुख को अनन्तकाल के लिए निरन्तर भोग करने के लिए, ज्ञान व वैराग्य सहित आत्मा का अनुभव प्राप्त करना चाहिए। जाने तो यह कि मैं निराला शुद्ध आत्माद्रव्य हूँ। मैं ही परमेश्वर हूँ, मैं ही परमदेव हूँ, मैं ही उपासना करने योग्य हूँ, व अपनी ही आराधना से ही मोक्ष लाभ होगा। अद्वैत निर्विकल्प ध्यान ही संवर व निर्जरा का कारण है। वैराग्य यह कि इस जगत के भोग विष के समान त्यागने योग्य है। लौकिक कोई पद इष्ट नहीं है, एक शिवपद कल्याणकारी हैं। महान वैराग्य यही है कि तीन लोक की सम्पत्ति से उदासीनता आ जावे एक निजस्वभाव से ही प्रेम उत्पन्न हो जावे। ज्ञान व वैराग्य बिना रत्नत्रयधर्म का स्वाद नहीं आयेगा। मोक्ष के सुख का उपाय निजात्मीक सुख या वेदन है। आत्मानन्द का अनुभव ही ध्यान की आग है जो कर्मों को जला रही है। मुमुक्षु को योग्य है कि जिनवाणी का अभ्यास करके आत्मा को व पर पदार्थों को ठीक-ठीक जाने। जानकर परमसमभावी होगा।

जैसे सूर्य का काम केवल जगत को प्रकाश करना है, किसी से राग-द्वेष करना नहीं है, समभाव से निर्विकार रहना है, वैसा ही आत्मा का स्वभाव समभाव से पदार्थों को यथार्थ जानना है, किसी से राग-द्वेष नहीं करना है। जो समभाव में तिष्ठकर निज आत्मा को ध्याता है वही

निर्वाण के सुख को पाता है।

श्री बृहत् सामायिक पाठ में कहा है :-

भवति भविनः सौख्यं दुःखं पुराकृतकर्मणः ,
स्फुरति हृदये रागो द्वेषः कदाचन मे कथं ।
मनसि समतां विज्ञायेत्थं तयोर्विदधाति यः,
क्षपयति सुधीः पूर्व्वं पापं चिनोति न नूतनं ।।१०२।।

भावार्थ- प्राणी को सांसारिक सुख-दुःख अपने पूर्व में बांधे कर्मों के उदय से होता है। तब ज्ञानी के मन में किस तरह रागद्वेष पैदा हो सकता है ? ज्ञानी राग-द्वेष का स्वरूप जानकर उनको त्यागकर समता को मन में धारण करता है। इसी उपाय से वह पूर्व पाप को नाश करता है न नये कर्म का संग्रह नहीं करता है।

दोहा ९७

परम समाधि शिवसुख का कारण है

वज्जिय सयल-वियप्पइं परम-समाहि लहंति ।
जं विंदहिं साणंदु क वि सो सिव-सुक्खँ भणंति ।।

अन्वयार्थ- **(सयल-वियप्पइं वज्जिय)** सर्व विकल्पों को त्यागने पर **(परम समाहि लहंति)** जो परम समाधि को पाते हैं, **(जं क वि साणंदु विंदहिं)** तब कुछ आनन्द का अनुभव करते हैं **(सिव सुक्खँ भणंति)** इसी सुख को मोक्ष को सुख कहते हैं।

भावार्थ- मोक्ष का सुख आत्मा का पूर्ण स्वाभाविक सुख है जो सिद्धों को सदाकाल निरन्तर अनुभव में आता है। ऐसे सुख का उपाय भी आत्मीक आनन्द का अनुभव करना है। सुखस्वभावी आत्मा ही पूर्ण सुखी होता है। आत्मीक सुख का स्वाद पाने का उपाय अपने ही शुद्ध आत्मा में निर्विकल्प समाधि का प्राप्त करना है।

तत्त्वज्ञानी को उचित है कि वह प्रथम गाढ़ विश्वास करे कि मैं ही सिद्ध समान शुद्ध हूँ। मेरा द्रव्य कभी स्वभाव से रहित नहीं हुआ। कर्मों के मैल से स्वभाव रूक रहा है, परन्तु भीतर से नाश नहीं हुआ। जैसे मिट्टी के मिलने से पानी की निर्मलता ढक जाती है, नाश नहीं होता है। निर्मली फल डाल देने पर मिट्टी नीचे बैठ जाती है पानी साफ दिखता है। यह आत्मा अनादि से आठ

प्रकार के कर्मों से मिला है तो भी उसका स्वभाव बना हुआ है। सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धनिश्चयनय के द्वारा अपने आत्मा के साथ रहनेवाले सर्व संयोगों को दूर करके आत्मा को शुद्ध देखते हैं।

आगमज्ञान की श्रद्धा पर जब अपने आत्मा को बार- बार शुद्ध भाया जाता है तब भावना के दृढ़ संस्कार से गाढ़ रूचि हो जाती है, यही सम्यक्त्व है तब उपयोग स्वयं पर से छूटकर अपने आत्मा में ठहर जाता है। स्वानुभव की कला सम्यक्त्व होते ही जग जाती है। इससमय काया थिर होती है, वचन-विलास नहीं होता है, मन का चिन्तवन बन्द हो जाता है। जब विकल्पों से रहित परमसमाधि होती है, उसी समय आत्मीक आनन्द का स्वाद आता है। इसी से कर्म की निर्जरा भी अधिक होती है। इसी को ध्यान की आग कहते हैं।

सम्यक्त्वी को स्वानुभव के करने की रीति मिल जाती है। इसी को मोक्ष का उपाय जानकर सम्यक्त्वी बार-बार स्वानुभव का अभ्यास करके आत्मानन्द का भोग करता है। यदि कोई सम्यक्त्वी निर्ग्रन्थ मुनि हो व वज्रवृषभनाराचसंहनन का धारी हो और उसका स्वानुभव यथायोग्य एक अन्तमुहूर्त तक जमा रहे तो वह चार घातीय कर्मों का क्षय करके परमात्मा हो जावे। एक साथ ही अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य का प्रकाश कर ले।

आत्मवीर्य की कमी से सर्व ही सम्यक्त्वी ऐसा नहीं कर सकते हैं तब शक्ति के अनुसार गृहस्थी में यदि रहते हैं तेा समय निकालकर आत्मानुभव के लिए सामायिक का अभ्यास करते हैं। अधिक देर तक सामायिक नहीं हो सकती है इसलिए सम्यक्त्वी गृहस्थ देर तक जिनपूजा करते हैं, जिनेन्द्र गुणगान करते करते स्वानुभव पा लेते हैं। कभी अध्यात्म ग्रन्थों का मनन करते हैं, कभी अध्यात्म चर्चा करते हैं, कभी अध्यात्मीक भजन गाते हैं।

परिणामों को पाप के भावों से बचाने के लिए श्रावक बारह व्रत पालते हैं। निराकुल स्वच्छ भावों के होने पर ही स्वानुभव का काल अधिक रहता है। जब वैराग्य अधिक हो जाता है तब सम्यक्त्वी गृहत्याग करके साधु हो जाता है, तब परिग्रह के त्याग होने से आरम्भ न करने से निराकुलता विशेष प्राप्त होती है। क्षोभरहित मन ही निश्चयनय के द्वारा सर्व जीवों को समान देखकर राग द्वेष को जीतता है। वीतरागी होकर बार बार आत्मानुभव करता है। आत्मानुभव से सच्चा आत्मीक आनन्द पाता है। इसी उपाय से यह साधक मोक्षमार्ग को तय करता हुआ बढ़ता जाता है, कभी न कभी निर्वाण का लाभ कर लेता है।

श्री तत्त्वानुशासन में कहा है :-

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नाऽनुभूयते ।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्छावान्मोह एव स : ॥१६९॥
तदेवानुभवँश्चायमेकाग्र्य परमृच्छति ।
तथात्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरं ॥१७०॥

भावार्थ- समाधि भाव में तिष्ठकर जो ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव न हो तो वह उसके ध्यान नहीं है वह मूर्छावान या मोही है। जब ध्यान करते हुए आत्मा का अनुभव प्रगट होता है तब परम एकाग्रता मिलती है तथा तब ही वह वचनों से अगोचर आत्मीक आनन्द का स्वाद भोगता है।

दोहा ९८

आत्मध्यान के चार प्रकार

जो पिंडत्थु बुह रूवत्थु वि जिण उत्तु ।
रूवातीतु मुणेहि लहु जिम परू होहि पवित्तु॥

अन्वयार्थ- **(बुह)** हे पण्डित ! **(जिण-उत्तु जे पिंडस्थु पयत्थु रूवत्थु रूवातीतु मुणेहि)** जिनेन्द्र द्वारा कहे गये जो पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीत ध्यान हैं उनका मनन कर **(जिम लहु परु पवित्तु होहि)** जिससे तू शीघ्र ही परम पवित्र हो जावे।

भावार्थ- जैसे वस्त्र को ध्यान पूर्वक रगड़ने से मैल साफ होता है वैसा ही यह अशुद्ध आत्मा आत्मा के ध्यान से शुद्ध हो जाता है। ध्यान करने की अनेक रीतियाँ है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ में पिंडस्थादि चार प्रकार के ध्यानों का विस्तार से वर्णन है। यहाँ संक्षेप में कहा जाता है :-

(1) पिंडस्थध्यान - पिण्ड शरीर को कहते हैं उसमें विराजित आत्मा का ध्यान सो पिण्डस्थ ध्यान है। इसकीपांच धारणाएँ हैं - पृथ्वी, अग्नि, पवन, जल तथा तत्त्व रूपवती।

(1) पृथ्वी धारणा - ध्याता ऐसा विचारे कि मध्यलोक एक क्षीरसागर है, उसके बीच में जम्बूद्वीप के बराबर एक हजार पत्तों का एक कमल है, उस कमल के बीच में मेरू पर्वत के समान कर्णिका है। मेरू पर्वत के पांडुक वन में पांडुक शिला है, उस पर स्फटिक मणि का सिंहासन है, उस पर मैं कर्मों के क्षय करने के लिए पद्मासन बैठा हूँ। इतना स्वरूप ध्यान में जमा लेना पृथ्वी धारणा है।

(2) अग्नि धारणा - यही ध्याता वहीं बैठा हुआ यह सोचे कि मेरे नाभि के स्थान पर एक १६ पत्तों का कमल है उस पर १६ स्वर लिखे हैं - अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। कमल के बीच में हैं अक्षर लिखा हुआ है, दूसरा कमल हृदय स्थान में नीचे के कमल के ऊपर उलटा आठ पत्तों का विचारे। यही ज्ञानावरणीय आठ कर्म हैं ऐसा जाने। हैं की रेखा से धूम निकला फिर आग की लौ हो गई और कर्मों के कमल को जलाने लगी। इसी आग की एक शाखा मस्तक पर आई व शरीर के सब तरफ त्रिकोण रूप में हो गई। इस त्रिकोण में र र र र र र अक्षर अग्निमय प्राप्त हैं। बाहर के तीन कोनों पर अग्निमय स्वस्तिक, भीतर तीन कोनों पर ॐ हैं अग्निमय लिखा विचारे, यह बाहर की आग शरीर को जला रही है। इसतरह कर्म व शरीर जलकर राख हो रहे हैं, ऐसा ध्यान करे।

(3) पवन धारणा - पवन वेग से चलकर मेरे चारों तरफ घूमने लगी। गोल मण्डा बन गया। उसमें स्वाय स्वाय स्वाय लिखा विचारे। यह मण्डल राख को उड़ा रहा है, आत्मा स्वच्छ हो रहा है।

(4) जल धारणा - काले-काले मेघों से पानी बरस रहा है, अर्ध चन्द्राकार जल मण्डल मेरे ऊपर हो गया, प प प प प लिखा है, ये जल की धाराएँ मेरे आत्मा को धो रही हैं, सब रज दूर हो रही है, ऐसा विचारे।

(5) तत्त्व रूपवती - आत्मा बिल्कुल साफ हो गया, सिद्ध के समान हो गया। परम शुद्ध शरीर के प्रमाण आत्मा को देखे। यही पिंडस्थ ध्यान है।

(2) पदस्थ ध्यान - पदों के द्वारा ध्यान करना। जैसे ॐ को हैं को मस्तक पर, भौंहों के बीच मे, नाक, की नोक पर, मुँह में, गले में, हृदय में या नाभि में विराजमान करके देखें व पाँच परमेष्ठी के गुण कभी-कभी विचार करे।

अथवा एक आठ पत्तों का कमल हृदय में विचारे। एक एक पत्ते पर णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः। इन आठ पदों को विराजित करके एक एक पद का ध्यान क्रम से करे।

(3) रूपस्थ ध्यान - अपने को समवशरण में श्री अरहन्त भगवान के सामने खड़ा देखे। अरहन्त भगवान पद्मासन परम शान्त विराजित हैं उनके स्वरूप का दर्शन करो। अथवा किसी ध्यानमय तीर्थंकर की प्रतिमा को मन में लाकर उसका ध्यान करे।

(4) रूपातीत - सिद्ध भगवान के पुरुषाकार ज्ञानानन्दमय स्वरूप का ध्यान करे। जब मन एकाग्र होता है, वीतरागता प्रगट होती है तब बहुत कर्म झड़ते हैं, आत्मा आत्मध्यान के उपाय से ही परम पवित्र परमात्मा होता है।

श्री तत्त्वानुशासन में कहा है :-

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥१९१॥

भावार्थ- जिस भाव से व जिस रूप से आत्मज्ञानी आत्मा को ध्याता है उसी से वह तन्मय हो जाता है, जैसे रंग की उपाधि से स्फटिक पाषाण तन्मय हो जाता है।

दोहा ९९

सामायिक चारित्र कथन

सव्वे जीवा णाणमया जो सम-भाव मुणेइ ।
सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ ॥

अन्वयार्थ- **(सव्वे जीवा णाणमया)** सर्व ही जीव ज्ञानस्वरूपी हैं - ऐसा **(जो समभाव मुणेइ)** जो कोई समभाव को मनन करता है **(सो फुडु सामाइउ जाणि)** उसी के प्रगटपने सामायिक जानो **(एम जिणवर भणेइ)** ऐसा श्री जिनेन्द्र कहते हैं।

भावार्थ- समभाव की प्राप्ति को सामायिक कहते हैं। यह भाव तब ही सम्भव है जब इस विश्व को निश्चयनय से या द्रव्यार्थिक नय से देखा जावे। पर्यायार्थिक या व्यवहारनय की दृष्टि को बन्द कर दिया जावे। जगत में नाना भेद पर्याय की अपेक्षा से दिखते हैं। चार गति नाम कर्म के उदय से जीव नारकी, पशु, मानव व देव दिखते है।

जाति नाम कर्म के उदय से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, पंचेन्द्रिय सब दिखते हैं जीवों की अन्तरंग व बहिरंग अवस्थाएँ आठ कर्मों के उदय से विचित्र दिखती हैं। मोहनीय कर्म के उदय से जीव शरीरासक्त, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, हास्यसहित, रतिवान, शोकी, अरतिवान, भयभीत, जुगुप्सा सहित, स्त्रीवेद, पुंवेदी, नपुंसकवेदी, तीव्रकषायी, मन्दकषायी, पापी, पुण्यात्मा दिखते हैं। हिंसक व दयावान, असत्यवादी व सत्यवादी, चोर व ईमानदार, कुशील व ब्रह्मचारी, परिग्रहवान व परिग्रह रहित, मोह की तीव्रता से या मन्दता से दिखते हैं।

ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम कम व अधिक होने से कोई मन्द ज्ञानी, कोई तीव्र ज्ञानी, कोई शास्त्रों के विशेष ज्ञाता, कोई अल्प ज्ञाता, कोई शीघ्र स्मृतिवान, कोई अल्प स्मृतिवान दिखते हैं।

दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से कोई चक्षु रहित, कोई चक्षुवान दिखते हैं। अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से कोई विशेष आत्मबली, कोई कम आत्मबली दिखते हैं। नाना जीवों के नाना प्रकार के परिणाम घातीय कर्मों के कारण दिखते हैं। आयुकर्म के उदय से कोई दीर्घायु, कोई अल्पायु दिखते हैं। कोई जन्मते हैं, कोई मरते हैं। नामकर्म के कारण, कोई सुन्दर, कोई असुन्दर, कोई सुडौल शरीरी, कोई कुडौल शरीरी, कोई बलवान, कोई निर्बल, कोई रोगी, कोई निरोगी, कोई स्त्री, कोई पुरुष, कोई अन्धे, कोई बहिरे, कोई काने, कोई लंगडे, कोई सुन्दर चाल चलने वाले, कोई बुरी चाल चलने वाले दिखते हैं। गोत्र कर्म के उदय से कोई उच्चकुली, कोई नीचकुली दिखते हैं।

वेदनीय कर्म के उदय से कोई धनवान, कोई निर्धन, कोई बहुकुटुम्बीजन, कोई कुटुम्ब रहित, कोई इन्द्रिय भोग सम्पन्न, कोई भोग रहित, कोई विशाल मकान का वासी, कोई वृक्षतला निवासी, कोई सवस्त्र साभूषण, कोई आभूषण रहित, कोई सुखी, कोई दुःखी दिखते हैं। आठ कर्मों के उदय से यह जगत का नाटक हो रहा है। प्राणी इन्द्रिय के विषयों के लोभी हैं व आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाओं में मूढ़ हैं। इसके कारण इष्ट पंदार्थों में राग व अनिष्ट पदार्थों में द्वेष करते हैं।

व्यवहार दृष्टि राग द्वेष होने का निमित्त सामने रखती है। निश्चयदृष्टि से सब ही जीव चाहे सिद्ध हो या संसारी समान दिखते हैं। कर्म रहित, शरीर रहित, राग-द्वेष रहित सब ही समान ज्ञानी, परम सुखी, परम सुखी, परम सन्तोषी, परम शुद्ध, एकाकार दिखते हैं। जितने गुण एक आत्मा में है उतने गुण दूसरी आत्मा में हैं। सत्ता सब आत्मा की निराली होने पर भी स्वभाव से सब समान दिखते हैं। पुद्गल सब परमाणु रूपदिखते हैं। धर्म, अधर्म, काल, आकाश चार अमूर्तीक द्रव्य स्वभाव से झलकाते हैं। छोटे- बड़े, सुन्दर-असुन्दर, स्वामी- सेवक, आचार्य-शिष्य, पूज्य-पूजक आदि के भेद सब उड़ जाते हैं।

जो कोई इस तरह सम दृष्टि से देखता हैउसी के राग-द्वेष का विकार दूर हो जाता है, वह समभाव में आ जाता है। इस तरह ध्याता जब समभाव को लाकर पर जीवों से उपयोग को हटाकर केवल अपने स्वभाव में जोड़ता है तब निश्चल हो जाता है, आत्मस्थ हो जाता है,

आत्मानुभव में हो जाता है तब ही परम निर्जरा का कारण सामायिक चारित्र का प्रकाश होता है। विकल्प रहित भावों में रहना ही सामायिक है, यही मुनिपद है, यही मोक्षमार्ग है, यही रत्नत्रय की एकता है।

श्री योगेन्द्रदेव अमृताशीति में कहते हैं :-

सत्साम्यभाव- गिरिगह्वरमध्यमेत्य,
पद्मासनादिकमदोषमिदं च बद्ध्वा
आत्मानमात्मनि सखे ! परमात्मरूपं,
त्वं ध्याय वेत्सि ननु येन सुखं समाधेः ॥२८॥

भावार्थ- हे मित्र ! सच्चे साम्यभाव की गुफा के बीच में बैठ कर व निर्दोष पद्मासन आदि बांधकर अपने ही एक आत्मा के भीतर अपने ही परमात्मा स्वरूपी आत्मा को तू ध्यावे, जिससे तू समाधि का सुख अनुभव कर सके।

दोहा १००

राग-द्वेष का त्याग सामायिक है

राय-रोस बे परिहरिवि जो समभाउ मुणेइ।
सो सामाइउ जाणि फुडु केवलि एम भणेइ॥

अन्वयार्थ- **(जो राय-रोस वे परिहरिवि समभाउ मुणेइ)** जो कोई राग-द्वेष को त्याग करके समभाव की भावना करता है **(सो फुडु सामाइउ जाणि)** उसको प्रगटपने सामायिक जानो **(एम केवलि भणेइ)** ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

भावार्थ- राग-द्वेष का त्याग ही सामायिक है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी शरीर व इन्द्रियों के विषयों का रागी होता है इसलिए जिनसे अपना मनोरथ सिद्ध होता जानता है, उनसे प्रीति करता है; जिनसे बाधा की शंका होती है उनसे द्वेष रखता है। वह कभी राग-द्वेष से छूटता नहीं, घोर तप करते रहने पर भी वह कषाय की कालिमा से मुक्त नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टि का भाव उलट जाता है, वह संसार के सुखों का श्रद्धावान नहीं रहता है। उसका गाढ़ श्रद्धान अतीन्द्रिय आत्मीक आनन्द का होता है, वह एकमात्र सिद्धदशा का ही प्रेमी रहता है वह संसार शरीर व भोगों से पूर्ण वैरागी हो जाता है। उसके भीतर सांसारिक पदार्थों की तरफ

परमाणु मात्र भी राग नहीं रहता। वह जगत की दशाओं का समभाव से देखता है। सर्व सांसारिक जीवों के भीतर जो-जो भीतर व बाहर दशा वर्तता है वह उनके स्वयं परिणमन शक्ति व कर्मों के उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम के आधीन है। दूसरा जीव कोई उस दशा को बल पूर्वक पलट नहीं सकता है। निमित्तकारण मात्र एक दूसरे के परिणमन में हो सकते हैं तथापि अन्तरंग निमित्त व उपादान हर एक का एक के पास स्वतंत्र है। ऐसा वस्तु का स्वभाव जानकर ज्ञानी जीव अपने जीवन में या मरण में व दुःख में या सुख में या अन्य किसी कार्य में समभाव रखता है, कर्मों के अच्छे या बुरे विपाक को समभाव से भोग लेता है।

दूसरों के जीव-मरण पर दुःख सुख होने पर व अन्य किसी कार्य के होने पर भी समभाव रखता है। राग द्वेष करके आकुलित नहीं होता है। यदि स्त्री का मरण व पुत्र पुत्री का मरण हो जावे या अन्य किसी मित्र या बन्धु का मरण या वियोग हो जावे तो ज्ञानी समभाव से देखकर आकुलित नहीं होता है। वह जानता है कि सर्व जीवों को दुख-सुख व उनका जीवन-मरण उनके ही अपने कर्मों के उदय अनुसार है। कर्मों के उदय को कोई मेट नहीं सकता है।

अपने जीवन की व दूसरों के जीवन की स्थितियों को देखकर ज्ञानी राग द्वेष नहीं करता है। जैसे सूर्य का उदय होना, प्रकाश का फैलाना, प्रकाश का कम होना व अन्धकार का हो जाना यह सब सूर्य के समान के विमान की गति के स्वभाव का कारण है। ज्ञानी जीवकभी यह विचार नहीं करता है कि दिन बढ़ जावे तो ठीक है, रात्रि बढ़ जावे या घट जावे तो ठीक है। प्रकाश सदा बना रहे व कभी नहीं तो ऐसा राग द्वेष ज्ञानी कभी नहीं करता है। सूर्य के परिणमन को समभाव में देखता है। इसी तरह जगत में पुद्गल अनेक स्कंध बनते हैं। स्कंधों से अनेक परमाणु बनते हैं। पुद्गल के कार्य उनके स्वभाव से होते रहते हैं। जैसे पानी का भाप बनना, मेघबनना, पानी का बरसना, नदी काबहना, मिट्टी का कुप्पा होना, तूफान का आना, भूकंप होना, बिजली का चमकना, पर्वतों का चूर होना, मकानों का गिरना, जंगलों में वृक्षों का उत्पन्नहोना, जंगल में आग लगना, आदि अनेक प्राकृतिक कार्य होते रहते हैं। उनमें भी ज्ञानी राग द्वेष नहीं करता है। समभाव से देखता है। जगत का चरित्र एक नाटक है। उस नाटक को ज्ञानी स्वामी होकर नहीं देखता है। ज्ञाता दृष्टा दर्शक होकर देखताहै। नाटक के भीतर हानि व लाभ देखकर ज्ञानी समभाव रखता है। जो समभाव से अपने परिणमन को व दूसरों के परिणमन को देखता है, उसके पूर्वकर्म फल देकर गिर जाते हैं, नवीन पापकर्मों का बंध नहीं होता है व अति अल्प होता है। वही

सामायिक चरित्र को पालता है। ऐसा समभावधारी ज्ञानी गृहस्थ सामायिक शिक्षाव्रत का व मुनि सामायिक चारित्र का पालक है।

श्री समयसारकलश में कहा है :-

इति वस्तु स्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ।।१७६।।

भावार्थ- ज्ञानी इसतरह सर्व वस्तुओं के स्वभाव को व अपने आपको ठीक-ठीक जानता है, इसलिए राग-द्वेष भावों को अपने भीतर नहीं करता है, समभाव से रहता है, इसलिए वह राग द्वेष का कर्ता नहीं होता है। चारित्र मोहनीय के उदय से होनेवाले विचार को कर्मों का उदयरूप रोग जानता है, उसके मेटने का उद्यम करता है।

दोहा १०१

छेदोपस्थापना चारित्र

हिंसादिउ-परिहारू करि जो अप्पा हु ठवेइ ।
सो वियऊ चारित्तु मुणि जो पंचम-गइ णेइ ।।

अन्वयार्थ- **(जो हिंसादिउ-परिहारू करि अप्पा हु ठवेइ)** जो कोई हिंसा आदि पापों को त्याग करके आत्मा को स्थिर करता है **(सो वियऊ चारित्तु मुणि)** सो दूसरे चारित्र का धारी है, ऐसा जानो **(जो पंचम-गइ णेइ)** यह चारित्र पंचमगति को ले जाता है।

भावार्थ- यहाँ साधकों के द्वारा साधने योग्य पाँच चारित्र में से दूसरे छेदोपस्थापना चारित्र का स्वरूप बताया है। सामायिक चारित्र पहला है उसको धारण करते हुए साधु निर्विकल्प समाधि में व समभाव में लीन रहता है, वहाँ ग्रहण-त्याग का विचार नहीं हो सकता है।

स्वानुभव होना या आत्मस्थ रहना ही सामायिक है, परन्तु यह दशा एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक आत्मज्ञानी छद्मस्थ के होना असम्भव है। उपयोग चंचल हो जाता है तब अशुभ भावों से बचने के लिए व्यवहार चारित्र का विकल्प किया जाता है। व्यवहार चारित्र के आलम्बन से साधु फिर अन्तर्मुहूर्त के बाद आत्मलीन हो जाता है। प्रमत्तभाव में भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहता है।

सामायिक छेद हो जाने पर फिर सामायिक में स्थिर होना ही छेदोपस्थापना चारित्र है।

निश्चय चारित्र सामायिक है, उससे उपयोग हटने पर फिर जिस व्यवहार चारित्र के द्वारा पुनः निश्चय चारित्र में आया जावे वह छेदोपस्थापना चारित्र है, यह सविकल्प है। निश्चय चारित्र निर्विकल्प है। इस भेदरूप चारित्र में साधु अट्ठाईस मूल गुणों की सम्हाल रखता है।

पाँच अहिंसादि व्रत - संकल्पी व आरम्भी हिंसा को मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से पूर्णपने त्याग व भावों में राग द्वेष रहित रहने का व बाहर में प्राणीमात्र की रक्षा का उद्यम करना अहिंसा महाव्रत है। जिनवाणी से विरोधरूप न हो ऐसा वचन यथार्थ कहना। सत्यधर्म की रक्षा करते हुए कहना सत्य महाव्रत है। पर-पीड़ाकारी, आरम्भकारी सर्व वचनों से विरक्त रहना, अहिंसा पोषक व वीतरागतावर्द्धक वचन कहना सत्य महाव्रत है। बिना पर के द्वारा दी हुई किसी भी वस्तु को बुद्धिपूर्वक प्रमाद भाव से ग्रहण नहीं करना, चोरी के सर्व प्रकार के दोषों से बचना सो अचौर्य महाव्रत है। स्त्री, देवी, पशुनी (तिर्यञ्चनी), चित्राम, इन चार प्रकार की स्त्रियों के सम्बन्ध में मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से कुशील का त्यागना सरल निर्विकार शीलस्वभाव से रहना, काम विकार के आक्रमण से बचना सो ब्रह्मचर्य महाव्रत है। चेतन अचेतन सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग करके आकिञ्चन्य भाव से रहकर सर्व प्रकार की मूर्छा का त्याग करना परिग्रहत्याग महाव्रत है।

इन पाँच महाव्रतों के रक्षार्थ शेष तेईस गुणों को साधु पालते हैं।

पाँच समिति - चार हाथ भूमि आगे देख कर दिन में प्रासुक या रौंदी हुई भूमि पर चलना **ईया समिति** है। मिष्ट हितकारी सभ्य वचन बोलता, कर्कश मर्मछेदक वचन नहीं कहना **भाषा समिति** है। श्रावक दातार द्वारा भक्तिपूर्वक दिये जाने पर शुद्ध भोजन भिक्षावृत्ति से सन्तोष से ग्रहण करना **एषणा समिति** है। शरीर, पीछी, कमण्डल, शास्त्रादि देखकर रखना, उठाना **आदान निक्षेपण समिति** है। मूल मूत्रादि जंतु रहित भूमि पर डालना **उत्सर्ग (प्रतिष्ठापना) समिति** है।

पाँच इन्द्रिय निरोध - स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कान - इन पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छा को रोकना, इन्द्रिय भोगों से विरक्त रहना, समभाव से इन्द्रियों के द्वारा काम लेना। निर्विकार भाव से इन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करना इन्द्रिय दमन है।

छह नित्य आवश्यक - प्रतिदिन समय पर तीन काल **सामायिक** करना। मन-वचन-काय से घटित दोषों का प्रातः व सन्ध्या को **प्रतिक्रमण** करना, पश्चाताप करना। आगामी दोष न होने

की भावना करना या **स्वाध्याय** करना है। तीर्थंकरों के गुणों की स्तुति करना **स्तवन** है। तीर्थंकर की मुख्यता से गुणानुवाद करना **वंदना** है। कार्य से ममता त्यागकर ध्यान करना **कायोत्सर्ग** है।

सात अन्य गुण - **(1) नग्नता** - शरीर पर वस्त्रादि न रखकर बालक के समान नग्न रहना।

(2) अपने केशों का लोंच करना - घास के समान ममता रहित होकर केश उखाड़ लेना।

(3) अस्नान - स्नान नहीं करना।

(4) दंतवन नहीं करना - दाँतों का श्रृंगार नहीं रखना।

(5) भूमि शयन - जमीन पर तृण का या काष्ठ का संथारा करना या खाली जमीन पर सोना।

(6) स्थिति भोजन - खड़े होकर भोजन करना।

(7) एक बार भोजन - दिन में एक ही बार भोजन पान करना।

इन २८ मूलगुणों को निर्दोष पालना छेदोपस्थापना चारित्र है। निश्चय से आत्मस्थ हो जाना ही चारित्र है।

श्री तत्त्वार्थसार में कहा है :-

यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्यकर्मणः ।
व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थापनं हि तत् ॥४६-६॥

भावार्थ- जहाँ हिंसादि के भेद से पापकर्मों का त्याग करना या व्रत भंग होने पर प्रायश्चित लेकर फिर व्रती होना सो छेदोपस्थाना चारित्र है।

दोहा १०२

परिहारविशुद्धि चारित्र

मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मद्दंसण-सुद्धि ।
सो परिहारविसुद्धि मुणि लहु पावहि सिवसिद्ध ॥

अन्वयार्थ- **(जो मिच्छादिउ परिहरणु)** जो मिथ्यात्वादि का त्याग करके **(सम्मद्दंसणसुद्धि)** सम्यग्दर्शन की शुद्धि प्राप्त करना **(सो परिहारविसुद्धि मुणि)** वह परिहारविशुद्धि संयम जानो **(लहु सिवसिद्धि पावहि)** जिससे शीघ्र मोक्ष की सिद्धि मिलती है।

भावार्थ- परिहार- विशुद्धि संयम का व्यवहार में प्रचलित स्वरूप यह है कि विशेष संयम उस साधु को प्राप्त होता है जो तीसवर्ष तक सुख से घर में रहा हो, फिर दीक्षा लेकर आठ वर्ष तक

तीर्थंकर की संगति में रहे व प्रत्याख्यान पूर्व का अभ्यास करे। ऐसा साधु विशेष हिंसा का त्यागी होता है, छठवें व सातवें गुणस्थान में ही होता है। यहाँ अध्यात्म दृष्टि से शब्दार्थ लेकर कहा है कि मिथ्यात्वादि विषयों का त्याग करके सम्यग्दर्शन की विशेष शुद्धि प्राप्त करना परिहार विशुद्धि है।

शुद्ध आत्मा का निर्मल अनुभव ही मोक्षमार्ग है। उसके बाधक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र है। अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यादर्शन कर्म के उपशम या क्षय से एक ही साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र प्रगट हो जाते हैं, तीनों ही आत्मा के गुण हैं। ज्ञान और चारित्र एकदेश झलकते हैं । इसके पूर्ण प्रकाश के लिये अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन कषाय का उपशम या क्षय करना होता है। जैसे-जैसे स्वानुभव का अधिक अभ्यास होता है वैसे वैसे कषाय की मलिनता कम होती जाती है। तब ज्ञान निर्मल ऊँचा होता जाता है। श्रावक पद में देशचारित्र होता है, साधुपद में सकल चारित्र होता है। जिस साधु की स्वानुभव की तीव्रता से वीतरागता ऐसी प्रगट हो जाती है कि बुद्धिपूर्वक कषायमल का स्वाद नहीं आता है, निर्मल शुद्ध स्वानुभव झलकता है ,उसका सम्यग्दर्शन गाढ़, ज्ञान निर्मल व चारित्र शुद्ध होता है।

रत्नत्रय की शुद्धता प्राप्त करना ही मोक्ष के निकट पहुँचना है। अतएव साधु को निर्ग्रन्थ पद में रहकर विशेष आत्मध्यान का अभ्यास करना योग्य है, मोह के साथ साधु को युद्ध करना है। इसलिए ज्ञान वैराग्य की खड्ग को तेज रखने की जरूरत है। सम्यग्दर्शन के प्रताप से ज्ञानी को जगत के पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है कि छह द्रव्यों से यह जगत भरा है। सर्व ही द्रव्य निश्चय से अपने अपने स्वभाव में कल्लोल करते हैं। यद्यपि संसारी जीव पुद्गल के संयोग से अशुद्ध है व नर, नारक, तिर्यंच व देव के शरीर में नाना प्रकार दिखते हैं, तो भी ज्ञानी उन सब जीवों को द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा शुद्ध एकरूप ज्ञानानन्दी परम निर्विकारी देखता है।

इस ज्ञान के कारण उसे कोई आश्चर्य नहीं भासता है। वह छहों द्रव्यों के मूल गुणों व पर्यायों के स्वरूप को केवलज्ञानी के समान यथार्थ व शंका रहित जानता है। अपने आत्मा की सत्ता को अन्य आत्माओं की सत्ता से भिन्न जानता है। तो भी स्वभाव से सर्व को व अपने आत्मा को एक समान शुद्ध देखता है। इसी ज्ञान के प्रताप से उसके भीतर सहज वैराग्य भी रहता है कि एक अपना शुद्ध आत्मीक पद ही सार है, उत्तम है, ग्रहण करने योग्य है।

सिद्धपद की ही प्राप्ति करनी चाहिए। चारों गति के क्षणिकपद सब त्यागने योग्य हैं। यह इन्द्रियों के सुख को आकुलतारूप, पराधीन, नाशवंत, पापबंधकारी, अतृप्तिकारी व हेय समझ

चुका है। इसलिए वह भोग-विलास के हेतु से चक्रवर्तीपद, नारायणपद, बलभद्रपद, प्रति-नारायणपद, राजपद, श्रेष्ठपद, इन्द्रपद आदि नहीं चाहता है। उसके भीतर पूर्ण वैराग्य है कि सर्व ही आठों कर्मों का संयोग मिटाने योग्य है, सब ही रागादि विभाव त्यागने योग्य हैं, सर्व ही शरीर व भोग सामग्री का संयोग दूर करने योग्य है, ऐसा दृढ़ ज्ञान वैराग्य धारी सम्यग्दृष्टि पूर्वकर्मों के उदय से यद्यपि गृहस्थ पद में अनेक गृहस्थी के काम करता हुआ दिखाई पड़ता है तो भी वह उन कार्यों केा आसक्ति भाव से नहीं करता है। कषाय के उदय को रोग जानता है। रोग को मिटाने की भावना भाता है। जितना-जितना कषाय का उदय मिटता है उसका व्यवहार भी निर्मल होता जाता है। मूल में मोक्ष का उपाय एक सम्यग्दर्शन की शुद्धता है। वीतराग यथाख्यात चारित्र व केवलज्ञान के लाभ का यही उपाय है।

श्री तत्त्वार्थसार में कहा है:-

विशिष्टपरिहारेण प्राणिघातस्य यत्र हि ।
शुद्धिर्भवति चारित्रं परिहारविशुद्धि तत् ॥४७-६॥

भावार्थ- जहाँ प्राणियों के घात का विशेषपने त्याग हो व चारित्र की शुद्धि हो वह परिहारविशुद्धि चारित्र है।

दोहा १०३

यथाख्यात चारित्र

सुहुमहँ लोहहँ जो विलउ सो सुहुमु वि परिणामु ।
सो सुहुमु वि चारित्त मुणि सो सासय-सुह-धामु ॥

अन्वयार्थ- **(सुहुमहँ लोहहँ जो विलउ)** सूक्ष्म लोभ का भी क्षय होकर **(जो सुहुम वि परिणामु)** जो कोई सूक्ष्म वीतरागभाव होता है **(सो सुहुमु वि चारित्त मुणि)** उसे सूक्ष्म या यथाख्यात चारित्र जानो **(सो सासय सुह धामु)** वही अविनाशी सुख का स्थान है।

भावार्थ- सुख आत्मा का गुण है। उसको यथार्थ चारों घातीय कर्मों ने रोक रखा है, परन्तु मुख्यता से उसको रोकनेवाला मोहकर्म है। जितना-जितना मोह का क्षय होता है उतना उतना सुख का प्रकाश होता जाता है। यह सुख वीतरागभाव सहित निर्मल है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव चार अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों का

जब क्षय कर देता है तब क्षायिक सम्यक्त्व व स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हो जाते हैं। इन शक्तियों के प्रगट होने पर जब कभी ज्ञानी अपने उपयोग को अपने आत्मा में स्थिर करता है तब ही स्वरूप का अनुभव आता है व अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। अविरत सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में भी इस सुख का प्रकाश हो जाता है। फिर यह क्षयिक सम्यक्त्वी महात्मा जितना-जितना स्वानुभव का अभ्यास करता है उतना- उतना कषाय का रस कम उदय में आता है, तब उतना उतना निर्मल सुख अनुभव मे आता है।

पाँचवे देशसंयम गुणस्थान में अप्रत्याख्यान कषाय का उदय नहीं होता है तब चौथे गुणस्थान की अपेक्षा अधिक निर्मल सुख स्वाद में आता है। छठे प्रमत्त गुणस्थान में प्रत्याख्यान कषाय का भी उदय नहीं रहता है, तब और अधिक निर्मल सुख वेदने में आता है। सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में संज्वलन कषाय का मन्द उदय रहता है तब और भी अधिक निर्मल सुख अनुभव में आता है आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में संज्वलन कषाय का अति मन्द उदय होता है तब और भी अधिक निर्मल सुख स्वाद में आता है। नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में अतिशय मन्द कषाय का उदय रहता है तथा वीतरागभाव की आग बढ़ती जाती है। उस कारण से योगी अनिवृत्तिकरण के दूसरे भाग में अप्रत्याख्यान ४ व प्रत्याख्यान ४ इन आठ कषाय कर्मों की सत्ता का क्षय कर देता है। तीसरे भाग में नपुंसक वेद का चौथे भाग में स्त्री वेद का, पाँचवे भाग में हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छः नोकषायों का, छठवें भाग में पुरुष वेद का, सातवें भाग में संज्वलन क्रोध का आठवें भाग में संज्वलन मान का, नौवें भाग मे संज्वलन माया का क्षय कर देता है तथा दशवें सूक्ष्म लोभ गुणस्थान में सूक्ष्मलोभ का क्षय करता है। तब बारहवें गुणस्थान में जाकर यथाख्यात चारित्र को प्रगट करके संज्वलन शुद्ध सुख का अनुभव करता है। अड्डाईस प्रकार करके संज्वलन शुद्ध सुख का अनुभव करता है। अड्डाईस प्रकार मोहकर्म के क्षय होने से न मिटनेवाला सुख प्रगट हो जाता है।

जब योगी द्वितीय शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय तीनों कर्मों का सर्वथा क्षय कर देता है, तब तेरहवें गुणस्थान में आकर केवलज्ञानी अर्हंत् परमात्मा हो जाता है। उस समय निज आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन व अनुभव हो जाता है। अब तक श्रुतज्ञान के द्वारा परोक्षज्ञान था, अब केवलज्ञानी के प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष अमूर्तीक आत्मा का ज्ञान व अनुभव हो जाता है। अन्तराय कर्म के नाश से अनन्तवीर्य प्रगट होने से परमशुद्ध व यथार्थ सुख

अनन्त काल तक स्वाद मे आनेवाला झलक जाता है इसलिए इस गुणस्थान में यह अनन्त सुख कहलाता है। फिर यह सुख कभी कम नहीं होता है, निरंतर सिद्धों के स्वाद में आता है।

श्री तत्त्वार्थ सार में कहा है :-

संसारविषयातीत सिद्धानामव्ययं सुखम् ।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ॥४५-८॥
लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते ।
उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरूपमं स्मृतम् ॥५२-८॥

भावार्थ- सिद्धों को संसार के विषयों की पराधीनता से रहित अविनाशी सुख प्रगट होता है। उस सुख को परम ऋषियों ने परम व वाधा रहित सुख कहा है। समस्त जगत में कोई भी उस सुख के समान पदार्थ नहीं है जिसको उस सुख गुण की उपमा दी जा सके, इसलिए उस सुख को उपमा रहित अनुपम कहा गया है।

दोहा १०४

आत्मा ही पंच परमेष्ठी है

अरहंतु वि सो सिद्धु फुडु सो आयरिउ वियाणि ।
सो उवझायउ सो जि मुणि णिच्छइँ अप्पा जाणि ।

अन्वयार्थ- (णिच्छइँ) निश्चयनय से **(अरहंतु वि अप्पा जाणि)** आत्मा ही अरहंत है ऐसा जानो **(सो फुडु सिद्धु)**वही आत्मा प्रगटपने सिद्ध है **(सो आयरिउ वियाणि)** उसी को आचार्य जानो **(सो उवझायउ)** वही उपाध्याय है **(सो जि मुणि)** वही आत्मा ही साधु है।

भावार्थ- निश्चयनय से जिसने आत्मा का अनुभव प्राप्त कर लिया उसने पाँचों परमेष्ठियों का अनुभव प्राप्त कर लिया। ये पाँचों पद आत्मा को ही दिये गये हैं। व्यवहारनय से या पर्याय की दृष्टि से आत्मा के पाँच भेद हो जाते है, निश्चय से आत्मा एक ही रूप है।

जिस आत्मा में चार घातीय कर्मों के क्षय से अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख गुण प्रगट हैं, परन्तु चार अघातीय कर्मों का उदय है व उनकी सत्ता आत्मा के प्रदेशों में है। सो जीवन्मुक्त परमात्मा अरहंत हैं। अरहंत का ध्यान करते हुए उनके पुद्गलमय शरीर पर व सिंहासन छत्रादि आठ प्रतिहार्य पर लक्ष्य न देकर उनकी आत्मा

की शुद्धि पर लक्ष्य देना चाहिये व अपने आत्मा को भी उसी समान होने की भावना करनी चाहिए। आत्मीक भावों से अरहंत की आत्मा को ध्याना चाहिए। ध्यान में एकाग्र हो जाना चाहिए, यह अरहंत का ध्यान है।

सिद्ध भगवान आठों ही कर्मों से रहित प्रगटपने शुद्धात्मा हैं वहाँ शरीरादि किसी भी पुद्गल का संयोग नहीं है। पुरुषाकार अमूर्तिक ध्यानमय आत्मा को सिद्ध कहते हैं। वे निरंजन निर्विकार हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अगुरुलघु, अव्याबाध, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व इन आठ प्रसिद्ध गुणों से विभूषित हैं। परम कृतकृत्य, निश्चल परमानन्दी हैं। उनके स्वरूप को अपने आत्मा में विराजमान करके एकतान हो जाना सिद्ध का ध्यान है।

आचार्य की आत्मा शुद्ध सम्यग्दर्शन, शुद्धज्ञान, शुद्धचारित्र, शुद्धतप व परमवीर्य से विभूषित है, व निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्धात्मानुभव से अलंकृत है। यद्यपि शिष्यों के कल्याण के निमित्त परोपकार भाव से भी रजित हैं यह उनकी प्रमाद अवस्था है। उसको लक्ष्य में न लेकर केवल शुद्धात्मानुभव दशा को ध्यान में लेकर उनके स्वरूप को अपने आत्मा में बिठाकर एकतान हो जाना आचार्य का ध्यान है।

उपाध्याय महाराज व्यवहार में अनेक शास्त्रों के ज्ञाता होकर पठन पाठन में उपयुक्त रहते हैं, यह उनकी प्रमाददशा है। अप्रमत्त दशा में भी भी स्वात्मानुभव में एकाग्र होकर आत्मीक आनन्द का पान करते हैं। इस निश्चय आत्मीक भाव को ध्यान में लेकर अपने आत्मा को उनके भाव में एकतान करना उपाध्याय का ध्यान है।

साधु परमेष्ठी व्यवहार में २८ मूलगुणों का पालन करते हैं, निश्चय से शुद्ध आत्मीक भाव में रमणकर आत्मगुप्त हो, निर्विकल्प समाधि का साधन करते हैं, आप में ही आपको, आप में ही अपने ही द्वारा आपके लिए आप ही ध्याते हैं, परम एकाग्र भाव से आत्मा में मगन हैं, उनके इस आत्मीक स्वरूप को अपने आत्मा के भीतर धारण करके एकाग्र हो जाना साधु का ध्यान है।

आत्मा के ध्यान में ही पाँचों परमेष्ठी का ध्यान गर्भित है। शरीरादि की क्रिया को ध्यान में लेकर मात्र उनके आत्मा का आराधन निश्चय आराधन है।

श्री समयसार कलश में कहा है :-

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥२३९॥

भावार्थ- आत्मा का स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमयी एकरूप ही है, यही एक मोक्ष का मार्ग है। मोक्ष के अर्थी को उचित है कि इसी एक स्वानुभव रूप मोक्षमार्ग का सेवन करे।

दोहा १०५

आत्मा ही ब्रह्मा-विष्णु-महेश है

सो सिउ संकरू विण्हु सो सो रूद्द वि सो बुद्धु ।
सो जिणु ईसरू बंभु सो सो अणंतु सो सिद्धु ।।

अन्वयार्थ- **(सो सिउ संकरू विण्हु सो)** वही शिव है, शंकर है, वही विष्णु है **(सो रूद्द वि सो बुद्धु)** वही रूद्र है, वही बुद्ध है **(सो जिणु ईसरू बंभु सो)** वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्मा है **(सो अणंतु सो सिद्धु)** वही अनन्त है, वही सिद्ध है।

भावार्थ- जिस परमात्मा का ध्यान करना है, उसके अनेक नाम गुणवाचक हो सकते हैं। वही शिव कहलाता है, क्योंकि वह कल्याण का कर्ता है। उसके ध्यान करने से हमारा हित होता है। वही शंकर कहलाता है, क्योंकि उसके ध्यान करने से आनन्द का लाभ होता है, दूसरा कोई लौकिक जनों से मान्य पूज्य शिव शंकर नहीं है। वह विष्णु कहलाता है, क्योंकि वह केवलज्ञान की अपेक्षा सर्व लोकालोक का ज्ञाता होने से सर्वव्यापक है, दूसरा कोई लौकिक जनों से मान्य यथार्थ विष्णु नहीं है। वही रूद्र या महादेव है, क्योंकि उस परमात्मा ने सर्व कर्मों को भस्म कर डाला है, दूसरा कोई लोकसंहारक रूद्र नहीं है। न दूसरा कोई लोक पालक विष्णु है। वही सच्चा बुद्ध है, क्योंकि वही सर्व तत्त्वों का यथार्थ ज्ञाता है और कोई बुद्धदेव यथार्थ सर्वज्ञ परमात्मा नहीं है।

वही यथार्थ जिन है, क्योंकि उसने रागादि शत्रुओं को व ज्ञानावरणादि कर्म रिपुओं को जीत लिया है, और कोई यथार्थ जिन या विजयी नहीं है। वही ईश्वर है, क्योंकि अविनाशी परमैश्वर्य का धारी वही परमात्मा है जो परम कृतकृत्य व सन्तोषी है, सर्व प्रकार की इच्छा से रहित है। वही परमात्मा सच्चा ब्रह्मा है, क्योंकि यह ब्रह्मस्वरूप में लीन है अथवा वह अपने स्वरूप से यथार्थ मोक्ष का उपाय बताता है। वही धर्म का कर्ता है। उसके ही स्वरूप के ध्यान से संसारी आत्मा परमात्मा हो जाता है, और कोई जगतकर्ता ब्रह्मा नहीं है। वही परमात्मा अनन्त है, क्योंकि वह अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, अनन्तशान्ति, अनन्तसम्यक्त्व आदि अनन्त गुणों का धारी है। उसी को सिद्ध कहते हैं, क्योंकि उसने साध्य को सिद्ध कर लिया

है। संसारी को शुद्धस्वरूप की प्राप्ति सिद्ध करनी है। उसको वह प्राप्त कर चुका है।

परमात्मा के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादक हजारों नाम लेकर भावना करनेवाला भावना कर सकता है। नाम लेना निमित्त है। उन नामों के निमित्त से परमात्मा का स्वरूप ध्यान में यथार्थ ही आना चाहिए। परमात्मा वास्तव में जैन सिद्धातों में सिद्ध भगवान को कहते हैं, जो परम शुद्ध हैं, उनकी आत्मा में किसी परद्रव्य का संयोग नहीं, न वहाँ ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं, न रागादि भावकर्म हैं, न शरीरादि नोकर्म हैं, शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल है। ज्ञाता दृष्टा स्वभाव से है तथापि प्रशंसा किये जाने पर प्रसन्न नहीं होता है। निन्दा किये जाने पर क्रोधित नहीं होता है। वह सदा निर्विकार रहता है। उनमें हर्ष विषाद नहीं होता है।

यद्यपि वे परमात्मा स्तुति करनेवाले पर प्रसन्न या रागी नहीं होते हैं, तथापि भक्तों का परिणाम उनकी स्तुति के निमित्त से निर्मल या शुभ हो जाता है तब जितने अंश भावों में वीतरागता होती है उतने अंश में कर्म का क्षय होता है। जितने अंश में शुभराग होता है उतने अंश पुण्य का बंध होता है। निन्दा करनेवालों के भाव बिगड़ते हैं, उससे वे निन्दक पाप का बंध करते हैं।

परमात्मा परम वीतराग रहते हैं। वे कोई भी अशुद्ध भावों के कर्ता नहीं हैं। उनमें शुद्ध परिणमन है। वे शुद्ध आत्मीकभावों के ही कर्ता है। जैसे निर्मल क्षीर समुद्र में निर्मल ही तरंगे उठती हैं, वैसे ही शुद्धात्मा में सर्व परिणमन या वर्तन शुद्ध ही होता है। वे परमात्मा सांसारिक सुख या दुःख के भोगनेवाले नहीं है। वे केवल अपने ही अतीन्द्रिय परमानन्द के निरन्तर भोगने वाले नहीं है। परमात्मा सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध इन चार मुख्य प्राणों से सदा जीते रहते हैं। परमात्मा में केवलदर्शन व केवलज्ञान उपयोग एक ही साथ अपने आपको ही देख रहा है। अपने आपको ही जान रहा है।

परमात्मा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से रहित अमूर्तिक हैं, तो भी ज्ञानमयी पुरुषाकार पद्मासन या कायोत्सर्ग आदि आसन से रहते हुए असंख्यात प्रदेश हैं। वे परमात्मा परम आदर्श हैं। हर एक आत्मा भी निश्चय से परमात्मा है ऐसा जानकर वीतरागमय या समभाव में होकर स्वानुभव का अभ्यास करना योग्य है। यही उपाय परमात्मा के पद के लाभ का है।

श्री समाधिशतक में कहा है :-

निर्मलः केवलः सिद्धो विविक्तः प्रभुरक्षयः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥

भावार्थ- परमात्मा कर्ममल रहितनिर्मल है, एक अकेले हैं इससे केवल हैं, वही सिद्ध हैं, वही सर्व अन्य द्रव्यों की व अन्य आत्माओं की सत्ता से निराले विविक्त हैं। वही अनन्त वीर्यवान होने से प्रभु हैं, वही सदा अविनाशी हैं, परम परमपद में रहने से परमेष्ठी हैं। वही उत्कृष्ट होने से परात्मा हैं, वही परमात्मा हैं, वही सर्व इन्द्रादि से पूज्य ईश्वर हैं, वही रागादि विजयी जिन भगवान है।

दोहा १०६

परमात्मादेव अपने देह में भी है

एक हि लक्खण-लक्खियउ जो परू णिक्कलु देउ।
देहहँ मज्झहिं सो वसइ तासु ण विज्जइ भेउ ।।

अन्वयार्थ- **(एक हि लक्खण-लक्खियउ जो परू णिक्कलु देउ)** इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणों से लक्षित जो परमात्मा निरंजन देव है **(देहहँ मज्झहिं सो वसइ)** तथा जो अपने शरीर के भीतर बसने वाला आत्मा है **(तासु भेउ ण विज्जइ)** उन दोनों में कोई भेद नहीं है।

भावार्थ- अपने शरीर में व प्राणीमात्र के शरीर में आत्मा द्रव्यशरीर भर में व्यापकर तिष्ठा हुआ है। उस आत्मद्रव्य का लक्षण सिद्ध परमात्मा के समान है। व्यवहार दृष्टि से या कर्मबन्ध की दृष्टि से सिद्धात्मा में और संसारी आत्मा में स्वरूप की प्रगटता व अप्रगटता के कारण भेद भी हैं। संसारी आत्माएँ कार्मण व तैजस शरीर को प्रवाह की अपेक्षा अनादि से साथ में रख रही हैं। आठों कर्म के विचित्र भेदों के उदय से या विपाकरस से आत्माओं के विकास में बहुत भेद दिख रहे हैं, उन भेदों को संग्रह करके विचारें तो १९ (उन्नीस) जीवसमास नीचे प्रकार होगें :-

(1) पृथ्वीकायिक सूक्ष्म, (2) पृथ्वीकायिक बादर, (3) जलकायिक, (4) जलकायिक बादर, (5) अग्निकायिक सूक्ष्म, (6) अग्निकायिक बादर, (7) वायुकायिक सूक्ष्म, (8) वायुकायिक बादर, (9) नित्य निगोद साधारण वनस्पतिकायिक सूक्ष्म, (10) नित्य निगोद साधारण वनस्पतिकायिक बादर, (11) इतर या चतुर्गति निगोद साधारण वनस्पतिकायिक सूक्ष्म, (12)इतर निगोद साधारण वनस्पतिकायिक बादर, (13) प्रत्येक वनस्पतिकायिक सप्रतिष्ठित (14) प्रत्येक वनस्पतिकायिक अप्रतिष्ठित (निगोद रहित), (15)द्वेन्द्रिय, (16) तेन्द्रिय, (17) चतुरिंद्रिय, (18) पंचेन्द्रिय असैनी, (19) पंचेन्द्रिय सैनी।

हर एक में पर्याप्त तथा अपर्याप्त भेद हैं, इसकारण ३८ (अड़तीस) भेद हो जायेंगे। अपर्याप्त

के भी लब्ध्यपर्याप्त व निर्वृत्यपर्याप्त के भेद से ५७ (सत्तावन) जीव समाप्त हो जायेंगे।

सैनी पंचेन्द्रिय में नारकी, देव, मनुष्यों के अनेक भेद हैं व पशुओं में जलचर, थलचर व नभचर हैं। कर्मों के उदय के कारण संसारी जीवों के भीतर ज्ञान, दर्शन व वीर्य गुण की प्रगटता कम व अधिक है व क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति या लेश्या मूल में छः भेदरूप हैं तो भी हरएक के भीतर मन्द, मन्दतर, तीव्र, तीव्रतर शक्ति की अपेक्षा अनेक भेद हैं। कृष्ण, नील, कापोत, लेश्या के परिणाम अशुभ कहलातें हैं, क्योंकि इन भावों के होते हुए जीव पापकर्मों को ही बाँधते हैं। पीत, पद्म, शुक्ल लेश्या के परिणाम शुभ कहलाते हैं, क्योकि इन भावों से घातीय कर्मों का मन्द बंध पड़ता है व अघातीय कर्मों में केवल पुण्य का ही बन्ध पड़ता है। इस तरह अन्तरंग भावों में व बाहरी शरीर की चेष्टा में विशेष विशेष भेद कर्मों के उदय से ही हो रहे हैं।

इस कारण संसारी जीव विचित्र दिखते हैं। रागी जीव इन जीवों को देखकर जिनसे कुछ इन्द्रिय विषय के साधन में मदद मिलती हैं उनसे प्रीति व जिनसे बाधा पहुँचती दिखती है उनसे द्वेष कर लेते हैं। उसी से कर्मबन्ध करते हैं व उन कर्मों का फल भोगते हैं। इस दृष्टि से देखते हुए वीतरागी को बन्ध नहीं होता है।

समभाव ही मोक्ष का उपाय है, इस भाव के लाने के लिए साधक को व्यवहार दृष्टि से भेद हैं- ऐसा जानते हुए भी, ऐसा धारणा में रखते हुए भी इस दृष्टि का विचार बन्द करके निश्चय दृष्टि से अपने आत्मा को व सर्व संसारी आत्माओं को देखना चाहिए। तब अपना आत्मा व सर्व संसारी आत्माएँ एक समान शुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार, पूर्ण ज्ञान, दर्शन, वीर्य व आनन्दमय, अमूर्तिक, असंख्यात, प्रदेशी, ज्ञानाकार दिख पड़ेगें। तब सिद्धों में व संसारी आत्माओं में कोई भेद नहीं दिख पड़ेगा।

समभाव को लाने के लिए ध्याता को निश्चयनय से देखकर रागद्वेष को दूर कर देना वाहिए फिर केवल अपने ही आत्मा को शुद्ध देखना चाहिए। उसे ही परम देव मानना चाहिए। आप ही निरञ्जन है, परमात्मा देव है ऐसा भाव लाकर उसी भाव में उपयोग को स्थिर करना चाहिए। जब भावना के प्रताप से यकायक स्वानुभव हो जायेगा, मोक्षमार्ग प्रगट हो जायेगा। वीतराग भाव ही परमानन्द देनेवाला है व निर्जरा का कारण है।

श्री समाधिशतक में कहा हैं :-

परत्राहम्मति स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम् ।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ।।
दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिंगमवबुध्यते ।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ।।

भावार्थ- जो कोई अपने शुद्धस्वरूप के अनुभव से छूट कर परभावों में आत्मापने की बुद्धि करता है, अपने में कषाय जगा लेता है, वह अवश्य कर्म बंध करता है। परन्तु जो पर रागादि भावों से छूटकर अपने ही शुद्धस्वरूप में आत्मापने की भावना करता है, वह ज्ञानी कर्मों से मुक्त होता है। मूर्ख बहिरात्मा इस दिखनेवाले जगत के प्राणियों को तीन लिंगरूप स्त्री, पुरुष, नपुंसक देखता है; परन्तु ज्ञानी इस जगत का निश्चय से एक समान शब्द रहित व निश्चय ज्ञाता है। उसे सर्व जीव एक समान शुद्ध दिखते हैं।

दोहा १०७

आत्मा का दर्शन ही सिद्ध होने का उपाय है

जे सिद्धा जे सिज्झिहिहिं जे सिज्झहि जिण-उत्तु ।
अप्पा-दंसणि ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु ।।

अन्वयार्थ- **(जिण उत्तु)** श्री जिनेन्द्र ने कहा है **(जे सिद्धा)** जो सिद्ध हो चुके हैं **(जे सिज्झिहिहिं)** जो सिद्ध होंगे **(जे सिज्झहि)** जो सिद्ध हो रहे हैं **(ते वि फुडु अप्पा दंसणि)** वे सब प्रगटपने आत्मा के दर्शन से हैं **(एहउ णिभंतु जाणि)** इस बात को सन्देह रहित जानो।

भावार्थ- ग्रन्थकार ने ऊपर कथित गाथाओं में सिद्ध कर दिया है कि मोक्ष का उपाय केवल मात्र अपने ही आत्मा का अनुभव है। मोक्ष आत्मा का पूर्ण स्वभाव है। मोक्षमार्ग उसी स्वभाव की श्रद्धा व ज्ञान द्वारा अनुभव है। अपना ही आत्मा साध्य है, अपना ही आत्मा साधक है। उपादान कारण ही कार्य रूप हो जाता है। पूर्वपर्याय कारण है, उत्तरपर्याय कार्य है।

सुवर्ण आप ही धीरे-धीरे शुद्ध होता है। जैसा-जैसा अग्नि का ताप लगता है व मैल कटता है वैस वैसे सोना चमकता जाता है। उसकी चमक धीरे-धीरे बढ़ ही आती है। सोना आप से ही कुन्दन बन जाता है। इसी तरह यह आत्मा मन, वचन, काय की क्रिया को बुद्धिपूर्वक निरोध

करता है और अपने उपयोग को पाँचों इन्द्रियों के विषयों से तथा मन के विकल्पों से हटाकर अपने ही आत्मा में तन्मय करता है, आत्मस्थ हो जाता है।

इस दशा को आत्मा का दर्शन या आत्मा का साक्षात्कार कहते हैं। यही ध्यान की अग्नि है, इसी के जलने पर जितनी-जितनी वीतरागता बढ़ती है, कर्मों का मैल कटता है, आत्मा के गुणों का विकास होता है। धीरे-धीरे आत्मा का भाव शुद्ध होते-होते परम वीतराग हो जाता है। तब केवलज्ञानी अरहंत या सिद्ध कहलाता है।

आत्मा का दर्शन या आत्मानुभव ही एक सीधी सड़क है जो मोक्ष के सिद्ध प्रासाद तक गई है। दूसरी कोई गली नहीं है जिस पर चलकर पहुंच सके। सिद्धपद न तो किसी की भक्ति से मिल सकता है, न बाहरी तप व जप व चारित्र से मिल सकता है। वह तो केवल अपने ही आत्मा के यथार्थ अनुभव से ही प्राप्त हो सकता है।

साधक को श्रीगुरु से तथा जिनवाणी सेआत्मा का स्वरूप ठीक ठीक जानना चाहिए कि यह स्वतन्त्र द्रव्य है, सत् है, द्रव्यापेक्षा नित्य है, समय-समय परिणमनशील होने से अनित्य है, इसलिए हर समय उत्पाद व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है या गुण पर्यायमय है। गुण सदा द्रव्य के साथ रहते हैं। द्रव्य गुणों का समुदाय ही है। गुणों में जो परिणमन होता है उसे ही पर्याय कहते हैं।

आत्मा पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्रादि शुद्ध गुणों का सागर है, परम निराकुल है, परम वीतराग है, आठों कर्म, रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्म से भिन्न है, शुद्ध चैतन्य ज्योतिर्मय है। परभावों का न तो कर्ता है न परभावों का भोक्ता है। यह सदा स्वभाव के रमण में रहनेवाली स्वानुभूति मात्र है। इस तरह अपने आत्मा के शुद्धस्वभाव की प्रतीति करके साधक इसी ज्ञान का मनन करता है।

यद्यपि आप अशुद्ध है तो भी भेद विज्ञान के द्वारा अपने को कर्दम रहित जल के समान शुद्ध मानकर बार-बार विचार करता है। इस आत्ममनन के प्रताप से कभी यह जीव समय-समय अनन्त गुणी बढ़ती हुई विशुद्धता को एक अन्तर्मुहूर्त के लिये पाता है।

ऐसे परिणामों की प्राप्ति को करणलब्धि कहते हैं। तब यकायक अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोह का विकार दूर होता है और यह जीव अविरत सम्यक्त्वी या साथ में अप्रत्याख्यान कषाय का विकार भी हटने से एकदम देशविरती श्रावक या प्रत्याख्यान कषाय का भी विकार हटने से एकदम अप्रमत्त विरत साधु हो जाता है।

चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में आत्मा का अनुभव प्रारंभ हो जाता है वह दोज के चन्द्रमा के समान होता है। उसी आत्मानुभव के सतत् अभ्यास से पात्र के गुणस्थान के योग्य आत्मानुभव निर्मल हो जाता है। इस तरह गुणस्थानों के प्रति जैसे जैसे चढ़ता है आत्मानुभव की शुद्धता व स्थिरता अधिक अधिक पाता जाता है।

आत्मानुभव को ही धर्मध्यान कहते हैं। उसी को ही कषायमल के अधिक दूर होने से शुक्ल ध्यान कहते हैं। इसी से चार घातीय कर्म क्षय होते हैं तब आत्मा अरहंत परमात्मा हो जाता है। शेष चार अघातीय कर्मों के दूर होने पर वही सिद्ध हो जाता है। भूत, भावी, वर्तमान तीनों ही कालों में सिद्ध होने का एक ही मार्ग है।

अपने आत्मा का जो कोई यथार्थ अनुभव करेगा वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता रूप मोक्षमार्ग का साधन करेगा। यह मोक्षमार्ग वर्तमान में भी साधक को आनन्ददाता है व भविष्य में अनन्त सुख का कारण है। मुमुक्षु को उचित है कि वह व्यवहार धर्म के बाहरी आलम्बन से निश्चय धर्म का या आत्मानुभव का अभ्यास करे। यही कर्तव्य है, यही इस ग्रन्थ का सार है।

श्री समयसार कलशमें कहा है :-

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते

भावार्थ- जो कोई अशुद्धता के करनेवाले सर्व ही परद्रव्य का राग स्वयं त्यागकर व सर्व परभाव में रतिरूप अपराध से मुक्त होकर अपने ही आत्मीक द्रव्य में रति, प्रीति, आसक्ति व एकाग्रता करता है वह अपने उछलते हुए आत्मा के प्रकाश में रहकर कर्मबन्धन का क्षय करके चैतन्यरूपी अमृत से पूर्ण व शुद्ध होकर मोक्षरूप या सिद्ध हो जाता है।

दोहा १०८

ग्रन्थकर्ता की अन्तिम भावना

संसारह भय-भीयएण जोगिचन्द मुणिएण।
अप्पा-संबोहण कया दोहा इक्क-मणेण ।।

अन्वयार्थ- (**संसारह भय- भीयएण**) संसार के भ्रमण से भयभीत (**जोगिचंद-मुणिएण**) योगिचन्द्राचार्य मुनि ने (**अप्पासंवोहण**) आत्मा को समझाने के लिए (**इक्क-मणेण**) एकाग्र चित्त से (**दोहा कया**) इन दोहों की रचना की है।

भावार्थ- ग्रन्थकर्ता योगिचन्द्राचार्य ने प्रगट किया है कि उन्होने अपने ही कल्याण के निमित्त इन गाथा दोहों की रचना की है। वे कहते हैं कि मुझे संसार-भ्रमण का भय है। संसार मे आत्मा का अनेक प्राणों को धारणकर बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं, परम निराकुल सुख का लाभ नहीं होता है।

जहाँ तक आठ कर्मों का संयोग है वहाँ तक ही संसार है। कर्मों के उदय के आधीन होने से अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन प्रगट नहीं होता है न अनन्तवीर्य ही झलकता है। मिथ्यात्व का गहलपना रहता है, जिससे प्राणी अपने आत्मीक अतीन्द्रिय सुख को नहीं पहचानता रहता है, जिससे प्राणी अपने आत्मीक अतीन्द्रिय सुख को नहीं पहचानता है, इन्द्रिय सुख का ही लोभी बना रहता है। इष्ट सामग्री मिलने की तृष्णा में फँसा रहता है। महान लोभ हो जाता है। इष्ट वस्तु के मिलने पर मान करता है। इष्ट वस्तु के लिये मायाचार करता है। जो कोई उसके लाभ में जो बाधा करे उस पर क्रोध करता है।

मोहनीय कर्म के उदय से नाना प्रकार के औपाधिक भावों में निरन्तर रँगा रहता है, इसी कारण नए कर्मों का बन्ध करता है। चार घातीय कर्मों का जब तक क्षय न हो आत्मा परमात्मा नहीं हो सकता है। आयुकर्म के उदयवश स्थूल शरीर में रुकना पड़ता है। नामकर्म के उदय से शरीर की रचना शुभ या अशुभ होती है। गोत्रकर्म के उदय से निन्दनीय या आदरणीय कुल में जन्मता है। वेदनीय कर्म के उदय से साताकारी या असाताकारी सामग्री या निमित्त मिलता है। चार अघातीय कर्म के कारण बाहरी पिंजरे में कैद रहता है।

चारों ही गतियों में जीव सांसारिक आकुलता भोगता है। जिस इन्द्रिय सुख को संसार के अज्ञानी प्राणी सुख कहते हैं उसी को ज्ञानी जीव दुःख मानते हैं, क्योंकि जब तक विषयभोग करने की आकुलता नहीं होती है तब तक कोई विषयभोग में नहीं पड़ता है। चाह की दाह का उठना एक तरह का रोग है। विषयभोग करना इस रोग के शमन का उपाय नहीं होकर तृष्णा के रोग की वृद्धि का ही उपाय है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा भी विषयभोगों के भोग से तृप्त नहीं हुए। इन्द्रियों के भोग पराधीन है, बाधासहित हैं, नाशवन्त हैं व कर्मबन्ध के कारण हैं व समभाव के नाशक हैं।

संसार में दुःख घना है, इन्द्रिय सुख का लाभ थोड़ा है। तो भी इस सुख से सन्तोष नहीं होता है। आत्मा स्वभाव से परमात्मा रूप है, ज्ञानानन्द का सागर है, परम निराकुल है, परम वीतराग है, ऐसा होकर भी आठ कर्मों की संगति से इसको महान दीन दुखों व तुच्छ होना पड़ता है। जिसकी संगति से अपना स्वभाव बिगड़े दुर्गति प्राप्त हो, जन्म मरण के कष्ट हों, उनकी संगति त्यागने योग्य है। इन कर्मों के बंध का कारण राग द्वेष मोह है। इसलिए राग द्वेष मोह ही संसार के भ्रमण का बीज है।

इसलिए आचार्य प्रगट करते हैं कि मुझे संसार से भय है अर्थात् मैं राग द्वेष मोह के विकार से भयभीत हूँ, मैं इनमें पड़ना नहीं चाहता हूँ, तथा नए कर्मों का संवर होने के लिए व पुरातन कर्म की निर्जरा होने के लिए आचार्य ने अपने आत्मा को ही वीतरागभाव में लाने के लिए आत्मा के सार तत्त्व की भावना की है। प्रगट किया है कि यह आत्मा निश्चय से संसारी नहीं है, यह तो स्वयं परम शुद्ध परमात्मा देव। इसी का ही बार बार अनुभव करना चाहिए। इसी में रमण करना चाहिए।

आत्मीक आनन्द का ही स्वाद लेना चाहिए। निराकुल अतीन्द्रिय सुख को भोगना चाहिए। आत्मा का दर्शन करना चाहिए। इस ग्रन्थ के भीतर आचार्य ने इसी शुद्ध आत्मा की भावना कर अपने आत्मा का हित किया है। अध्यात्मतत्त्व का विवेचन परम हितकारी है, आत्मीक भावना का हेतु है।

यद्यपि ग्रन्थकर्ता ने अपने ही उपकार के लिए ग्रन्थ की रचना की है, तथापि शब्दों में भावों की स्थापना करने से व उनको लिपिबद्ध करने से पाठको का भी परम उपकार किया है। इस ग्रन्थ को इसी भाव से पढ़ना व मनन करना चाहिए कि हमारा संसार नाश हो अर्थात् संसार का कारण कर्म व कर्मबन्ध के कारण रागद्वेषमोह भावों का नाश हो व मोक्ष के कारण स्वानुभव का लाभ हो परमात्मतत्त्व की ही भावना रहे। आत्मा का ही आराधन रहे। समभाव में ही प्रवृत्ति रहे। शांतरस की ही धारा बहे। उसी धारा के भीतर मगनता रहे। आनन्दामृत का ही पान रहे, सिद्ध सुख का ही उद्देश्य रहे, शिवालय के भीतर प्रवेश करने की भावना रहे।

यही भावना अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में की है :-

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा -
दविरतमनुभाव्य व्याप्तिकल्माषितायाः ।

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते,
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

भावार्थ- आचार्य कहते हैं कि निश्चय से मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति का धारी हूँ, परन्तु अनादिकाल से मेरी अनुभूति विभाव परिणामों की उत्पत्ति के कारण मोहकर्म के उदय के प्रभाव से राग द्वेष से निरन्तर मैली हो रही है। मैं इस समयसार ग्रन्थ का व्याख्यान करके यही याचना करता हूँ कि यही मेरी अनुभूति परम शुद्ध हो जावे, वीतरागी हो जावे, परम शांतरस से व्याप्त हो जावे, समभाव में तन्मयता हो जावे, संसारमार्ग से मोक्षमार्गी हो जावे।

मंगलमय अरहन्त को, मंगल सिद्ध महान।
आचारज पाठक यती, नमहुँ नमहुँ सुख दान॥
परम भाव परकाश का, कारण आत्मविचार।
जिस निमित्त से होय सो, वंदनीक हरबार॥

टीकाकार की प्रशस्ति

युक्त प्रान्त में शुभ नगर, नाम लखनऊ जान।
अग्रवाल वंशज वसें, मंगलसेन महान॥१॥
जिनवाणी ज्ञाता सुधी, समयसार रस पान।
करत करावत अन्य को, करत भव्य कल्याण॥२॥
तिन सुत मक्खनलाल जी, गृही कार्य लवलीन।
तिन सुत वर हैं वृद्ध अब, सन्तलाल दुख हीन॥३॥
तृतीय पुत्र हूँ नाम है, 'सीतल' धर्म प्रसाद।
विक्रम उन्निस पैंतिसे, जन्म भयो दुख बाद॥४॥
बत्तिस वय अनुमान में, गृह त्यागा बृष काज।
श्रावक चर्या पालते, भ्रमण करत पर काज॥५॥
वायु कम्प के रोग से, पीड़ित चित्त उदास।
तदपि आत्मरस पान का, मन में हो उल्लास॥६॥

योगसार इस ग्रन्थ का, भाव लिखन के काज ।
प्रतिदिन दोहा एक को, नियम किया हित साज ।।७।।
शतर एक अर आठ दिन, पूर्ण भये सुखदाय ।
मुम्बई क्षेत्र अगास में, नगर बड़ौदा पाय ।।८।।
तीन जगह के वास में, करो सफल यह काम ।
मुम्बई नगर विशाल में, पूर्ण किया अभिराम ।।९।।
अषाढ़ कृष्णा बारसी, मंगल दिवस महान ।
सम्वत् उन्निस छ्यानवे, किया पूर्ण लिखान ।।१०।।
उन्निस उन्चालीस में, जून त्रयोदश जान ।
भजन करत परमात्म का, मंगल पढ़ा महान ।।११।।
मंगल श्री जिनराज हैं, मंगल सिद्ध महान ।
साधु सदा मंगल मई, करहु पाप की हान ।।१२।।

आतमरूप अनुपम अद्भुत.....

आतमरूप अनुपम अद्भुत, याहि लखैं भवसिन्धु तरो ।
अल्पकाल में भरत चक्रधर, निज आतम को ध्याय खरो ।।
केवलज्ञान पाय भवि बोधे, ततछिन पायो लोकशिरो ।।१ ।।
या बिनु समझै द्रव्यलिंगी मुनि, उग्र तपन कर भार भरो ।
नवग्रीवक पर्यन्त जाय चिर, फेर भवार्णव मांहि परो ।। २ ।।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन तप येहि, जगत में सार नरो ।
पूरव शिव को गये जांहि अब, फिर जैहें यह नियत करौ ।। ३ ।।
कोटि ग्रन्थ को सार यही है, ये ही जिनवाणी उचरो ।
'दौल' ध्याय अपने आतम को, मुक्तिरमा तब वेगवरों ।। ४ ।।

योगसार दोहा सूची

क्र.	दोहा	दोहा क्रमांक	क्र.	दोहा	दोहा क्रमांक
(1)	अप्पा अप्पउ जह मुणहि	१२	(29)	जइ णिम्मलु अप्पा मुणहि	३७
(2)	अह पुणु अप्पा ण वि	१५	(30)	जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि	८७
(3)	अप्पा दंसण इक्क परू	१६	(31)	जइया मणु णिग्गंधु जिय	७३
(4)	अप्पा अप्पइ जो मुणइ	३४	(32)	जह लोहमिय णियउ बुह	७२
(5)	आउ गलइ णवि मणु गलइ	४९	(33)	जह सलिलेण ण लिम्पयइ	९२
(6)	असरीरू वि सुसरीरू मुणि	६१	(34)	जहि अप्पा तहिं सयल गुण	८५
(7)	अप्पइं अप्प मुणंतयहँ	६२	(35)	जं वडमज्झहं बीउ फुडु	७४
(8)	अप्पा दंसणु णाणु मुणि	८१	(36)	जाम ण भावहु जीव	२७
(9)	अप्प सरूवहँ जो रमहि	८९	(37)	जिण सुमरहु जिणचिंतवहु	१९
(10)	अजरू अमरू गुण गण णिलउ	९१	(38)	जीवाजीवहं भेउ जो	३८
(11)	अरहंतु वि सो सिद्धु फुडु	१०४	(39)	जेहउ मणु विसयहं रमइ	५०
(12)	इक्क उपज्जइ मरइ कु वि	६९	(40)	जे परभाव चएवि मुणि	६३
(13)	इंद फणिंद णरिंदय वि	६८	(41)	जेहउ जज्जरू, णरय धरू	५१
(14)	इच्छा रहिउ तव करहि	१३	(42)	जे णवि मण्णहि जीव फुडु	५६
(15)	इहु परियण ण हु मुहुतणउ	६७	(43)	जेहउ सुद्ध अयासु जिय	५९
(16)	एक्कलउ इन्दिय मण वय	८६	(44)	जे सिद्धा जे सिज्झिहिहिं	१०७
(17)	एक्कुलउ जइ जाइसिहि	७०	(45)	जे परमप्पा सो जि	२२
(18)	एकहि लक्खण लक्खियउ	१०६	(46)	जो पाउ वि सो पाउ मुणि	७१
(19)	काल अणाइ अणाइ जिउ	४	(47)	जो तइ लोयहं झेउ जिणु	२८
(20)	केवलणाण सहाउ सो	३९	(48)	जो जिणु सो अप्पा	२१
(21)	को सुसमाहि करउ को अंचउ	४०	(49)	जो णिम्मल अप्पा मुणइ	३०
(22)	गिरिवावार परिट्ठिया	१८	(50)	जो जिण सो हउँ सो निज	७५
(23)	घाइ चउक्कहँ किउ विलउ	२	(51)	जो परयाणइ अप्प.. परभाव चएइ	८
(24)	चउरासिलक्खइ फिरिउ	२५	(52)	जो परयाणइ अप्प..चयइ णिभंतु	८२
(25)	चउ कषाय सण्ण रहिउ	७९	(53)	जो सम्मत्त पहाण बुहु	९०
(26)	छह दव्वह जे जिण कहिया	३५	(54)	जो समसुक्खु णिलीणु बुहु	९३
(27)	जइ वीहउ चउगइगमणु	५	(55)	जो अप्पा सुद्धु वि मुणइ	९५
(28)	जइ जर मरण करालियउ	४६	(56)	जो णवि जाणइ अप्पु परू	९६

योगसार दोहा सूची

क्र.	दोहा	दोहा क्रमांक
(57)	जो पिंडत्थु बुह रूबत्थु	९८
(58)	ताम कुतित्थिइँ परिभमइ	४१
(59)	तित्थइ देउलि देउ जिणु	४५
(60)	तित्थहि देवलि देउ णवि	४२
(61)	तिप्पयारो अप्पा मुणहि	६
(62)	तिहिं रहियउ तिहिंगुण सहिउ	७८
(63)	देहादिउ जे पर कहिया.... होहिं	११
(64)	देहादिउ जे पर कहिया.... मुणेइ	१०
(65)	देहा दवलि देउ जिण	४३
(66)	देहादिउ जे परू मुणइ	५८
(67)	दंसणु जं पिच्छियइ बुह	८४
(68)	धंधइ पडियउ सयलजगि	५२
(69)	धम्मु ण पढियहं होइ	४७
(70)	धण्णा ते भवयंत बुहु जे	६४
(71)	परिणामे बंधुजि कहिउ	१४
(72)	पुग्गलु अण्णु जि अण्णु जिउ	५५
(73)	पुरिसायार पमाणु	९४
(74)	पुण्णिं पावइ सग्ग जिउ	३२
(75)	बे ते चउ पंच वि णवहं	७६
(76)	बे पंचहं रहियउ मुणहि	८०
(77)	बे छंडवि वे गुण सहिउ	७७
(78)	मग्गण गुण ठाणइ कहिया	१७
(79)	मणु इंदिहि वि छोडियइ	५४
(80)	मिच्छादिउ जो परिहरणु	१०२
(81)	मिच्छादंसण मोहियउ	७
(82)	मूढा देवलि देउ णवि	४४
(83)	रयण दीउ दिणयर दहिउ	५७
(84)	रयणत्तय संजुत्त जिउ	८३
(85)	राय रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि	४८
(86)	राय रोस बे परिहरिवि जो समभाउ	१००
(87)	वउ तव संजम शीलु जिय	३३
(88)	वय तव संजम मूलगुण	२९
(89)	वय तव संजम शीलु जिय	३१
(90)	वज्जिय सयल वियप्पइ	९७
(91)	विरला जाणहि तत्तु जिय	६६
(92)	संसारहँ भयभीयाहं	३
(93)	सुद्धप्पा अरु जिणवरहं	२०
(94)	सुद्धपएसह पूरियउ	२३
(95)	सुद्धु सच्चेयणु बुद्धु	२६
(96)	सव्व अचेयण जाणि जिय	३६
(97)	सत्थ पढंतह ते वि जड	५३
(98)	सागारू विणागारू कु वि	६५
(99)	सम्माइट्ठी जीवडहं दुग्गइ	८८
(100)	सव्वे जीवा णाणमया	९९
(101)	सुहमहं लोहहं जो विलउ	१०३
(102)	सो सिउ संकरू विण्हू सो	१०५
(103)	संसारह भय भीयएण	१०८
(104)	हिंसादिउ परिहारू करि	१०१
(105)	णिम्मल झाणपरिट्ठिया	१
(106)	णिम्मलु णिक्कलु सुद्धजिणु	९
(107)	णिच्छइ लोयपमाण मुणि	२४
(108)	णासग्गि अब्भितरहँ जे	६०

टीकाकार द्वारा संदर्भित ग्रन्थ सूची

क्र. ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार
1. अमृताशीति	योगीन्दुदेव
2. आत्मानुशासन	गुणभद्राचार्य
3. आप्तस्वरूप	-
4. इष्टोपदेश	पूज्यपाद आचार्य
5. गोम्मटसार जीवकांड	नेमिचंद्राचार्य
6. तत्त्वार्थसार	अमृतचन्द्राचार्य
7. तत्त्वानुशासन	नागसेन मुनि
8. तत्त्वसार	देवसेनाचार्य
9. दंसणपाहुड़	कुन्दकुन्दाचार्य
10. द्रव्यसंग्रह	नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव
11. धम्मरसायण	पद्मनंदि आचार्य
12. परमात्म प्रकाश	योगीन्दुदेव
13. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय	अमृतचन्द्राचार्य
14. प्रवचनसार	कुन्दकुन्दाचार्य
15. बृहद् सामायक पाठ	अमित गति आचार्य
16. भावपाहुड़	कुन्दकुन्दाचार्य
17. महापुराण	जिनसेनाचार्य
18. मोक्षपाहुड़	कुन्दकुन्दाचार्य
19. रत्नकरण्डश्रावकाचार	समन्तभद्राचार्य
20. समयसार	कुन्दकुन्दाचार्य
21. समयसार कलश	अमृतचन्द्राचार्य
22. समाधिशतक्	पूज्यपाद आचार्य
23. समवशरण स्तोत्र	विष्णुसेन मुनि
24. सर्वार्थसिद्धि	पूज्यपाद आचार्य
25. स्वम्भूस्तोत्र	समन्तभद्राचार्य
26. सारसमुच्चय	कुलभद्राचार्य
27. सागार धर्मामृत	पं. आशाधर जी